गुरु
श्री रमण महर्षि

प्र०: *सत्य क्या है?*

उ०: सत्य हमेशा रहता है। वह नामरूपरहित है, फिर भी नामरूप का आधार है। स्वयं अनन्त होते हुए भी वह सब सीमाओं का आश्रय है। वह बद्ध नहीं है, और स्वयं सत्य होते हुए, सब मिथ्या पदार्थों का आधार है। सत्य वह है जो है। वह जैसा है वैसा ही है। वह वाणी से पर है। वह सत्, असत् इत्यादि शब्दों से व्यक्त होने वाले ख्यालों से पर हैं। [१]

आत्मा वह सत्य है, जो पदार्थ विषयक ज्ञान के साथ अज्ञान के नष्ट होने पर शेष रहने वाली चेतना स्वरूप है। उस ब्रह्मस्वरूप आत्मचैतन्य में अज्ञान नहीं है, अर्थात् पूर्ण ज्ञान स्वरूप ब्रह्म की सत्ता में अज्ञान अंधकार लेशमात्र नहीं है।

वह अशरीर, शोकरहित सत्ता जो जगत् के रहने पर ही नहीं, बल्कि उसके अभाव के समय में भी निरंतर प्रकाशित होती रहती है, वह तुम्हारा सच्चा आत्मस्वरूप है।

जो अंदर, बाहर, चिदानन्द रूप में समानरूप से प्रकाशित होता रहता है, वह परमानंदमय सत्य है। मौन ही उसका स्वरूप है, तथा सब ज्ञानीजन उसी को अखंड ज्ञान की अवस्था कहते हैं।

समझ लो कि ज्ञान ही वैराग्य और विशुद्धि है। ज्ञान ईश्वरसायुज्य है। वह ज्ञान जिसमें आत्मा की कभी भी विस्मृति नहीं है, अमृतत्त्व है। ज्ञान सब कुछ है। [२]

प्र: *यह नित्य चेतना क्या है? कोई इसे कैसे पा सकता तथा विकसित कर सकता है?*

उ: आप वह नित्य चेतना हैं। नित्य चेतना आपका दूसरा नाम है। चूँकि आप ही चैतन्य हो, उसे पाने की तथा विकसित करने की आवश्यकता नहीं है। आपको केवल अनात्म पदार्थविषयक चेतना का त्याग करना है। यदि मनुष्य अनामवस्तुविषयक चेतना का त्याग करें तो केवल शुद्ध चेतना शेष रहती है, और वही आत्मा है। [३]

प्र: *यदि चेतना ही आत्मा है, तो मैं इस समय क्यों उसके विषय में सभान नहीं हूँ?*

उ: द्वैत नहीं है। आपका वर्तमान ज्ञान अहंकार के कारण है, वह सापेक्ष ज्ञान है, जिसमें द्रष्टा एवं दृश्य की आवश्यकता होती है। आत्मा की चेतना पूर्ण है, उसमें ज्ञेयवस्तु या दृश्य की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार स्मृति भी सापेक्ष है, जिसमें स्मरण करने वाले की तथा स्मरण करने योग्य वस्तु की आवश्यकता होती है। लेकिन जहाँ द्वैत नहीं है, तो कौन किसका स्मरण करे? [४]

आत्मा हमेशा विद्यमान है। प्रत्येक व्यक्ति आत्मा को जानना चाहता है। अपने आपको जानने के लिये किस प्रकार की सहायता अपेक्षित है? लोग आत्मा को किसी नवीन पदार्थ की तरह देखना चाहते हैं। किन्तु वह सनातन है और सदैव एक समान रहता है। वे उसे जाज्वल्यमान प्रकाश इत्यादि रूपों में देखना चाहते हैं। ऐसा कैसे हो सकता है? वह न प्रकाश है, न अंधकार। वह जैसा है वैसा है। उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। उसकी सर्वश्रेष्ठ व्याख्या "मैं हूँ वह मैं हूँ" है। श्रुतियाँ कहती हैं कि वह अँगूठे के परिमाण का है, केश के अग्रभाग जितना है, बिजली की क्षणिक चमक जैसा है, बड़े से बड़ा, सूक्ष्म से

सूक्ष्म है, इत्यादि। लेकिन ये सारे वर्णन निराधार हैं। वह सत्य है, लेकिन सत्, असत् से विलक्षण है। वह ज्ञान है, किन्तु ज्ञान तथा अज्ञान से भिन्न है। उसकी व्याख्या हो ही कैसे सकती है? वह केवल शुद्ध सत्ता है। (४)

प्र: *जब मनुष्य आत्मसाक्षात्कार करता है, तो वह क्या देखता है?*

उ: वहाँ कुछ देखना नहीं है। देखना केवल होना है। जिसे हम आत्मसाक्षात्कार कहते हैं, उसमें कुछ नया प्राप्त नहीं करना है, या दूरस्थित ध्येय को प्राप्त नहीं करना है, किन्तु केवल वह होना है जो आप हमेशा हैं, और हमेशा थे। करना सिर्फ इतना है कि असत्य को सत्य मानना छोड़ दिया जाय। हम सब असत्य को सत्य समझ बैठे हैं। हमें केवल इस आदत को छोड़ना है। तब हम आत्मा को आत्मा के रूप में जानेंगे दूसरे शब्दों में "आत्मा बनिये"। एक समय आयेगा जब आप अपने आप पर हँसेंगे कि आप नित्य प्रकट आत्मा को खोजने का प्रयत्न कर रहे थे। इसलिये इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया जाय?

वह भूमिका द्रष्टा-दृश्य से पर है। वहाँ किसी पदार्थ को देखने वाला है ही नहीं। जो इस समय इन सब पदार्थों को देखता है, उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है, तब केवल आत्मा ही शेष रहता है। (६)

प्र: *इसे सीधे अनुभव से कैसे जाना जा सकता है?*

उ: यदि हम आत्मा को जानने की बात का स्वीकार करते हैं, तो अवश्य दो आत्मा होने चाहिये, एक जानने वाला आत्मा तथा दूसरा ज्ञेय आत्मा, एवं जानने की प्रक्रिया का भी स्वीकार करना पड़ेगा। जिसे हम आत्मसाक्षात्कार कहते हैं, उसमें हम जो हैं, वही रहते हैं, इसमें कुछ जानना या बनना नहीं होता है। यदि किसी ने साक्षात्कार किया है, तो वह केवल वही होता है, जिसकी सत्ता है, और हमेशा से है। कोई भी इस अवस्था का वर्णन नहीं कर सकता, सिर्फ हो सकता है। शब्ददरिद्रता के कारण हम शिथिलतापूर्वक आत्मसाक्षात्कार शब्द का प्रयोग अवश्य करते हैं, किन्तु जो हमेशा सत्य है उसे सत्य कैसे बनाया जा सकता है? (७)

प्र: *आप प्राय: कहते हैं कि आत्मा मौन है, ऐसा क्यों?*

उ: जो लोग आत्मा के निर्विकल्प सौन्दर्य में जीते हैं, उनके लिये कुछ भी सोचने योग्य नहीं है। जिसमें दृढ़ निष्ठापूर्वक रहना होता है, वह केवल मौन अनुभव है, क्योंकि उस सर्वोच्च अवस्था में अपने आत्मा से भिन्न किसी प्राप्तव्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है। (८)

प्र: *मौन क्या है?*

उ: मौन वाणी तथा विचार से पर की अवस्था है। (९) जो है वह मौन है। मौन का वर्णन शब्दों में कैसे किया जा सकता है? (१०) ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि वह अवस्था जिसमें अहंकार का उदय कभी भी नहीं होता, वही आत्मा है – स्वरूप है, और वही मौन है। मौन आत्मा ईश्वर है, आत्मा ही जीव है, तथा आत्मा ही यह पुराना जगत् है। दूसरे सारे ज्ञान

तुच्छ एवं क्षुद्र हैं। मौन अनुभव ही सच्चा, पूर्णज्ञान है। समझिये कि वस्तुगत वैविध्य सत्य नहीं है, वह सिर्फ सत्यज्ञानस्वरूप आत्मा पर आरोपित है।[११]

प्र: *चूँकि असंख्य शरीर तथा उन्हें जीवित रखनेवाली असंख्य आत्माएँ भी सर्वत्र विद्यमान हैं, और वस्तुत: दिखता भी ऐसा ही है, तो आत्मा एक ही है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है?*

उ: यदि "मैं शरीर हूँ" यह विचार सत्य माना जाय तो आत्मा असंख्य हैं। लेकिन जिस अवस्था में यह विचार नष्ट होता है, उसे ही आत्मा कहा जाता है, तथा उसमें किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है, इसलिये आत्मा केवल एक ही है, ऐसा कहा जाता है।[१२]

माया से मोहित हुए आत्माभासरूप मन की दृष्टि में ही देह का अस्तित्व है, सच्चे आत्मा की स्वाभाविक दृष्टि में नहीं, इसलिये चिदाकाशरूप आत्मा को देही कहना गलत है।

देह के सिवा जगत् नहीं, मन के सिवा देह नहीं, चेतना के सिवा मन नहीं, और सद्वस्तु के सिवा चेतना का अस्तित्व नहीं है।

जिसने अपने भीतर डूबकर आत्मा को जान लिया है, ऐसे ज्ञानी के लिये आत्मा से भिन्न कोई ज्ञेय नहीं है, क्योंकि जो अहंकार स्वयं को देह से एकरूप समझता है, वह नष्ट हो गया है। इसलिये वह निराकार सत्‌चित् स्वरूप है।[१३]

ज्ञानी जानता है कि वह आत्मा है और आत्मा के सिवा देह या अन्य कोई वस्तु नहीं है। ऐसे ज्ञानी के लिये देह के रहने या न रहने से क्या फर्क पड़ता है?

साक्षात्कार के विषय में बात करना गलत है। किसका साक्षात्कार करना है? जो सत्य है, वह हमेशा वैसा ही रहता है। हम किसी नई चीज को उत्पन्न नहीं करते, न ही कोई नई चीज प्राप्त करते हैं, जो पहले हमारे पास नहीं थी। इस बात को धर्मग्रंथों में दृष्टान्त देकर इस प्रकार समझाया गया है : हम पृथ्वी को खोदकर कुआँ बनाते हुए गड्ढा बनाते हैं। गड्ढे या कुँए के आकाश को हमने उत्पन्न नहीं किया है। हमने सिर्फ उस अवकाश को रोकनेवाली मिट्टी को हटाया है। अवकाश वहाँ तब भी था और अब भी है। इसी प्रकार हमें केवल हममें रहे हुए युगयुगीन संस्कारों को हटाना है। उनके हटने पर केवल आत्मा प्रकाशित होगा।[१४]

प्र: *लेकिन यह कैसे किया जाय, जिससे मुक्ति प्राप्त हो?*

उ: मुक्ति हमारा स्वरूप है। हम वही हैं। मुक्ति-की इच्छा यह सिद्ध करती है कि बंधन से मुक्त रहना हमारा स्वभाव है। उसे नये सिरे से प्राप्त नहीं करना है। जो हमें करना है वह केवल यही कि हम बद्ध हैं, ऐसी गलत धारणा का त्याग करना है। जब हम ऐसा करेंगे तो किसी प्रकार की इच्छा या विचार नहीं रहेंगे। जब तक कोई मुक्ति की इच्छा करता है, तो समझना चाहिये कि वह बद्ध है।[१५]

प्र: *कहा जाता है कि आत्मसाक्षात्कार करने वाला मनुष्य जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का अनुभव नहीं करता। क्या यह सच है?*

उ: आपको किसने कहा कि उसे ये तीन अवस्थाएं नहीं हैं? जब आप यह कहते हैं कि मैं गाढ़ निद्रा में था, तब स्वप्न देखा, और अब मैं जग गया हूँ, तो आपको यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि आप इन तीनों अवस्थाओं में थे। इससे यह सिद्ध होता है कि आप हमेशा रहते हैं। इस समय आप जैसे हैं, वैसे ही रहें, तो आप जाग्रत अवस्था में हैं। लेकिन यह अवस्था स्वप्न में लीन होती है, और स्वप्न अवस्था गहरी नींद में अदृश्य हो जाती है। तब भी आप थे, अब भी आप हैं, अर्थात् आप हमेशा रहते हैं। तीन अवस्थाएं आती-जाती हैं – अनित्य हैं। लेकिन आप हर समय रहते हैं – नित्य हैं। यह चलचित्र के समान है। परदा सदैव रहता है, विभिन्न प्रकार के चित्र परदे पर दिखते हैं और अदृश्य होते हैं। परदे पर कुछ भी चिपकता नहीं, वह परदा ही रहता है। ऐसे ही तीनों अवस्थाओं में आप अपनी आत्मा ही बने रहते हैं। यदि उस आत्मा को आप जानें, तो ये अवस्थाएं आपका कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं, जैसे अपने पर दिखने वाले चित्रों से परदा अलिप्त रहता है। परदे पर आप कभी असंख्य तरंगोंवाले समुद्र को देखते हैं, वह अदृश्य हो जाता है। कभी आप चारों ओर फैलनेवाली आग देखते हैं, वह भी अदृश्य हो जाती है। दोनों के दिखने के समय परदा होता है। क्या वह पानी से गीला होता या आग से जलता है? परदे को किसी ने प्रभावित नहीं किया। इसी तरह जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति में जो भी होता है, उसका आप पर कोई असर नहीं होता। आप सदैव अपनी आत्मा बने रहते हैं।

प्र: *इसका यह अर्थ है कि यद्यपि सबकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति – ये तीनों अवस्थायें होती हैं, लेकिन उनका उनपर कोई असर नहीं होता?*

उ: हाँ, यह बिल्कुल सही है। ये अवस्थायें आती हैं और चली जाती हैं। आत्मा जरा भी चिंतित नहीं होता, उसकी केवल एक अवस्था होती है।

प्र: *अर्थात् मनुष्य इस जगत् में केवल साक्षी है?*

उ: ऐसा ही है। इसी तथ्य को समझाने के लिये विद्यारण्य ने "पंचदशी" के दसवें अध्याय में नाट्यगृह के दीप का उदाहरण दिया है। नाटक शुरू होता है तो वहाँ एक दीप होता है, जो बिना किसी भेदभाव के राजा, सेवक, नर्तक इत्यादि अभिनेताओं को एवं दर्शकों को प्रकाशित करता है। यह दीप नाटक प्रारंभ होने से पहले, नाटक के दौरान, एवं उसके समाप्त होने पर भी जलता रहता है। इसी प्रकार भीतर का प्रकाश – आत्मा – अहंकार को, बुद्धि को, स्मृति को, तथा मन को, स्वयं वृद्धि या क्षय को प्राप्त हुए बिना, प्रकाश देता है। निद्रा में एवं उसके समान मूर्च्छा इत्यादि अवस्थाओं में अहं का अनुभव नहीं होता, तब भी आत्मा निरूपाधिक स्वरूप में अपने आप प्रकाशित होता रहता है। [१६]

वस्तुत: आत्मा साक्षी है यह भी मन का विचार मात्र है, आत्मा का पूर्ण सत्य नहीं है। साक्षी होना साक्ष्य पदार्थों की अपेक्षा रखता है। साक्षी एवं उसके साक्ष्य पदार्थ दोनों मन की कल्पना है। [१७]

प्र: *चेतना की ये तीन अवस्थाएं सत्य के स्तरों की दृष्टि से तुरीयसे कितनी कम मूल्यवाली हैं? इनका तुरीय से क्या संबंध है?*

उ: सत्ता या चेतना की केवल एक अवस्था है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति – ये तीन अवस्थाएँ सच्ची नहीं हैं। वे आती-जाती हैं। सत्य का अस्तित्व हमेशा होता है। वह "अहं" रूप शुद्ध सत्ता जो तीनों अवस्थाओं में रहती है, सत्य है। तीन अवस्थाएँ सत्य नहीं हैं। इसलिये सत्य की दृष्टि से उनकी कितनी मूल्यवत्ता है, यह कहना संभव नहीं है। इस तथ्य को हम मोटे तौर पर इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं : केवल सत्ता या चेतना सत्य है। चेतना तथा जाग्रत को मिलाकर हम जाग्रत कहते हैं, चेतना तथा स्वप्न को जोड़कर हम स्वप्न कहते हैं, एवं चेतना तथा निद्रा को जोड़कर निद्रा कहते हैं। चेतना परदा है, जिस पर सब चित्र आते-जाते हैं। परदा सत्य है। चित्र परदे पर दिखनेवाली छायामात्र है।

दीर्घकालीन आदत के कारण हम इन तीन अवस्थाओं को सत्य मानते हैं, इसलिये चैतन्य की मूल अवस्था को चौथी कहते हैं। वस्तुत: चौथी अवस्था नहीं है, केवल एक ही अवस्था है। [१८]

स्वप्न और जाग्रत में कोई अन्तर नहीं, सिवा इसके कि स्वप्न अल्पकालीन है और जाग्रत दीर्घकालीन। दोनों मन के परिणाम हैं। चूँकि जाग्रत अवस्था लंबी है, हम सोचते हैं कि वह हमारी सच्ची अवस्था है। लेकिन वास्तव में हमारी सच्ची अवस्था तुरीय है, जो हमेशा एक-सी रहती है और जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति के बारे में कुछ नहीं जानती। चूँकि हम इन तीनों को अवस्था कहते हैं, तुरीय को भी अवस्था कहते हैं, किन्तु वह अवस्था नहीं है, आत्मा का सहज स्वरूप है। जब हम इस तथ्य को जान लेते हैं, तब हमें पता चलता है कि वह तुरीय या चौथी अवस्था नहीं है, क्योंकि तीन की अपेक्षा से ही चौथी कहा जाता है, जबकि आत्मा सदा एकरूप है। इसलिये तुरीयातीत अथवा परम स्थिति का ही अस्तित्व है। [१६]

प्र: *लेकिन आत्मा के परदे पर या परम स्थिति में ये तीन अवस्थाएँ क्यों आती-जाती रहती हैं?*

उ: कौन यह प्रश्न पूछता है? क्या आत्मा यह कहता है कि ये तीन अवस्थाएँ आती-जाती हैं? यह तो द्रष्टा है जो कहता है कि ये आती-जाती हैं। द्रष्टा और दृश्य मिलकर मन बनता है। ढूँढिये कि मन जैसी कोई वस्तु है या नहीं। इस प्रकार अन्वेषण करने पर मन आत्मा में लीन हो जाता है, और तब न द्रष्टा रहता है न दृश्य। अत: आपके प्रश्न का सही उत्तर यह है कि वे न आती हैं, न जाती हैं। आत्मा जैसा है वैसा ही सदैव रहता है। अन्वेषण के अभाव के कारण ये तीन अवस्थाएँ अस्तित्व में आती हैं, अत: आत्मानुसंधान से उनका अंत होता है। कोई कितना ही समझाये यह सत्य तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक मनुष्य स्वयं आत्मसाक्षात्कार नहीं कर लेता। एक बार साक्षात्कार हो जाय, तो उसे आश्चर्य होता है कि वह अब तक इस स्वयंसिद्ध तथा केवल सत्ता के प्रति अंध कैसे बना रहा।

प्रः *मन और आत्मा में क्या भेद है?*

उः कोई भेद नहीं। अन्तर्मुख मन आत्मा है, और यही मन बहिर्मुख बनकर अहंकार तथा जगत् बन जाता है। रूई से बने विविध वस्त्र विभिन्न नामों से जाने जाते हैं। सोने से जब विविध अलंकार बनते हैं, तब अनेक नामों से जाने जाते हैं। लेकिन सब वस्त्र रूई है, और सब अलंकार सोना है। सत्य एक है, उसके नाम-रूप अनेक हैं।

लेकिन मन का आत्मा से अलग अस्तित्व नहीं है, अर्थात् उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। मन के बिना आत्मा का अस्तित्व हो सकता है, आत्मा के बिना मन का नहीं।[२०]

प्रः *ब्रह्म सच्चिदानन्द कहा जाता है, उसका क्या अर्थ है?*

उः हाँ, यह ठीक है। जो है वह केवल सत् है, उसे ब्रह्म कहते हैं। सत् की प्रभा चित् है तथा उसका स्वभाव आनन्द है। ये सत् से भिन्न नहीं है। तीनों मिलकर एक सच्चिदानन्द रूप बनता है।[२१]

प्रः *आत्मा सत्ता और चैतन्य है, तो वह सत् असत् से भिन्न, तथा चेतन अचेतन से भिन्न है ऐसा क्यों कहा जाता है?*

उः आत्मा सत्य है, लेकिन चूँकि वह सर्वरूप है, उसकी सत्यता के बारे में द्वैतमूलक प्रश्नों का अवकाश नहीं, अतः उसे सत्, असत् से भिन्न कहा जाता है। इस प्रकार यद्यपि वह चैतन्य है, चूँकि उसके लिये कुछ ज्ञेय नहीं है अथवा वह स्वयं किसी का ज्ञेय नहीं है, उसे चेतन, अचेतन से भिन्न कहा जाता है।[२२]

सच्चिदानन्द कहने से यह लक्षित होता है कि वह परम सत्ता असत् नहीं है, अर्थात् सत् से भिन्न नहीं है, अचित् नहीं है अर्थात् चैतन्य से भिन्न नहीं है। एवं अनानन्द नहीं है अर्थात् आनंद से भिन्न नहीं है। चूँकि हम मायामय प्रातिभासिक जगत् में हैं, हम आत्मा को सच्चिदानन्द कहते हैं।[२३]

प्रः *किस अर्थ में सुख या आनंद हमारा सच्चा स्वरूप है?*

उः पूर्ण आनन्द ब्रह्म है। पूर्ण शान्ति आत्मा है। केवल उसका अस्तित्व है तथा वही चैतन्य है।[२४] जिसे आनन्द कहते हैं, वह आत्मा का स्वभाव है। आत्मा परमानंद से भिन्न नहीं है। जिसे सुख कहा जाता है उसी का अस्तित्व है। इस सत्य को ठीक समझकर एवं आत्मा की सहज अवस्था में रहकर सनातन सुख का अनुभव कीजिये।[२५]

यदि मनुष्य यह सोचता है कि उसका सुख बाह्य कारणों से और पदार्थों के स्वामित्व से उत्पन्न होता है, तो यह निर्णय करना तर्कसंगत होगा कि उन पदार्थों की वृद्धि से उसका सुख बढ़ना चाहिये, और उनके कम होने से घटना चाहिये। इसलिये जब उसके पास कुछ भी न हो, तो उसका सुख पूर्णरूप से समाप्त हो जाना चाहिये। लेकिन मनुष्य का वास्तविक अनुभव क्या है? क्या वह इस निर्णय के अनुरूप है?

गहरी नींद में मनुष्य के पास कुछ नहीं होता, शरीर भी नहीं होता। तब दु:खी होने के बजाय वह पूर्णरूप से सुखी होता है। प्रत्येक मनुष्य गाढ़ निद्रा चाहता है। निष्कर्ष यह

है कि आनंद मनुष्य में ही निहित है और बाह्य कारणों से या उपकरणों से उत्पन्न नहीं होता। अमिश्रित, शुद्ध आनंद के खजाने को खोलने के लिये मनुष्य को आत्मसाक्षात्कार अवश्य करना चाहिये। (२६)

प्र: *श्री भगवान् हृदय को चैतन्य का केन्द्र एवं आत्मा से अभिन्न कहते हैं। इस हृदय का सही अर्थ क्या है?*

उ: आप इसे ईश्वर, आत्मा, हृदय या चैतन्य का केन्द्र, किसी भी नाम से पुकारें, इन सबका एक अर्थ है। समझने की मुख्य बात यह है कि हृदय मनुष्य का मूलाधार या केन्द्र है, जिससे अलग कुछ नहीं है। (२७)

हृदय भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। हृदि + अयम् मिलकर हृदय शब्द बनता है, जिसका अर्थ आत्मा का स्थान है। यहाँ से विचार उत्पन्न होते हैं, इसके आश्रय से बने रहते हैं तथा इसी में लीन होते हैं। विचार मन में रहकर विश्व का निर्माण करते हैं। हृदय इन सबका केन्द्र है। उपनिषदों में जहाँ से सब प्राणी प्रकट होते हैं उसे ब्रह्म कहा गया है, वह हृदय है। ब्रह्म हृदय है। (२८)

प्र: *हृदय का अनुभव कैसे किया जाय?*

उ: कोई भी क्षणभर के लिये भी आत्मा का अनुभव किये बिना नहीं रहता, क्योंकि कोई भी यह स्वीकार नहीं करता कि वह अपने आत्मा से अलग रहता है। वह आत्मा ही है, और आत्मा हृदय है। (२९)

हृदय वह केन्द्र है, जहाँ से सब कुछ प्रकट होता है। आप जगत्, शरीर इत्यादि देखते हैं, इसलिये यह कहा जाता है कि इन सबका केन्द्र हृदय है। जब आप हृदय में ही होते हैं तब हृदय न केन्द्र है, न परिधि। उससे भिन्न कुछ नहीं है। (३०)

वह चेतना जो सच्ची सत्ता है और जो आत्मा से भिन्न किसी पदार्थ को जानने के लिये बाहर नहीं जाती, हृदय है। चूँकि आत्मा का सत्य निष्क्रिय चेतना को ही मालूम है, वह चेतना जो सदैव केवल आत्मा को अपना विषय बनाती है, शुद्ध ज्ञान का प्रकाश है। (३१)

आत्मभान एवं आत्मा का अज्ञान

प्रसंगवशात् श्री रमण कहते थे कि आध्यात्मिक साधकों की तीन श्रेणियां होती हैं। श्रेष्ठ साधक आत्मा के सत्य को एक बार सुनने पर ही आत्मानुभव प्राप्त करते हैं। दूसरी श्रेणी के साधकों को आत्मभान में प्रतिष्ठित होने के पूर्व कुछ समय के लिए मनन करना पड़ता है। तीसरी श्रेणी के साधक कम सौभाग्यशाली हैं, क्योंकि उनको साधारणतया आत्मसाक्षात्कार का ध्येय प्राप्त करने के लिये श्रवण, मनन के अलावा कई सालों तक कठिन आध्यात्मिक साधना के साथ गंभीर निदिध्यासन करना पड़ता है। वे ज्वलनशील पदार्थों के दृष्टान्त से यह बात समझाते थे। बारूद को भस्म करने के लिये एक चिनगारी पर्याप्त है। कोयले को कुछ समय तक गरम करना पड़ता है, और गीला कोयला सूखकर गरम होकर जलने में अधिक समय लेता है।

अग्रिम दो श्रेणी के साधकों के प्रति श्री रमण कहते कि केवल आत्मा का अस्तित्व है, और यदि आप अपने बारे में अपनाये हुए गलत ख्यालों के प्रति ध्यान न दें, तो आत्मा का सीधा, स्पष्ट अनुभव होगा। इन गलत धारणाओं को वे सामूहिक रूप से अनात्मा कहते थे, क्योंकि ये काल्पनिक गलत धारणाएँ सच्चे आत्मानुभव का आवरण करती हैं। यह मुख्य गलत विचार है कि आत्मा शरीर या मन से मर्यादित है। जिस क्षण मनुष्य स्वयं को एक शरीर में रहनेवाला व्यक्ति मानना छोड़ देता है, तो पूरा गलत धारणाओं का प्रासाद ढह जाता है, और उसकी जगह सच्चे आत्मा की नित्य सभानता ले लेती है।

उपदेश की इस भूमिका के पश्चात् प्रयत्न या अभ्यास का प्रश्न नहीं रहता। आवश्यकता केवल यह समझने की है कि आत्मा कोई प्राप्तव्य ध्येय नहीं है, बल्कि अपने विषय में एकत्रित किये गये गलत पूर्वग्रहों का त्याग करने के अनंतर हमेशा बनी रहनेवाली शुद्ध सभानता ही पर्याप्त है।

प्र: *मैं आत्मसाक्षात्कार कैसे कर सकता हूँ?*

उ: साक्षात्कार कोई नई चीज प्राप्त करने की बात नहीं है, वह पहले से ही मौजूद है। आवश्यकता केवल "मैंने साक्षात्कार नहीं किया" इस विचार को छोड़ देने की है।

निश्चलता तथा शान्ति साक्षात्कार है। आत्मा न हो ऐसी एक भी क्षण नहीं है। जब तक संदेह हो या साक्षात्कार नहीं हुआ ऐसा भाव हो, तब तक ऐसे विचारों से मुक्त होने का यत्न जारी रखना चाहिये। ऐसे गलत विचार आत्मा को अनात्मा से एक रूप मानने से उत्पन्न होते हैं। जब अनात्मविषयक विचार नष्ट हो जाते हैं, तो केवल आत्मा शेष रहता है। अवकाश के लिये वस्तुओं को हटाना पर्याप्त है, किसी दूसरी जगह से अवकाश लाया नहीं जाता।

प्र: *चूँकि वासनाक्षय के बिना साक्षात्कार असंभव है, मैं उस अवस्था को कैसे प्राप्त कर सकता हूँ जिसमें वासनाओं का अभाव हो?*

उ: आप इस क्षण उस अवस्था में हैं।

प्र: *इसका यह मतलब है कि आत्मा का अवलंबन लेकर, जब भी वासना पैदा हो उसे नष्ट कर देना चाहिये?*

उ: यदि आप जैसे हैं, वैसे रहें, तो वासनाएँ अपने आप नष्ट हो जायेंगी।

प्र: *मैं आत्मा तक कैसे पहुँच सकता हूँ?*

उ: आत्मा तक पहुँचना नहीं होता है। यदि पहुँचना होता, तो उसका यह मतलब होता कि आत्मा इस स्थल और पल में नहीं है, और उसे प्राप्त करना अभी बाकी है। जो नये सिरे से प्राप्त किया गया है, वह खो भी जायगा। तो वह अनित्य होगा। अनित्य वस्तु के लिये यत्न करना उचित नहीं है। आप आत्मा हैं, आप पहले से वह हैं।

हकीकत यह है कि आप अपनी आनंदमय अवस्था से अनभिज्ञ हैं। शुद्ध आत्मा स्वयं आनंद है। अज्ञान बीच में आकर उस पर परदा डाल देता है। सारे प्रयत्न केवल मिथ्या ज्ञान रूप अज्ञान को दूर करने के लिये किये जाते हैं। आत्मा को गलती से देह-मन के साथ एकरूप मान लेना मिथ्या ज्ञान है। यह गलत तादात्म्य अवश्य जाना चाहिये। तब केवल आत्मा शेष रहता है।

इसलिये साक्षात्कार सब लोग कर सकते हैं। साक्षात्कार के लिये साधकों में रहा हुआ भेद कोई अर्थ नहीं रखता। यह संदेह कि "क्या मैं साक्षात्कार कर सकता हूँ"? और यह विचार कि "मैंने साक्षात्कार नहीं किया", ये दो बातें स्वयं विघ्नरूप हैं। इन दो अवरोधों से भी बचना आवश्यक है। (1)

प्र: *मुक्ति तक पहुँचने में कितनी देर लगती है?*

उ: मुक्ति भविष्य में प्राप्त नहीं होती। वह हमेशा है अत: अभी यहाँ है।

प्र: *मैं यह मानता हूँ लेकिन मुझे उसका अनुभव नहीं होता।*

उ: अनुभव अभी और यहाँ है। कोई भी अपने आत्मा का निषेध नहीं कर सकता।

प्र: *उसका अर्थ है कि वह सत्ता है आनंद नहीं।*

उ: सत्ता और आनंद एक हैं, और आनंद तथा अस्तित्व एक हैं। मुक्ति शब्द कई कल्पनाएँ जगाता है। कोई उसे क्यों ढूँढे? लोग मान लेते हैं कि बंधन है, इसलिये मुक्ति ढूँढते हैं। लेकिन वस्तुत: बंधन नहीं है, केवल मुक्ति है। उसे नाम देकर आप क्यों ढूँढते हैं?

प्र: *सच है, लेकिन हम अज्ञानी हैं।*

उ: केवल इस अज्ञान को दूर कीजिये, बस इतना ही करना है। मुक्ति विषयक सारे प्रश्न अस्वीकार्य हैं। मुक्ति का अर्थ बंधन से छूटना है। इससे बंधन का अस्तित्व सूचित होता है। बंधन नहीं है, अत: मुक्ति भी नहीं है। [२]

प्र: *पाश्चात्यों के साक्षात्कार का स्वरूप क्या है, जो कहते हैं कि उन्हें विश्वचेतना की झाँकी होती है?*

उ: वह क्षण में आती है, क्षण में चली जाती है। जिसका प्रारम्भ है, उसका अंत भी है। जब शाश्वत चेतना का साक्षात्कार होगा, वही केवल स्थायी होगा। चैतन्य निश्चित रूप से सदैव हमारे साथ है। सब लोग "मैं हूँ" ऐसा जानते हैं। कोई भी अपनी सत्ता का निषेध नहीं कर सकता। मुनष्य गहरी नींद में अभान होता है, जाग्रत में वह सभान दिखता है। लेकिन वह वही मनुष्य है। जो सोया था और जो अब जाग गया है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। गाढ़ सुषुप्ति में वह अपने शरीर के बारे में सभान नहीं था, अत: दैहिक चेतना नहीं थी। जाग्रत में वह शरीर के विषय में सभान होता है। अत: दैहिक चेतना है। इस प्रकार दैहिक चेतना के प्रगट होने या न होने में भेद है। सच्ची चेतना में कोई भेद नहीं।

देह एवं दैहिक चेतना एक साथ प्रकट होते हैं और साथ ही अस्त होते हैं। इन सारी बातों का अर्थ यह है कि गाढ़ निद्रा में मर्यादाएँ नहीं हैं, जाग्रत में हैं। ये मर्यादाएँ बंधन हैं। "यह शरीर मैं हूँ" ऐसा विचार गलत है। मैं विषयक यह गलत विचार अवश्य जाना चाहिये। सच्चा मैं हमेशा रहता है। वह यहाँ, अभी भी है। वह नये सिरे से कभी प्रकट नहीं होता, न ही अदृश्य होता है। जो है, वह हमेशा रहना ही चाहिये। जो कुछ नया प्रकट होता है वह नष्ट भी होता है। गाढ़ निद्रा एवं जाग्रत की तुलना कीजिये। एक अवस्था में शरीर दिखता है, दूसरी में नहीं। इसलिये शरीर नष्ट होगा। चैतन्य पहले भी था, और शरीरनाश के पश्चात् भी रहेगा।

कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो "मैं हूँ" ऐसा नहीं कहता। "मैं शरीर हूँ" ऐसा गलत ज्ञान सब उपद्रवों का कारण है। यह मिथ्या ज्ञान अवश्य जाना चाहिये। वह साक्षात्कार है। साक्षात्कार कोई नई उपलब्धि नहीं है, न ही वह कोई नई शक्ति है। वह सिर्फ आवरण-नाश है।

चरम सत्य इतना सादा-सरल है। अपनी मूल अवस्था में रहने से अतिरिक्त वह और कुछ भी नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है। [३]

प्र: *मनुष्य जाग्रत की अपेक्षा गाढ़निद्रा में शुद्ध चैतन्य के अधिक निकट है?*

उ: निद्रा, स्वप्न एवं जाग्रत आत्मा में दिखनेवाले दृश्य हैं, आत्मा स्वयं निश्चल है, केवल सभानता की अवस्था है। क्या कोई क्षणभर के लिये भी आत्मा से दूर रह ता है? यदि यह संभव होता, तभी आपका प्रश्न बन सकता था।

प्र: *क्या प्राय: ऐसा नहीं कहा जाता कि हम जाग्रत की अपेक्षा निद्रा में शुद्ध चेतना के क समीप होते हैं?*

उ: प्रश्न का ऐसा भी प्रारूप हो सकता है : "क्या मैं गाढ़ निद्रा में जाग्रत की अपेक्षा ने आप से अधिक निकट होता हूँ?"

आत्मा शुद्ध चैतन्य है। कोई भी कभी भी आत्मा से दूर नहीं हो सकता। द्वैत होता इस प्रकार का प्रश्न होना संभव था। लेकिन शुद्ध चैतन्य की अवस्था में द्वैत नहीं है।

एक ही व्यक्ति सोता, स्वप्न देखता और जगता है। जाग्रत अवस्था सुंदर, रसप्रद र्थों से युक्त मानी जाती है। इस प्रकार के अनुभव के अभाव के कारण मनुष्य कहता है निद्रा नीरस है। आगे बढ़ने से पहले हमें एक बात स्पष्ट कर लेनी चाहिये। क्या आप कार नहीं करते कि आप निद्रा के दौरान होते है?

प्र: *हाँ, मैं स्वीकार करता हूँ।*

उ: आप वही व्यक्ति हैं, जो अब जगते हैं, क्या यह सच नहीं है?

प्र: *हाँ, यह सच है।*

उ: तो जाग्रत तथा निद्रा में अविच्छेद-सातत्य है। अविच्छिन्न रहनेवाला क्या है? वह ल सत्ता है। इन दो अवस्थाओं में भेद है। वह भेद क्या है? शरीर, जगत् तथा पदार्थ ने की घटना जाग्रत में होती है, निद्रा में ये अदृश्य हो जाते हैं।

प्र: *लेकिन निद्रा में मैं सभान नहीं होता।*

उ: सच है, तब शरीर और जगत् का भान नहीं होता, किन्तु आपका अस्तित्व अवश्य । चाहिये, जिससे अब यह कह सकें कि मुझे भान नहीं था। कौन अब ऐसा कहता है? जाग्रत का व्यक्ति है। सोनेवाला ऐसा नहीं कहता। इसका अर्थ यह हुआ कि वह व्यक्ति अपने आत्मा को अब शरीर से अभिन्न मानता है, यह कहता है कि इस प्रकार की नता निद्रा में नहीं थी।

चूँकि आप अपने आपको शरीर से एकरूप मानते हैं, आप अपने चारों ओर जगत् ते हैं और कहते हैं कि जाग्रत अवस्था सुन्दर, रसप्रद वस्तुओं से भरी हुई है। निद्रा स लगती है, क्योंकि उसमें आप एक व्यक्ति के रूप में नहीं थे, इसलिये ये चीजें भी थीं। लेकिन हकीकत क्या है? सत्ता तीनों अवस्थाओं में अविच्छिन्न रूप से मौजूद ी है, व्यक्ति एवं चीजें अविच्छिन्न नहीं रहते।

प्र: *हाँ।*

उ: जो अविच्छिन्न है, वह शाश्वत है, जो विच्छिन्न है, वह अनित्य है।

प्र: *हाँ।*

उ: इसलिये सत्ता की अवस्था नित्य है, और शरीर तथा जगत् नित्य नहीं हैं। वे सनातन, निश्चल सत्ता + चेतना के परदे पर आते-जाते रहनेवाले अनित्य दृश्य हैं।

प्र: *सापेक्ष दृष्टि से निद्रा जाग्रत की अपेक्षा शुद्ध चैतन्य के अधिक समीप नहीं है?*

उ: हाँ, इस अर्थ में कि नींद से जाग्रत में आने के संधिकाल में अहंविचार शुरू होता है, मन अपना कार्य प्रारंभ करता है, विचार प्रकट होते हैं और शारीरिक चेष्टाएँ होने लगती हैं। इन सबके कारण हम यह कहते हैं कि हम जग गये हैं। निद्रा का लक्षण यह है कि यह सारी उत्क्रान्ति उसमें नहीं है, इसलिये वह जाग्रत की अपेक्षा शुद्ध चेतना के अधिक समीप है।

लेकिन इस कारण से साधक को हमेशा नींद में रहने की इच्छा नहीं करनी चाहिये। सबसे पहले, यह असंभव है। क्योंकि वह अन्य अवस्थाओं के साथ अनिवार्य रूप से बदलती रहती है। दूसरे, निद्रा आनंद की वह अवस्था नहीं, जिसमें ज्ञानी नित्य तथा अपरिवर्तित रूप से रहता है। और, लोग निद्रा को सभानता की स्थिति नहीं मानते, लेकिन ज्ञानी तो निरंतर सभान रहता है। इस प्रकार, ज्ञानी जिसमें प्रतिष्ठित है, उस अवस्था से सुषुप्ति भिन्न है।

सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि निद्रा में मनुष्य विचारों से तथा उनके संस्कारों से अछूता रहता है, अत: उसमें प्रयत्न असंभव होने से मनुष्य उसे अपनी इच्छा से बदल नहीं सकता। इस कारण यद्यपि वह शुद्ध चैतन्य से अधिक निकट है, वह आत्म-साक्षात्कार के लिये आवश्यक प्रयत्न के लिये उपयुक्त नहीं है। [४]

प्र: *अपनी पूर्ण, निरपेक्ष सत्ता का साक्षात्कार, अर्थात् ब्रह्मज्ञान क्या मेरे जैसे सामान्य मनुष्य के लिये कुछ असंभव-सा नहीं लगता?*

उ: ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने योग्य नहीं है, जिसे प्राप्त करके मनुष्य सुखी हो जायगा। मनुष्य को अपने गलत दृष्टिकोण का त्याग करने की आवश्यकता है। जिस आत्मा को आप ढूँढ रहे हैं, हकीकत में वह स्वयं आप ही हैं। आपका काल्पनिक अज्ञान आपको उस कभी न खोये हुए दसवें पुरूष की खोज के समान अनावश्यक ही परेशान कर रहा है।

एक कथानक में दस मूर्ख लोग नदी पार करके दूसरे किनारे पहुँचे, तब पूरे दस इस पार आये हैं या नहीं, इसका निर्णय करने के लिये उनमें से एक ने गिनना शुरू किया। लेकिन दूसरों को गिनने की धुन में वह स्वयं को गिनना भूल गया। उसने कहा : "हम नौ ही हैं, निश्चित रूप से हममें से एक गायब है, वह कौन हो सकता है?" दूसरे ने कहा "तुमने ठीक गिना है क्या?" और खुद गिनने लगा। किन्तु उसने भी नौ ही गिने। सबने सहमति से कहा : "हम नौ ही हैं"। उन्होंने स्वयं से पूछा कि वह खोया हुआ कौन हो सकता है? खोये हुए साथी को खोजने के उनके सारे प्रयत्न निष्फल रहे। उनमें से सबसे अधिक भावुक मूर्ख ने कहा: "वह जो भी हो, डूब गया, हमने उसे खो दिया", और वह रोने लगा, तो दूसरे सब भी रोने लगे।

प्र: *इस सत्य को सुनकर मनुष्य संतुष्ट क्यों नहीं हो जाता?*

उ: क्योंकि संस्कारों का नाश नहीं किया गया है। जब तक संस्कारों का नाश नहीं हुआ, संदेह और गलत धारणाएं बनी रहेंगी। इन संदेहों को तथा गलत धारणाओं को नष्ट करने के लिये सारे उपाय किये जाते हैं। ऐसा करने के लिये उनके मूल को काट देना चाहिए। संस्कार वह मूल है। गुरु की बताई हुई पद्धति से अभ्यास करने से ये बेअसर हो जाते हैं। गुरु इतना कार्य शिष्य के लिये छोड़ देता है, जिससे वह स्वयं समझ सके कि अज्ञान का अस्तित्व नहीं है। सत्य का श्रवण प्रथम भूमिका है। इससे यदि दृढ़ ज्ञान नहीं होता, तो मनन तथा निरंतर निदिध्यासन आवश्यक होता है। इन दोनों से संस्कारबीज जल जाते हैं, तब वे बेअसर होकर फिर अंकुरित नहीं होते।

कुछ असाधारण लोग सत्य को केवल एक बार सुनकर दृढ़ ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। ये आगे बढ़े हुए पक्व साधक होते हैं। नये साधकों को ज्ञान प्राप्त करने में अधिक समय लगता है।

प्र: *अविद्या कैसे उत्पन्न हुई?*

उ: अविद्या उत्पन्न नहीं हुई। उसका अस्तित्व सच्चा नहीं है। जो है वह विद्या ही है।

प्र: *तो मुझे साक्षात्कार क्यों नहीं होता?*

उ: संस्कारों के कारण। लेकिन इस बात का अन्वेषण कीजिये कि किसे और किसका साक्षात्कार नहीं होता। तब अविद्या है ही नहीं यह स्पष्ट हो जायगा। [१६]

प्र: *तो लक्ष्य को मानकर साधना प्रारंभ करना गलत है? है कि नहीं?*

उ: यदि कोई प्राप्त करने योग्य लक्ष्य है, तो वह नित्य नहीं हो सकता। लक्ष्य पहले से ही मौजूद होना चाहिये। हम अहंकार के साथ लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हैं, लेकिन लक्ष्य अहंकार के पहले ही मौजूद है। जो लक्ष्य में है, वह हमारे अर्थात् अहंकार के जन्म के पूर्व से ही है। चूँकि हमारा अस्तित्व है, अहंकार का भी अस्तित्व दिखता है। यदि हम आत्मा को अहंकार मानें, तो हम अहंकार बन जाते हैं, यदि मन मानें तो मन, एवं शरीर मानें तो शरीर हो जाते हैं। विचार विविध रूपवाले कोशों को बनाता है। पानी पर छाया हिलती हुई मालूम पड़ती है। क्या कोई उस छाया का हिलना रोक सकता है? यदि उसका हिलना बंद हो जाय, तो आप पानी को नहीं, केवल प्रकाश को देखेंगे। उसी तरह आप अहंकार तथा उसकी चेष्टाओं की ओर ध्यान मत दीजिये। केवल उसके पीछे रहे हुए प्रकाश को देखिये। अहंकार अहंविचार है। सच्चा "अहं" आत्मा है।

प्र: *यदि केवल विचारों के त्याग का प्रश्न है, तो साक्षात्कार एक कदम दूर है।*

उ: साक्षात्कार पहले से ही है। निर्विचार अवस्था ही सच्ची अवस्था है। साक्षात्कार कोई क्रिया नहीं है। क्या ऐसा कोई है जिसे आत्मा साक्षात् न हो? क्या कोई अपने अस्तित्व का इन्कार कर सकता है? साक्षात्कार में एक साक्षात्कार करनेवाला और दूसरा जिसका साक्षात्कार किया जाय वह, ऐसे दो सूचित होते हैं। जो अब तक साक्षात् नहीं था उसको

आवश्यकता है? जो स्वयं से भिन्न न होकर अपने भीतर ही विद्यमान है, उसे "मैं नहीं जानता" ऐसा कहना "मैं स्वयं अपने आप को नहीं जानता" ऐसा कहने के बराबर है। (६)

प्र: *लेकिन मनुष्य उस अवस्था तक कैसे पहुँच सकता है?*

उ: पहुँचा जा सके, ऐसा कोई लक्ष्य नहीं है, किसी वस्तु को प्राप्त नहीं करना है। आप आत्मा हैं। आपका अस्तित्व हमेशा रहता है, इससे अधिक उसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। आत्मा को अर्थात् ईश्वर को देखने का अर्थ आत्मा अर्थात् आप जो हैं, वह बने रहना है। देखने का अर्थ होना है। आत्मा होते हुए भी आप आत्मा तक कैसे पहुँचा जाय, ऐसा पूछते हैं। यह बात ऐसी है, जैसे कोई रमणाश्रम में रहकर यह पूछे कि रमणाश्रम पहुँचने के कितने मार्ग हैं, और उनमें से उसके लिये कौन सा श्रेष्ठ है। आपको जो करना है वह केवल इतना कि आप शरीर हैं इस विचार को तथा बाह्य पदार्थों के सारे विचारों को – अनात्मा को छोड़ना है। (७)

प्र: *अहंकार क्या है? उसका सच्चे आत्मा के साथ क्या संबंध है?*

उ: अहंकार आता जाता है, अत: अनित्य है, जब कि सच्चा आत्मा नित्य है। यद्यपि आप वस्तुत: सच्चे आत्मा हैं। फिर भी गलती से उसका अहंकार के साथ तादात्म्य करते हैं।

प्र: *ऐसी गलती किस प्रकार होती है?*

उ: अन्वेषण कीजिये कि यह गलती हुई है या नहीं?

प्र: *मनुष्य को अहंकार का सच्चे आत्मा में ऊर्ध्वीकरण करना चाहिये?*

उ: अहंकार का अस्तित्व ही नहीं है।

प्र: *तो कैसे वह हमें मुसीबत में डालता है?*

उ: यह मुसीबत किसके लिये है? मुसीबत भी काल्पनिक है। मुसीबतें एवं मझे केवल अहंकार के लिये हैं।

प्र: *जगत् इस तरह अज्ञान से क्यों घिरा हुआ है?*

उ: अपनी चिन्ता कीजिये, जगत् को अपनी फिकर करने दीजिये। अपने आत्मा को देखिये। यदि आप शरीर हैं तो स्थूल जगत् भी है। यदि आप आत्मा हैं तो सब कुछ ब्रह्म है।

प्र: *यह सत्य व्यक्ति के विषय में तो ठीक है, किन्तु सारे जगत् का क्या होगा?*

उ: पहले अपने सत्य का निर्णय कीजिये, तब देखिये कि यह प्रश्न उपस्थित होता है क्या?

प्र: *अविद्या का अस्तित्व है क्या?*

उ: किसके लिये है वह?

प्र: *अहंकार के लिये।*

उ: हाँ, अहंकार के लिये अविद्या है। अहंकार का त्याग कीजिये तो अविद्या चली जायगी। अहंकार को ढूँढिये, तो वह लुप्त हो जायगा और सच्चा आत्मा ही शेष रहेगा। अविद्यायुक्त अहंकार को नहीं देखना है। सब शास्त्र अविद्या का अभाव सिद्ध करने के लिये हैं।

प्रः *अहंकार उत्पन्न कैसे होता है?*

उः अहंकार नहीं है। अन्यथा आप क्या दो आत्माओं का स्वीकार करते हैं? अहंकार के अभाव में अविद्या कैसे हो सकती है? आप गवेषणा शुरू करेंगे, तो अविद्या, जो पहले से ही नहीं है, नहीं मिलेगी। और आप कहेंगे कि वह लुप्त हो गई।

अज्ञान अहंकार के साथ जुड़ा हुआ है। आप अहंकार के विषय में क्यों सोचते हैं और परेशान होते हैं? अज्ञान है क्या? वह वो है जिसका अस्तित्व नहीं है। सांसारिक व्यवहार के लिये अविद्या की मान्यता जरूरी है। अविद्या हमारे अज्ञान से अधिक कुछ नहीं है। आत्मा की विस्मृति अज्ञान है। सूर्य के समक्ष अंधकार ठहर सकता है क्या? ऐसे ही स्वयंभू, स्वयंप्रकाश आत्मा के समक्ष अज्ञान ठहर सकता है क्या? यदि आप आत्मा को जानें तो अंधकार नहीं रहेगा, न ही अज्ञान तथा दुःख रहेंगे।

यह तो मन है जिसे उपद्रव तथा दुःख का अनुभव होता है। अंधकार न आता है, न जाता है। सूर्य को देखिये और अंधकार है ही नहीं। इसी तरह आत्मा को देखिये, तो अविद्या नहीं है ऐसा ज्ञान होगा। (८)

प्रः *असत्य कैसे उत्पन्न हुआ? क्या सत्य से असत्य उत्पन्न हो सकता है?*

उः अन्वेषण कीजिये कि वह उत्पन्न हुआ है क्या? दूसरे दृष्टि-बिन्दु से असत्य जैसी कोई चीज नहीं है। केवल आत्मा का ही अस्तित्व है। जब आप जगत् तथा अन्य सब पदार्थों को देखनेवाले अहंकार का मूल ढूँढेंगे, तो अपको पता चलेगा कि अहंकार है ही नहीं, न ही आपको दिखनेवाली सृष्टि है। (९)

प्रः *आत्मज्ञान को इतना मुश्किल बनाना ईश्वरलीला की निर्दयता है।*

उः आत्मा को जानने का अर्थ आत्मा होना है। होना ही सत्ता है, स्वयं का होना सत्ता है। कोई भी अपनी न दिखनेवाली आँखों के अस्तित्व की तरह, न दिखनेवाली आत्मा का इन्कार नहीं करता है। जैसे आप अपनी आँखों को दर्पण में वस्तु की तरह देखते हैं, इसी प्रकार आप अपने आत्मा को वस्तु की तरह देखना चाहते हैं, यही मुसीबत है। आप वस्तुसत्ता से इतने घुलमिल गये हैं कि आपने अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान गँवा दिया है, केवल इस कारण कि आत्मा को वस्तु की तरह देखा नहीं जा सकता। आत्मा को कौन जानेगा? क्या अचेतन शरीर उसे जानेगा? आप हमेशा अपने "मैं" के बारे में बोलते एवं सोचते हैं, लेकिन पूछे जाने पर उसका इन्कार करते हैं। आप आत्मा हैं, फिर भी पूछते हैं कि उसे कैसे जाना जाय। इसमें ईश्वर की लीला और उसकी निर्दयता कहाँ है? चूँकि लोग आत्मा का इन्कार करते हैं, शास्त्र माया, लीला इत्यादि बात करते हैं। (१०)

प्रः *क्या मेरा साक्षात्कार दूसरों की सहायता कर सकता है?*

उः हाँ, निश्चित रूप से। हर संभव सहायताओं में यह श्रेष्ठ है। लेकिन जिनकी सहायता की जाय ऐसे दूसरे नहीं है, क्योंकि सुनार जैसे सारे गहनों में केवल सोना ही देखता है, ऐसे ज्ञानी सब में केवल आत्मा ही देखता है। आप जब अपने आपको शरीर के

साथ एकरूप मानते हैं, केवल तभी आकार एवं रूप दिखते हैं। लेकिन जब आप अपने शरीर से पर होते हैं, तो आपकी शारीरिक चेतना के साथ दूसरे भी अदृश्य हो जाते हैं।

प्र: *क्या पेड़, वनस्पति इत्यादि के बारे में भी यह सत्य है?*

उ: क्या वे कभी भी आत्मा से अलग अस्तित्व रखते हैं? इसकी गवेषणा कीजिये। आप सोचते हैं कि आप उन्हें देखते हैं। विचार आत्मा से प्रकट होते हैं। ढूँढ निकालिये कि ये विचार कहाँ से प्रकट होते हैं। तब विचार शान्त हो जायेंगे और केवल आत्मा शेष रहेगा।

प्र: *मैं यह बात बौद्धिक स्तर पर समझता हूँ। लेकिन वे अब भी दिखते हैं।*

उ: हाँ, यह चलचित्र जैसा है। परदे पर प्रकाश डाला जाता है, और उस पर दिखनेवाली गतिशील छायाएँ प्रेक्षकवर्ग में ऐसा प्रभाव उत्पन्न करती हैं, जैसे कोई कथा दिखाई जा रही हो। यदि उस कथा में दर्शकों को भी कथा के भाग के रूप में परदे पर दिखाया जाय, तो द्रष्टा और दृश्य दोनों परदे पर दिखेंगे। इसको आप पर घटाइये। आप परदा हैं। आत्मा ने अहंकार उत्पन्न किया है और अहंकार अपने ऊपर चिपके विचारों के भार से लदा हुआ है, जो जगत् वृक्ष वनस्पति इत्यादि के रूप में दिख रहे हैं, जिसके बारे में आप पूछ रहे हैं। वस्तुत: ये सब आत्मा के अलावा कुछ नहीं हैं। यदि आप आत्मा को देखें, तो वही सर्वदा, सर्वत्र, सर्वरूप दिखाई देगा। आत्मा से अलग कुछ नहीं है।

प्र: *हाँ, अब भी मैं केवल सैद्धान्तिक स्तर पर समझ रहा हूँ। फिर भी आपके उत्तर सादे, सुंदर और श्रद्धेय हैं।*

उ: "मैं नहीं समझ पा रहा हूँ" यह विचार भी एक विघ्न है। वस्तुत: केवल आत्मा ही है। (११)

हमारा सच्चा स्वभाव मुक्ति है। लेकिन हम कल्पना करते हैं कि हम बद्ध हैं, और मुक्त होने के लिये विविध श्रमसाध्य साधनाएँ करते हैं, जबकि हर समय हम मुक्त ही होते हैं। यह बात तब समझ में आयेगी, जब हम उस भूमिका पर होंगे। तब हमें आश्चर्य होगा कि जो हम सर्वदा थे और हैं उसे प्राप्त करने के लिये हमने कठोर परिश्रम किया। उदाहरण से यह बात स्पष्ट होगी। एक साधक इस खंड में सो जाता है। स्वप्न में वह विश्वयात्रा पर निकलता है, और पर्वत, घाटी, जंगल, विविध देश, रण, समुद्रवाले पृथ्वी के कई खंडों को पार करता हुआ, कई वर्षों तक कठिन यात्रा करने के पश्चात् थका, हारा इस देश में वापस आता है, तिरूवन्नामलई पहुँचता है, आश्रम में प्रवेश करता है, और इस खंड में आता है। उसी क्षण वह जग जाता है, और देखता है कि वह अपनी जगह से एक इंच भी दूर गया नहीं है, बल्कि हमेशा खंड में ही था। ठीक इसी प्रकार का जन्म-मरण रूप संसार का अनुभव है। यह पूछने पर कि हम स्वतंत्र होते हुए भी बद्ध होने की कल्पना क्यों करते हैं? मेरा उत्तर यह है कि इस खंड में रहकर भी आपने कई पर्वत, घाटी, रण, समुद्रवाले अनेक खंडों की यात्रा की कल्पना क्यों की? यह सब मन अर्थात् माया है। (१२)

प्र: *अज्ञानी को दु:ख देनेवाला यह एक सत्य का अज्ञान कैसे उत्पन्न होता है?*

उ: अज्ञानी केवल मन को देखता है, जो हृदयस्थ शुद्ध चेतना के प्रकाश का प्रतिबिंब है। हृदय के विषय में उसका अज्ञान कायम है, क्योंकि उसका मन बहिर्मुख है, एवं उसने कभी भी अपने मूल की खोज नहीं की।

प्र: *हृदय से प्रकट होने वाले चैतन्य के इस अनंत, भेदरहित प्रकाश को अज्ञानी के सम्मुख प्रकट होने से कौन रोकता है?*

उ: घड़े में रहा हुआ पानी घड़े के सीमित आकाश में महान सूर्य को प्रतिबिंबित करता है, ऐसे ही मनुष्य के मन में रहनेवाली वासनाएँ प्रतिबिंब के लिये माध्यम का कार्य करते हुए हृदय से प्रकट होनेवाले चैतन्य के सर्वव्यापक अनंत प्रकाश को प्रतिबिंबित करती हैं। इस प्रतिबिंब की घटना को मन कहा जाता है। केवल इस प्रतिबिंब को देखकर मोहित हुआ अज्ञानी स्वयं को सीमित जीव मानता है। [१३]

प्र: *आत्मसाक्षात्कार का अवरोध करने वाले विघ्न कौन से हैं?*

उ: मन की वासनाएँ।

प्र: *इनको कैसे दूर किया जाय?*

उ: आत्मसाक्षात्कार से।

प्र: *यह तो तर्क का दुष्ट चक्र हुआ।*

उ: यह अहंकार है, जो इस प्रकार की मुसीबतें खड़ी करता है। वह विघ्नों को उत्पन्न करता है और स्वनिर्मित विरोधाभासों से पीड़ित होकर दु:खी होता है। अन्वेषण करने वाले को ढूँढ निकालिये, तो आत्मा मिल जायगा। [१४]

प्र: *यह मन का बंधन इतना दीर्घजीवी क्यों है?*

उ: बंधन का स्वरूप केवल इस पतन करनेवाले विचार का उत्पन्न होना है कि मैं सत्य से अलग हूँ। चूँकि कोई भी निश्चित रूप से सत्य से अलग रह नहीं सकता, जब भी यह विचार आये, उसका त्याग कीजिये। [१५]

प्र: *मुझे "मैं आत्मा हूँ" ऐसा स्मरण क्यों कभी नहीं होता?*

उ: लोग पूर्ण आत्मा के स्मरण एवं विस्मरण की बात करते हैं, लेकिन स्मरण और विस्मरण दोनों विचार के रूप हैं। विचारों के रहने तक ये आते-जाते रहेंगे, किन्तु सत्य इन दोनों से पर है। स्मृति तथा विस्मृति किसी वस्तु पर आधारित होनी चाहिये, और वह वस्तु आत्मा से भिन्न होनी चाहिये, अन्यथा विस्मृति हो ही नहीं सकती है। स्मृति और विस्मृति वैयक्तिक जीव पर आश्रित हैं। जब कोई उसे ढूँढता है, तो वह मिलता नहीं,क्योंकि वह सत्य नहीं है। इसलिये यह अहंकार माया और अज्ञान का पर्याय है। अज्ञान कभी भी नहीं था यह जानना सारे आध्यात्मिक उपदेशों का लक्ष्य है। अज्ञान अवश्य उसको होना चाहिये जो स्वयं सभान हो, और सभानता ही ज्ञान है जो सहज तथा शाश्वत है, जबकि अज्ञान अस्वाभाविक एवं असत्य है।

प्र: *इस सत्य को सुनकर मनुष्य संतुष्ट क्यों नहीं हो जाता?*

उ: क्योंकि संस्कारों का नाश नहीं किया गया है। जब तक संस्कारों का नाश नहीं हुआ, संदेह और गलत धारणाएं बनी रहेंगी। इन संदेहों को तथा गलत धारणाओं को नष्ट करने के लिये सारे उपाय किये जाते हैं। ऐसा करने के लिये उनके मूल को काट देना चाहिए। संस्कार वह मूल है। गुरु की बताई हुई पद्धति से अभ्यास करने से ये बेअसर हो जाते हैं। गुरु इतना कार्य शिष्य के लिये छोड़ देता है, जिससे वह स्वयं समझ सके कि अज्ञान का अस्तित्व नहीं है। सत्य का श्रवण प्रथम भूमिका है। इससे यदि दृढ़ ज्ञान नहीं होता, तो मनन तथा निरंतर निदिध्यासन आवश्यक होता है। इन दोनों से संस्कारबीज जल जाते हैं, तब वे बेअसर होकर फिर अंकुरित नहीं होते।

कुछ असाधारण लोग सत्य को केवल एक बार सुनकर दृढ़ ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। ये आगे बढ़े हुए पक्व साधक होते हैं। नये साधकों को ज्ञान प्राप्त करने में अधिक समय लगता है।

प्र: *अविद्या कैसे उत्पन्न हुई?*

उ: अविद्या उत्पन्न नहीं हुई। उसका अस्तित्व सच्चा नहीं है। जो है वह विद्या ही है।

प्र: *तो मुझे साक्षात्कार क्यों नहीं होता?*

उ: संस्कारों के कारण। लेकिन इस बात का अन्वेषण कीजिये कि किसे और किसका साक्षात्कार नहीं होता। तब अविद्या है ही नहीं यह स्पष्ट हो जायगा। [१६]

प्र: *तो लक्ष्य को मानकर साधना प्रारंभ करना गलत है? है कि नहीं?*

उ: यदि कोई प्राप्त करने योग्य लक्ष्य है, तो वह नित्य नहीं हो सकता। लक्ष्य पहले से ही मौजूद होना चाहिये। हम अहंकार के साथ लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हैं, लेकिन लक्ष्य अहंकार के पहले ही मौजूद है। जो लक्ष्य में है, वह हमारे अर्थात् अहंकार के जन्म के पूर्व से ही है। चूँकि हमारा अस्तित्व है, अहंकार का भी अस्तित्व दिखता है। यदि हम आत्मा को अहंकार मानें, तो हम अहंकार बन जाते हैं, यदि मन मानें तो मन, एवं शरीर मानें तो शरीर हो जाते हैं। विचार विविध रूपवाले कोशों को बनाता है। पानी पर छाया हिलती हुई मालूम पड़ती है। क्या कोई उस छाया का हिलना रोक सकता है? यदि उसका हिलना बंद हो जाय, तो आप पानी को नहीं, केवल प्रकाश को देखेंगे। उसी तरह आप अहंकार तथा उसकी चेष्टाओं की ओर ध्यान मत दीजिये। केवल उसके पीछे रहे हुए प्रकाश को देखिये। अहंकार अहंविचार है। सच्चा "अहं" आत्मा है।

प्र: *यदि केवल विचारों के त्याग का प्रश्न है, तो साक्षात्कार एक कदम दूर है।*

उ: साक्षात्कार पहले से ही है। निर्विचार अवस्था ही सच्ची अवस्था है। साक्षात्कार कोई क्रिया नहीं है। क्या ऐसा कोई है जिसे आत्मा साक्षात् न हो? क्या कोई अपने अस्तित्व का इन्कार कर सकता है? साक्षात्कार में एक साक्षात्कार करनेवाला और दूसरा जिसका साक्षात्कार किया जाय वह, ऐसे दो सूचित होते हैं। जो अब तक साक्षात् नहीं था उसको

साक्षात् करने का यत्न किया जाता है। लेकिन जब हम अपने अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, तो हम अपने आत्मा को न जानें ऐसा कैसे हो सकता है?

प्र: *विचारों अर्थात् मन के कारण।*

उ: बिल्कुल ठीक। मन हमारे आनंद का आवरण करता है। हम यह कैसे जानते हैं कि हमारा अस्तित्व है? यदि आप कहें कि हमारे चारों ओर फैले हुए जगत् के कारण, तो गहरी नींद में आप थे ऐसा आप कैसे जानते हैं?

प्र: *मन से मुक्ति कैसे हो?*

उ: क्या मन स्वयं को नष्ट करना चाहता है? मन अपने आप को नष्ट नहीं कर सकता। तो आपका काम है मन की सच्ची प्रकृति को जानना। तब आप जानेंगे कि मन है ही नहीं। जब आत्मानुसंधान किया जाता है, तो मन कहीं भी नहीं है। आत्मा में रहकर मनुष्य को मन के बारे में चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। [१०]

प्र: *क्या मुक्ति और साक्षात्कार एक हैं?*

उ: मुक्ति हमारा स्वभाव है। वह हमारा दूसरा नाम है। हमारी मुक्ति की चाह आश्चर्यकारक है। यह ऐसा है जैसे कोई मनुष्य जो छाया में है, स्वेच्छा से छाया छोड़कर सूर्य की गरमी में जाता है। वहाँ असह्य ताप से पीड़ित होकर, बड़े परिश्रम से छाया में वापस आता है और आनंद से कहता है: "आह। छाया कितनी मधुर है। आखिर मैं छाया में आ ही गया!" हम सब ठीक ऐसा ही करते हैं। हम सत्य से अलग नहीं है, किन्तु कल्पना करते हैं कि हम भिन्न हैं, अर्थात् हम स्वयं भेद खड़ा करते हैं, फिर उससे मुक्त होने के लिये कठोर साधना करते हैं और आखिर एकता का अनुभव करते हैं। क्यों कल्पना से भेद खड़ा करके तब उसे नष्ट करना चाहिये? [१८]

प्र: *इस बात का अनुभव केवल गुरु के अनुग्रह से हो सकता है। मैं भागवत पढ़ रहा था। वह कहता है कि गुरुचरणरज से ही परमानंद प्राप्त हो सकता है। मैं कृपा के लिये प्रार्थना करता हूँ।*

उ: आपकी सत्ता के अलावा आनंद और क्या है? आप आनंदरूप सत्ता से अलग नहीं है। इस समय आप सोचते हैं कि आप मन या शरीर हैं, जो परिवर्तनशील तथा नश्वर हैं, किन्तु वस्तुत: आप अविकार तथा नित्य हैं। यही आपको जानना है।

प्र: *अंधकार है और मैं अज्ञानी हूँ।*

उ: यह अज्ञान अवश्य जाना चाहिये। कौन ऐसा कहता है कि मैं अज्ञानी हूँ। वह ावश्य अज्ञान का साक्षी होना चाहिये। वह साक्षी आप हैं। सोक्रेटिस ने कहा था : "मैं ानता हूँ कि मैं नहीं जानता"। क्या यह अज्ञान है? यह ज्ञान है।

प्र: *तो मैं वेल्लूर में दु:खी और आपके निकट शान्ति का अनुभव क्यों करता हूँ?*

उ: इस स्थान में आप जो अनुभव करते हैं, वह क्या आनंद हो सकता है? आप कहते हैं कि इस स्थान को छोड़ने पर आपको दु:ख का अनुभव होता है। इसलिये यह

शान्ति नित्य नहीं है, वह दु:खमिश्रित है, यह दु:ख दूसरे स्थान में प्रकट होता है। इसलिये आप विशेष स्थानों में या कालखंडों में आनंद प्राप्त नहीं कर सकते। आनंद नित्य होना चाहिये, जिससे वह उपयोगी सिद्ध हो। आपकी सत्ता नित्य है। नित्य आत्मा बने रहिये, यही आनंद है। आप हमेशा वह हैं। [१६]

आत्मा सदैव साक्षात् है। जो प्रथम से और नित्य साक्षात् है, उसके साक्षात्कार का प्रयत्न आवश्यक नहीं है। क्योंकि आप अपने अस्तित्व का इन्कार नहीं कर सकते। वह अस्तित्व चैतन्य है – आत्मा है।

यदि आपका अस्तित्व न हो, आप प्रश्न नहीं पूछ सकते, अत: आपको अपने अस्तित्व का स्वीकार अवश्य करना पड़ेगा। वह अस्तित्व सद्वस्तु – आत्मा – है। वह पहले से ही साक्षात् है। इसलिये साक्षात्कार के लिये किया गया प्रयत्न केवल आपकी वर्तमान भूल – कि आपने आपके आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया है – उसको प्रकट कर देने में परिणत होता है। कोई नया साक्षात्कार नहीं होता। आत्मा सदा अनावृत है।

प्र: *लेकिन ऐसे ज्ञान को होने में कुछ साल लग जायेंगे।*

उ: साल क्यों? समय का ख्याल केवल आपके मन में है, आत्मा में नहीं। आत्मा के लिये समय नहीं है। अहंकार के प्रकट होने के बाद समय एक विचार के रूप में दिखने लगता है। लेकिन आप देशकालातीत आत्मा हैं। आप देशकाल के अभाव में भी होते हैं। [२०]

यदि यह सच होता कि साक्षात्कार बाद में होगा, तो इसका मतलब यह हुआ कि इस समय आपको साक्षात्कार नहीं हुआ है। साक्षात्कार का वर्तमान अभाव भविष्य में किसी भी क्षण प्रकट हो सकता है, क्योंकि काल अनंत है। इस कारण भी ऐसा साक्षात्कार अनित्य है। लेकिन यह सच नहीं है। साक्षात्कार को अनित्य समझना गलती है। वह तो सच्ची शाश्वत अवस्था है, जो कभी बदल नहीं सकती।

प्र: *हाँ, मैं इस बात को उचित समय आने पर समझूँगा।*

उ: आप प्रथम से ही वह हैं। देशकाल आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकते। वे आपमें हैं। इसी प्रकार आप अपने चारों ओर जो देख रहे हैं, वह भी आपमें है। इस बात को समझाने के लिये एक दृष्टान्त है। एक महिला के गले में बहुमूल्य हार था। एक बार उत्तेजना के कारण वह उसे भूल गई और सोचने लगी कि हार खो गया है। बेचैन होकर उसने अपने घर में ढूँढा, लेकिन वह मिला नहीं। उसने अपने पड़ोसियों तथा मित्रों से भी पूछा, शायद वे इसके बारे में कुछ जानते हों। लेकिन वे कुछ जानते नहीं थे। आखिर एक भले मित्र ने उसे अपने गले में उस हार को देखने के लिये कहा। उसने जाना कि हार हमेशा गले में ही था, और वह सुखी हो गई। बाद में दूसरों के यह पूछने पर कि क्या वह खोया हुआ हार मिल गया, तो उसने कहा :- "हाँ मिल गया"। वह अब भी ऐसा अनुभव कर रही थी जैसे कोई खोई हुई चीज मिल गई हो।

अब क्या उसने उसे कभी खोया था? वह हमेशा उसके गले में था। लेकिन उसके अनुभव का मूल्यांकन कीजिये, जैसे खोया हुआ रत्न मिल गया हो, ऐसे वह प्रसन्न हो रही थी। ऐसा हमारे साथ भी होता है। हम सोचते हैं कि कभी न कभी हम आत्मा का साक्षात्कार कर लेंगे, जब कि हम आत्मा के अलावा और कुछ भी नहीं हैं। [२१]

प्र: *कुछ तो ऐसा अवश्य होना चाहिये जिसका अनुष्ठान करके मैं उस अवस्था तक पहुँच सकता हूँ?*

उ: यह विचार गलत है कि कोई ध्येय है, और वहाँ तक पहुँचने का कोई मार्ग है। हम हमेशा वह ध्येय या शान्ति हैं। हम शान्ति नहीं है, ऐसे विचार से मुक्त होना जरूरी है।

प्र: *सब धर्मग्रंथ कहते हैं कि गुरु का मार्गदर्शन आवश्यक है।*

उ: गुरु वही कहेगा जो अभी मैं कह रहा हूँ। आपके पास प्रथम से न हो ऐसी कोई वस्तु वह आपको नहीं देगा। किसी के लिये यह संभव नहीं कि वह अपने पास पहले से ही न हो ऐसी कोई नई वस्तु पा ले। यदि वह ऐसी कोई वस्तु पाता भी है, तो वह जैसे आयी थी वैसे चली भी जायगी। जो आता है वह जाता है। जो हमेशा है, वही रहेगा। गुरु आपको ऐसी कोई नई वस्तु नहीं दे सकता, जो पहले से आपके पास न हो। हमने आत्मसाक्षात्कार नहीं किया यह विचार छोड़ना ही आवश्यक है। हम हमेशा ही हैं, केवल हमें इस सत्य का अनुभव नहीं होता। [२२]

यह कहते हुए कि आत्मा कहाँ है, हम इधर उधर घूमकर आत्मा को ढूँढते हैं। आखिर ज्ञानदृष्टि का उषाकाल आता है और हम कहते हैं : यह आत्मा है, यह मैं हूँ। हमें ऐसी दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये। इस दृष्टि के प्राप्त होने पर हम् जगत में चाहे जहाँ रहें या घूमें और किसी से भी मिलें, कहीं भी आसक्त नहीं होंगे। एक बार आपने पैरों में जूते डाल दिये, तो चलते समय आपको मार्ग के काँटे या कंकड़ पीड़ा नहीं पहुँचायेंगे। मार्ग में चाहे पहाड़ भी आये, आप निर्भय तथा निश्चिन्त होकर चलेंगे। इस प्रकार ज्ञानदृष्टियुक्त पुरूषों के लिये सब कुछ सहज होता है। अपनी आत्मा से भिन्न है भी क्या?

प्र: *सहज अवस्था तभी अनुभव का विषय बनती है जब दुनियादारी की दृष्टि मिट जाय। लेकिन वह मिटे कैसे?*

उ: यदि मन मिट गया तो पूरी दुनिया मिट गई। मन सबका कारण है। यदि वह मिट गया तो सहज अवस्था प्रकट होगी। आत्मा हमेशा स्वयं को "अहं-अहं" रूप से उद्घोषित करता रहता है। वह स्वयं प्रकाश है और यहाँ, अभी है। यह सब वही है। हम केवल उसी में हैं। उसी में रहकर उसकी तलाश क्यों की जाय? प्राचीन ऋषि कहते हैं : "दृष्टि को ज्ञानमय बनाकर विश्व को ब्रह्ममय देखना चाहिये"। [२३]

ज्ञानी

श्री रमण के कई मुलाकाती आत्मसाक्षात्कार की अवस्था के विषय में अदम्य कुतूहल रखते थे। वे विशेषरूप से यह जानना चाहते थे कि ज्ञानी स्वयं का तथा उसके चारों ओर की दुनिया का अनुभव किस प्रकार करता है। पूछे गये कई प्रश्नों में से कुछ इस अवस्था के बारे में प्रचलित विचित्र धारणाओं को प्रतिबिंबित करते हैं, लेकिन उनमें से अधिकतर नीचे दिये गये चार प्रश्नों के विविध रूपान्तर मालूम होते हैं :

१- वैयक्तिक चेतना के अभाव में ज्ञानी कार्य कैसे करता है?

२- वह "मैं कुछ नहीं करता" (श्री रमण प्रायः यह विधान किया करते थे) ऐसा कैसे कह सकता है, जब दूसरे लोग उसे जगत में कार्य करता हुआ देखते हैं?

३- वह जगत् को किस दृष्टि से देखता है? वह उसे देखता भी है या नहीं?

४- ज्ञानी की विशुद्ध चेतना का साधारणतया निरंतर बदलनेवाली दैहिक-मानसिक चेतना की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं के साथ क्या संबंध है?

इन सब प्रश्नों का अकथित आधार यह मान्यता है कि ज्ञानी एक व्यक्ति है, जो स्वयं जिसे आत्मा कहता है, उस सहज अवस्था का अनुभव करता है। यह धारणा सच्ची नहीं है। यह जिनको आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ है, ऐसे अज्ञानी लोगों की केवल मानसिक कल्पना है, जिसे उन्होंने ज्ञानी के अनुभव का मतलब लगाने के लिये गढ़ी है। ज्ञानी शब्द का प्रयोग भी इस गलत धारणा को सूचित करता है, क्योंकि इसका सामान्य अर्थ ज्ञान या सत्य को जाननेवाला होता है। अज्ञानी इस शब्द का प्रयोग इस कल्पना के कारण करते हैं कि दुनिया सत्य के शोधकों एवं सत्य को जाननेवालों से बनी है, जबकि आत्मा का यथार्थ सत्य यह है कि ज्ञानी या अज्ञानी नहीं हैं, केवल ज्ञान है।

श्री रमण प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से कई बार इस सत्य को इंगित करते थे, लेकिन प्रश्न करनेवालों में से बहुत कम लोग उनके विधान के सूचितार्थ को

वैचारिक स्तरपर भी ग्रहण करने में समर्थ होते थे। इस कारण वे अपने विचारों का इस प्रकार अनुकूलन करते थे कि सुननेवालों की ग्रहीत धारणाओं के अनुरूप उनको प्रस्तुत किया जा सके। इस प्रकरण के अधिकतर वार्तालापों में वे कहते हैं कि प्रश्न करनेवाले ज्ञानी तथा अज्ञानी में भेद करते हैं। वे उन ग्रहीत पूर्वग्रहों की आधारभूत धारणाओं को गलत सिद्ध करने का प्रयत्न किये बिना ही ज्ञानी की भूमिका ठीक से निभाते हैं तथा ज्ञान की अवस्था में होने के – अर्थात् आत्मनिष्ठ होने के – सूचितार्थों को स्पष्ट करते हैं।

प्र: *तब बद्ध तथा मुक्त में क्या फर्क है?*

उ: साधारण मनुष्य मस्तिष्क में जीता है, और हृदय में रहे हुए अपने सच्चे आत्मा से अनभिज्ञ होता है। ज्ञानी हृदय में जीता है, और जब वह मनुष्यों एवं पदार्थों के साथ व्यवहार करता है, तो वह समझता है कि जिसे वह देख रहा है, वह उस एक परमसत्य – ब्रह्म – से भिन्न नहीं है, जिसको उसने अपने हृदय में अपने आत्मा के रूप में पाया है।

प्र: *साधारण मनुष्य की स्थिति कैसी होती है?*

उ: जैसा मैंने अभी कहा, वह पदार्थों को स्वयं से बाहर देखता है। वह जगत् से स्वयं को भिन्न देखता है, तथा अपने आश्रयभूत गहन सत्य से एवं जिसे वह देखता है उससे भी स्वयं को भिन्न अनुभव करता है। जिसने अपने अस्तित्व का परम सत्य पा लिया है, वह मनुष्य देखता है कि वह परम सत्य जैसे उसके अस्तित्व का, वैसे ही पूरे विश्व का भी मूल है। वस्तुतः वह एक सत्य सब जीवों की आत्मा, तथा सब अनित्य एवं परिवर्तनशील पदार्थों का अन्तिम अधिष्ठानरूप शाश्वत एवं अपरिवर्तनशील तत्व है। [१]

प्र: *ज्ञानी ने जिसका साक्षात्कार किया है, उस शुद्ध चैतन्य का साधारण अनुभव के स्वीकृत प्राथमिक तत्व "मैं हूँ" भाव (अस्मिता) के साथ क्या संबंध है?*

उ: भेदरहित शुद्ध सत्ता की चेतना हृदय है, जो वस्तुतः आप स्वयं है। इस हृदय से हमारे सर्वसाधारण अनुभव का प्राथमिक तत्व – अस्मिता – प्रकट होती है। अपने स्वरूप में यह पूर्णतः शुद्ध, भास्वर सत्व है। इस रजस्-तमस् रहित शुद्ध सत्त्व से "अहं" का उदय होता है, जो ज्ञानी में दिखता है।

प्र: *ज्ञानी में "अहं" अपने शुद्ध रूप में प्रकट होने के कारण सत्य जैसा दिखता है। मेरा यह कथन ठीक है?*

उ: ज्ञानी में या अज्ञानी में किसी भी रूपवाली अहंवृत्ति स्वयं में एक अस्थायी अनुभव ही है। लेकिन चूँकि अज्ञानी मोह से जाग्रत अवस्था एवं जगत् को सत्य समझता है, उसे यह अहंवृत्ति भी सत्य जैसी दिखती है। अज्ञानी ज्ञानी को भी दूसरे जीवों की तरह

कर्म करता हुआ देखता है, इसलिये वह ज्ञानी के संबंध में भी किसी तरह के व्यक्तित्व का आरोपण करने के लिये बाध्य होता है।

प्र: *तो ज्ञानी में अहंवृत्ति किस तरह कार्य करती है?*

उ: उसमें वह कार्य करती ही नहीं। ज्ञानी का सत्य स्वरूप हृदय है, क्योंकि उपनिषद् जिसे प्रज्ञान कहते हैं, उस भेदरहित शुद्ध चैतन्य के साथ वह एकरूप होता है। प्रज्ञान वस्तुत: निरपेक्ष सत्य-ब्रह्म हैं; प्रज्ञान से भिन्न ब्रह्म नहीं है।

प्र: *क्या ज्ञानी में संकल्प, इच्छाएँ होती हैं?*

उ: साधारण मन रजस्-तमस् (उत्तेजना और मूढ़ता) गुणोंवाला होता है। इसलिये वह अहंकारात्मक इच्छाओं तथा दुर्बलताओं से युक्त होता है। लेकिन ज्ञानी का मन शुद्धसत्त्वरूप तथा निराकार होता है, जो सूक्ष्म विज्ञानमय कोश में रहकर कार्य करता है। ज्ञानी इसके माध्यम से जगत् से संपर्क बनाये रखता है, इसलिये उसकी इच्छाएँ भी शुद्ध होती हैं। [३]

प्र: *मैं ज्ञानी के जगत् विषयक दृष्टिकोण को समझने का यत्न करता हूँ। आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् जगत् दिखता है क्या?*

उ: जगत् के विषय में और आत्मसाक्षात्कार के बाद उसका क्या होता है, इसकी चिन्ता क्यों करते हैं? पहले आत्मसाक्षात्कार कीजिये। जगत् दिखे चाहे न दिखे, उससे क्या फर्क पड़ता है? नींद में जगत् नहीं दिखता, तो उससे आपको साधना में किसी प्रकार की सहायता मिलती है? इससे विरूद्ध, इस समय जगत् दिखता है, इससे आपकी क्या हानि होती है? ज्ञानी या अज्ञानी जगत् देखे या न देखे इसका कोई महत्व नहीं है। दोनों को जगत् दिखता है, लेकिन उनके दृष्टिकोण भिन्न हैं।

प्र: *यदि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों जगत् देखते हैं, तो उनमें क्या फर्क रहा?*

उ: ज्ञानी जगत् देखता है, तो संपूर्ण दृश्य के आश्रयरूप आत्मा को देखता है, जबकि अज्ञानी चाहे जगत् को देखे या न देखे, अपनी वास्तविक सत्ता – आत्मा – से अनभिज्ञ से रहता है।

परदे पर दिखनेवाले चलचित्र का उदाहरण लीजिये। चित्रकथा शुरू होने से पहले आपके सामने क्या है? केवल परदा। उस पर आप पूरी कथा देखते हैं, और सब तरह से सोचने पर चित्र सच्चे लगते हैं। लेकिन पास जाकर उनको पकड़ने की कोशिश कीजिये। आप क्या पकड़ते हैं? केवल परदा जिसपर चित्र दिखते हैं। कहानी का अभिनय समाप्त होने पर, जब चित्र अदृश्य हो जाते हैं, तो शेष क्या रहता है? पुन: वही परदा।

आत्मा इसी तरह होता है। वह केवल – अकेला – होता है, चित्र आते-जाते हैं। यदि आप आत्मनिष्ठ बने रहें, तो चित्रों के दिखने से ठगे नहीं जायेंगे, न ही उनके दिखने या न दिखने से कोई फर्क पड़ेगा। आत्मा की अवगणना करके अज्ञानी जगत् को सत्य मानता है। यह ऐसा है जैसे कोई परदे की अवगणना करके केवल चित्रों की ओर ध्यान दे,

जैसे वे परदे से निरपेक्ष अस्तित्व रखते हों। यदि मनुष्य जान ले कि जैसे परदे के सिवा चित्र नहीं हैं, वैसे द्रष्टा के सिवा देखने के लिये कुछ भी नहीं है, तो वह मोहवश होकर ठगा नहीं जाएगा। ज्ञानी समझता है कि परदा और चित्र दोनों केवल आत्मा हैं। चित्रों के साथ आत्मा अपने व्यक्तरूप में तथा चित्रों के अभाव में वह अपने अव्यक्त रूप में रहता है। आत्मा एक या दूसरे रूप में हो, इसका ज्ञानी के लिये कोई महत्तव नहीं है। लेकिन अज्ञानी ज्ञानी को कर्म करते हुए देखकर भ्रम में पड़ जाता है। [४]

प्र: *क्या भगवान् जगत् को अपने भाग के रूप में देखते हैं? वे किस तरह जगत् को देखते हैं?*

उ: आत्मा ही है, और कुछ भी नहीं है। फिर भी वह अज्ञान के कारण भेदयुक्त दिखता है। भेद तीन प्रकार का होता है : सजातीय, विजातीय और स्वगत। जगत् आत्मा की जाति का दूसरा आत्मा नहीं है। वह आत्मा से भिन्न जाति का भी नहीं है। तथा स्वयं आत्मा में कोई विभाग नहीं है।

प्र: *क्या जगत् आत्मा में प्रतिबिम्बित नहीं है?*

उ: प्रतिबिंम्ब के लिये बिम्ब तथा उसे प्रतिबिम्बित करने के लिये स्वच्छ माध्यमरूप वस्तु होनी चाहिये। आत्मा में इस प्रकार के भेदों का अवकाश नहीं है। [५]

प्र: *क्या ज्ञानी स्वप्न देखता है?*

उ: हाँ, वह स्वप्न देखता है। किन्तु वह जानता है कि यह स्वप्न है, जैसे वह जाग्रत को भी स्वप्न ही मानता है। आप इन्हें स्वप्न एक और स्वप्न दो कह सकते हैं। चूँकि ज्ञानी तुरीय – परम सत्य की अवस्था – में प्रतिष्ठित है, वह जाग्रत, स्वप्न, तथा सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं को अनासक्त साक्षी की तरह देखता है, जो चित्रों की तरह उस पर आरोपित हैं। [६]

जो लोग जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति का अनुभव करते हैं, उनकी दृष्टि से जाग्रत-सुषुप्ति जो उन तीनों से पर है, तुरीय या चौथी नाम से जानी जाती है। लेकिन चूँकि केवल तुरीय का ही अस्तित्व है और अन्य तीन सापेक्ष अवस्थाओं का अस्तित्व नहीं है, निश्चित जानिये कि तुरीय ही तुरीयातीत है। [७]

प्र: *तो ज्ञानी की दृष्टि में मन की इन तीन अवस्थाओं में कोई भेद नहीं है?*

उ: कैसे हो सकता है, जब मन नष्ट होकर चैतन्य के प्रकाश में लीन हो गया हो? ज्ञानी के लिये ये तीनों अवस्थाएँ समानरूप से मिथ्या हैं। लेकिन अज्ञानी इस बात को नहीं समझ सकता, क्योंकि उसके लिये जाग्रत अवस्था सत्य का प्रमाण है, जबकि ज्ञानी के लिये सत्य ही सत्य का प्रमाण है। शुद्ध चैतन्य रूप यह सत्य स्वभाव से ही नित्य है, इसलिये वह आप लोग जिन्हें जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति कहते हैं, उनमें समानरूप से विद्यमान रहता है। जो उस सत्य के साथ एकरूप हो गया है, उसके लिये न तो मन है, न ही उसकी तीन अवस्थाएँ हैं, और इसी कारण अन्तर्मुखता एवं बहिर्मुखता भी नहीं है। उसकी नित्य-जाग्रत अवस्था है, क्योंकि वह शाश्वत आत्मा के प्रति सदा जाग्रत है;

वह नित्य स्वप्न में है, क्योंकि उसके लिये जगत् बार-बार दिखनेवाले स्वप्न से ज्यादा मूल्य नहीं रखता; तथा वह नित्य-सुषुप्ति में है, क्योंकि वह हमेशा अशरीर चेतना में प्रतिष्ठित है। (८)

प्र: *क्या ज्ञानी में देहात्मभाव है ही नहीं। उदाहरण के लिये यदि भगवान् को कोई जन्तु काटे, तो संवेदना नहीं होती?*

उ: ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों में देहात्मबुद्धि और संवेदना समान रूप से होती हैं। फर्क केवल इतना है कि अज्ञानी केवल शरीर को आत्मा मानता है, जबकि ज्ञानी जानता है कि सब कुछ आत्मरूप है, अर्थात् यह सब ब्रह्म है। यदि पीड़ा है तो रहे, वह भी आत्मा का भाग है, और आत्मा पूर्ण है।

देहात्मबुद्धि से पर होने पर मनुष्य ज्ञानी बनता है। देहात्मभाव के बिना कर्तृत्व तथा कर्म नहीं रह सकते। इसलिये ज्ञानी के लिये कर्म नहीं है, अर्थात् वह कर्म नहीं करता। यह उसका अनुभव है। अन्यथा वह ज्ञानी नहीं है। लेकिन अज्ञानी ज्ञानी को देह के साथ एकरूप मानता है, जबकि ज्ञानी ऐसी गलती नहीं करता। (९)

प्र: *मैं आपको काम करते देखता हूँ। आप ऐसा कैसे कह सकते हैं कि आप काम नहीं करते?*

उ: रेडियो गाता और बोलता है। लेकिन यदि आप उसे खोलकर देखें तो अंदर आप किसी व्यक्ति को नहीं पायेंगे। इसी प्रकार मेरा अस्तित्व भी आकाश की तरह है। यद्यपि यह शरीर रेडियो की तरह बोलता है, उसमें कोई कर्ता नहीं है। (१०)

प्र: *इस बात को स्वीकार करना मेरे लिये मुश्किल है। कृपया विस्तार से समझाइये।*

उ: यद्यपि जीने और कर्म करने के लिये मन आवश्यक है, धर्मग्रन्थों में दिये गये अनेक उदाहरणों से हम समझ सकते हैं कि ज्ञानी किस प्रकार मन के बिना जीता और कर्म करता है। घड़ा बन जाने के पश्चात् कुम्हार चक्र को छड़ी से घुमाना बंद करता है, तब भी वह चलता रहता है। उसी तरह स्वीच बंद करने से बिजली का प्रवाह बंद होने पर भी पंखा कुछ समय के लिये घूमता रहता है। प्रारब्ध कर्म शरीर का निर्माण जो कर्म करने के लिये करता है, वह उससे पूरा करवाता है। लेकिन ज्ञानी इन कर्मों को कर्तृत्वभाव के बिना ही करता है। यह कैसे संभव होता है, इसे समझाना मुश्किल है। अधिकतर दिया जानेवाला उदाहरण यह है कि ज्ञानी इस प्रकार कर्म करता है, जैसे एक बालक, जिसे खिलाने के लिये नींद से जगाया गया है, खाता तो है, किन्तु सुबह उसे याद नहीं रहता कि कल रात उसने खाया था। इस बात को स्मरण में रखना चाहिये कि ये सारे स्पष्टीकरण ज्ञानी के लिये नहीं हैं। वह जानता है एवं उसे कोई संदेह नहीं है। वह जानता है कि वह शरीर नहीं है, अत: उसका शरीर किसी कार्य में भले लगा हो, वह स्वयं कुछ नहीं करता। ये स्पष्टीकरण देखनेवालों के लिये हैं, जो ज्ञानी को शरीर से एकरूप मानते हैं तथा उसका शरीर के साथ तादात्म्य किये बिना नहीं रह सकते, क्योंकि यह उनका स्वानुभव है।

प्र: *कहा जाता है कि साक्षात्कार का आघात इतना तीव्र होता है कि शरीर उसे सह नहीं सकता।*

उ: ज्ञानी साक्षात्कार के पश्चात् भी भौतिक शरीर में रह सकता है या नहीं, इस विषय में विभिन्न मत हैं। कुछ लोग कहते हैं कि जो मरता हे वह ज्ञानी नहीं है, क्योंकि ज्ञानी का शरीर हवा में लीन हो जाना अर्थात् अदृश्य हो जाना चाहिये। वे कई प्रकार के विचित्र विचार प्रस्तुत करते हैं।

यदि साक्षात्कार होने के तुरंत बाद मनुष्य को देह छोड़ ही देना चाहिये, तो यह बात समझ में नहीं आती कि आत्मज्ञान अर्थात् सिद्ध अवस्था का ज्ञान दूसरे मनुष्यों को प्राप्त कैसे होता है? और इसका यह अर्थ हुआ कि जिन्होंने अपने साक्षात्कार के अनुभव को, हमारे भले के लिये, ग्रंथों में प्रस्तुत किया है, उनको ज्ञानी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे साक्षात्कार के बाद भी जीवित रहे थे। यदि यह मान लिया जाय कि मनुष्य जब तक जगत् में कर्म करता रहता है, तब तक उसे ज्ञानी नहीं माना जा सकता, तो न केवल उन सब महान् ऋषियों को – जिन्होंने साक्षात्कार के पश्चात् भी विविध प्रकार के कर्म किये थे – अज्ञानी ही माना जाना चाहिये, बल्कि देवों को तथा स्वयं ईश्वर को भी अज्ञानी मानना चाहिये, क्योंकि वे भी दुनिया को मार्गदर्शन करने का कर्त्तव्य निभाते हैं। सच बात यह है कि ज्ञानी कर्तृत्व या कर्म के साथ तादात्म्य किये बिना ही किसी भी मात्रा में तथा बहुत कुशलतापूर्वक कर्म कर सकता है। कोई शक्ति उसके शरीर को निमित्त बनाकर उसके माध्यम से कार्य करती है। [११]

प्र: *ज्ञानी संभवत: पाप कर सकता है?*

उ: अज्ञानी ज्ञानी को देखता है, तो उसे उसके शरीर से एकरूप मानता है। चूँकि वह आत्मा को नहीं जानता और शरीर को ही आत्मा मानता है, वह अपनी भूल का ज्ञानी पर भी आरोप करता है। इस तरह वह ज्ञानी को भौतिक आकार मान लेता है। अज्ञानी कर्ता न होने पर भी स्वयं को कर्ता मानता है, अर्थात् शरीर की चेष्टाओं को अपने कर्म मानता है। इसी तरह वह ज्ञानी के शरीर को कर्म करते देख, उसे कर्ता मानता है। लेकिन ज्ञानी सत्य जानता है, और भ्रम में नहीं पड़ता। ज्ञानी की अवस्था का निर्णय अज्ञानी नहीं कर सकता, अत: यह प्रश्न केवल अज्ञानी को सताता है, ज्ञानी के लिये यह प्रश्न उठता ही नहीं। यदि मनुष्य कर्ता है, तो स्वतंत्रता से उसे ही कर्मों के प्रकार का तथा उनके फल का निर्णय करना चाहिये। आत्मा कर्ता हो नहीं सकता। इस प्रकार की विचारणा से कर्ता कौन है उसे ढूँढ निकालिये और आत्मा प्रकट हो जायगा।

प्र: *इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञानी को देखना उसे समझना नहीं है। हम ज्ञानी के शरीर को देखते हैं, उसके ज्ञान को नहीं। ज्ञानी को जानने के लिये मनुष्य को स्वयं ज्ञानी बनना चाहिये।*

उ: ज्ञानी किसी को अज्ञानी नहीं मानता। उसकी दृष्टि में सभी ज्ञानी हैं। अज्ञान दशा में मनुष्य अपने अज्ञान का आरोप ज्ञानी पर करता है और उसे कर्ता समझता है। ज्ञान दशा में ज्ञानी आत्मा से भिन्न किसी वस्तु को नहीं देखता। आत्मा पूर्ण प्रकाशमय एवं शुद्ध ज्ञानमय है, इसलिये ज्ञानी की दृष्टि में अज्ञान है ही नहीं। इस प्रकार के आरोप को समझाने के लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है। दो मित्र पास पास सो गये। उनमें से एक ने स्वप्न में देखा कि वे दोनों लम्बी यात्रा पर निकले हैं और दोनों को विचित्र अनुभव हुए हैं। जगने पर उसने इन घटनाओं को सुनाकर मित्र से पूछा कि क्या यह सही है या नहीं। दूसरे ने उसका उपहास करते हुए कहा कि वह स्वप्न केवल उसी का था, जो दूसरे किसी को प्रभावित नहीं कर सकता। इसी प्रकार अज्ञानी अपने भ्रमपूर्ण विचारों को दूसरों पर आरोपित करता है। [१२]

प्र: *आपने कहा कि ज्ञानी कर्म कर सकता है और करता है, एवं मनुष्यों तथा पदार्थों से व्यवहार भी करता है। अब इस विषय में मुझे संशय नहीं है। लेकिन साथ साथ आप यह भी कहते हैं कि उसकी दृष्टि में सब कुछ एक है, और वह हमेशा इसी एकत्व की चेतना में रहता है। यदि ऐसा है, तो वह निश्चितरूप से भिन्न मनुष्यों तथा वस्तुओं से व्यवहार किस तरह करता है?*

उ: वह इन भेदों को सिर्फ दिखावा मानता है, और उनको उस परम सत्य से, जिसके साथ वह एकरूप है, भिन्न नहीं देखता।

प्र: *ज्ञानी भेदों को सामान्य मनुष्यों से अधिक स्पष्ट रूप में जानता है, और अधिक सच्चाई के साथ उन्हें अभिव्यक्त भी करता है। यदि मेरे लिये शक्कर मिठी है और करेला कड़ुआ है तो ज्ञानी भी इस तथ्य का अनुभव करता है। वस्तुत: सारे रूप, ध्वनियाँ, स्वाद इत्यादि उसके लिये तथा दूसरों के लिये समान हैं। यदि ऐसा है, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि ये सिर्फ बाहरी दिखावा है? क्या ये भेद उसके जीवन के भाग नहीं हैं?*

उ: जैसा मैंने कहा है, समता ज्ञानी का सच्चा लक्षण है। समता शब्द ही भेदों के अस्तित्व को सूचित करता है। सब भेदों में ज्ञानी एकता देखता है, जिसे मैं समता कहता हूँ। समता का अर्थ भेदों का अज्ञान नहीं है। जब आपको ज्ञान होता है, तो आप देखते हैं कि ये भेद केवल बाहरी दिखावा है; वे सच्चे या नित्य नहीं हैं। इन सब बाह्य भेदों में जो अभिन्न तत्त्व है वह सत्य है, जिसको मैं एकत्व कहता हूँ। आपने ध्वनि, स्वाद, रूप, गंध इत्यादि का उल्लेख किया। यह सही है कि ज्ञानी इन भेदों का अनुभव करता है, लेकिन उन सबमें वह हमेशा उस एक को देखता तथा अनुभव करता है। इसी कारण उसे कुछ पसंद या नापसंद नहीं होता। वह घूमता है, बात करता है तथा कर्म करता है, तो यह सब उसी एक सत्य में स्थित रहकर करता है। उसकी दृष्टि में उस एक परम सत्य से अलग कुछ भी नहीं है। [१३]

प्र: *कहा जाता है कि ज्ञानी सबके साथ पूर्ण समत्व का व्यवहार करते हैं।*

उ: हाँ, मैत्री, करुणा, मुदिता, क्षमा जैसे भाव उनका स्वभाव बन जाते हैं। भले लोगों के प्रति स्नेह, दु:खी, असहाय लोगों के प्रति करुणा, अच्छे काम करने में सुख का अनुभव, दुष्टों के प्रति क्षमा का भाव – ये सब ज्ञानी के स्वाभाविक लक्षण हैं (पतंजलि के "योगसूत्र", १.३७)। [१४]

आप ज्ञानियों के बारे में पूछ रहे हैं : वे किसी भी अवस्था या हालात में समान रहते हैं, क्योंकि वे सत्य को जानते हैं। ये खाने, घूमने इत्यादि अपनी सारी क्रियाओं में केवल दूसरों के लिये उद्युक्त होते हैं। कोई काम वे अपने लिये नहीं करते। मैंने आपसे कई बार कहा है कि जैसे कुछ लोग शुल्क लेकर दूसरों के लिये शोक प्रदर्शनार्थ रोते हैं, यही उनका व्यवसाय है, उसी तरह ज्ञानी संसारासक्त जीवों के लिये काम करते हैं, किन्तु स्वयं अनासक्त एवं अप्रभावित रहते हैं।

ज्ञानी गानेवालों के साथ ताल मिलाते हैं, रोनेवालों के साथ रोते हैं, हँसनेवालों के साथ हँसते हैं, खेलनेवालों के साथ खेलते हैं। उनका क्या नुकसान है? उनकी स्थिति शुद्ध दर्पण जैसी होती है। दर्पण बिम्ब को ठीक वह जैसा होता है, वैसा ही प्रतिबिम्बित करता है। लेकिन तब भी वह लिप्त नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी कर्मों से लिप्त नहीं होता। दर्पण तथा तिपाई जिसपर उसे रक्खा गया है, वे दोनों प्रतिबिम्बों से किस तरह प्रभावित हो सकते हैं। वे आधारमात्र हैं, अत: किसी भी वस्तु का उनपर असर नहीं होता। दूसरी ओर जो लोग जगत् में कार्यरत हैं, तथा सभी प्रकार के कर्म करते रहते हैं, उन अज्ञानियों को यह अवश्य निश्चित करना पड़ता है कि कौन सा गाना गाया जाय, कौन से कर्म शास्त्रसम्मत, व्यवहार्य और जगत् के हित में है। [१५]

प्र: *कहा जाता है कि सदेह और विदेह दो प्रकार के मुक्त होते हैं?*

उ: मुक्ति ही नहीं है, और मुक्त कहाँ हैं?

प्र: *क्या हमारे शास्त्र मुक्ति की बात नहीं करते?*

उ: मुक्ति आत्मा का दूसरा नाम है। जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति की सारी बातें अज्ञानी के लिये हैं। ज्ञानी बंधन मुक्ति के विषय में कुछ जानता नहीं है। बंधन मुक्ति तथा मुक्ति की कक्षाएँ अज्ञानी को बताई जाती हैं, जिससे कि वह अज्ञान को झाड़ दे। मुक्ति के अलावा कुछ नहीं है।

प्र: *यह भगवान् की दृष्टि से तो ठीक है, लेकिन हमारा क्या?*

उ: मैं, आप और वह का भेद ज्ञान का विघ्न है। [१६]

प्र: *आपने एकबार कहा था कि मुक्त पुरुष कुछ भी करने के लिये स्वतंत्र है, और मर्त्य शरीर छोड़ने पर वह पूर्णता प्राप्त करता है, फिर से जन्म नहीं लेता जो वस्तुत: मृत्युरूप है। इससे ऐसा सूचित होता है कि यद्यपि ज्ञानी इस भौतिक स्तर पर जन्म नहीं लेता, फिर भी यदि वह चाहे तो सूक्ष्मस्तरों पर रहकर कार्य करना जारी रख सकता है। क्या उसमें कोई चाह शेष रहती है?*

उः नहीं, मेरा ऐसा मतलब नहीं था।

प्रः *दूसरे, एक भारतीय तत्त्वचिंतक अपने एक ग्रन्थ में श्री शंकराचार्य के मत का उल्लेख करते हुए कहता है कि विदेह मुक्ति जैसी कोई चीज नहीं है, क्योंकि मृत्यु के बाद मुक्त पुरुष प्रकाशमय देह धारण करके उसमें तब तक रहता है, जब तक पूरी मानवता मुक्त नहीं हो जाती।*

उः श्री शंकराचार्य का ऐसा अभिप्राय नहीं हो सकता। "विवेकचूडामणि", ५६६ में उन्होंने कहा है कि भौतिक कोशरूप देह के विनाश के पश्चात् मुक्त पुरुष जल में जल की तरह या तेल में तेल की तरह तद्रूप हो जाता है। वह ऐसी अवस्था है, जिसमें न बंधन है, न मुक्ति। दूसरे शरीर को धारण करने का अर्थ सत्य पर आवरण – वह कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो – डालना है, जो कि बंधन है। मोक्ष निरपेक्ष तथा अनिवर्त्य है। (१७)

प्रः *ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि ज्ञानी दो स्तरों में नहीं रहता? वह हमारे साथ जगत् में घूमता है, जिन वस्तुओं को हम देखते हैं उन्हीं को वह भी देखता है। जैसे कि वह जब चलता है, तो मार्ग भी देखता है। यदि मार्ग में कुर्सी या टेबल है, तो उनको देखकर उनसे बचकर चलता है। इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि वह आत्मा को देखने के साथ-साथ जगत् को तथा पदार्थों को भी देखता है?*

उः आप कहते हैं कि ज्ञानी मार्ग देखता है, उस पर चलता है, बीच में आने वाले विघ्नों से बचता है इत्यादि। यह सब किसकी दृष्टि में है, ज्ञानी की या आपकी? वह केवल आत्मा को देखता है, और सबको आत्मा में देखता है।

प्रः *धर्मग्रंथों में इस सहज-स्थिति को समझाने के लिए दृष्टान्त नहीं दिये गये हैं?*

उः हाँ, दिये गये हैं। आप दर्पण को तथा उसमें पड़े प्रतिबिम्ब को भी देखते हैं। आप जानते हैं कि दर्पण सत्य है, तथा उसमें दिखनेवाले चित्र केवल प्रतिबिम्ब हैं। दर्पण को देखने के लिये क्या हमें उसमें दिखनेवाले चित्रों को देखना बंद करने की आवश्यकता होती है? (१८)

प्रः *ऊंची आध्यात्मिकतावाले महात्मा को जानने का मुख्य मानदंड क्या है, क्योंकि कुछ महात्मा पागलों का सा व्यवहार करते है?*

उः ज्ञानी की अवस्था केवल ज्ञानी ही जान सकता है। ज्ञानी को समझने के लिये स्वयं हमें ज्ञानी बनना चाहिये। ज्ञानी महात्मा के चारों ओर वातावरण में शान्ति का अनुभव होता है, वही एक साधन है जिससे कोई साधक किसी महात्मा की महानता को जान सकता है।

उसकी वाणी, कार्य तथा बाह्य रूप उसकी महानता के चिन्ह नहीं हैं, क्योंकि वह साधारण लोगों की समझ से पर है। (१९)

प्रः *ग्रन्थों में कहा गया है कि ज्ञानी बालक जैसे होते हैं, ऐसा क्यों?*

उ: बालक और ज्ञानी एक दृष्टि से समान हैं। घटनाओं में बालक का रस तभी तक होता है, जब तक वे समाप्त नहीं होतीं। समाप्त होने के पश्चात् वे उनके विषय में विचार नहीं करते। इससे मालूम होता है कि बालक पर घटनाएँ कोई प्रभाव नहीं छोड़तीं। वह मानसिक रूप से उनसे अछूता रहता है। ज्ञानी के विषय में भी ऐसी ही होता है। (२०)

प्र: *आप भगवान् हैं। आपको मालूम होना चाहिये कि मुझे ज्ञान कब मिलेगा। बताइये मैं ज्ञानी कब बनूँगा?*

उ: यदि मैं भगवान् हूँ तो आत्मा से अलग कोई है ही नहीं, इसलिये कोई ज्ञानी या अज्ञानी नहीं है। यदि ऐसा नहीं है, तो मैं आपके जैसा ही हूँ और उतना ही जानता हूँ जितना आप जानते हैं। दोनों विकल्पों के अनुसार मैं आपके प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता। (२१)

यहाँ आ करके कुछ लोग अपने बारे में नहीं पूछते। वे पूछते हैं: "क्या जीवन्मुक्त जगत् को देखता है? वह कर्म से प्रभावित होता है? शरीर छूटने के बाद मुक्त का स्वरूप कैसा होता है? मृत्यु के बाद ही मुक्ति होती है, या जीतेजी भी कोई मुक्त हो सकता है? क्या ज्ञानी का शरीर प्रकाश में लीन नहीं हो जाना चाहिये? या किसी अन्य तरीके से अदृश्य नहीं हो जाना चाहिये? वह शरीर को शव रूप में छोड़े, तो उसे मुक्त कहा जा सकता है?"

उनके प्रश्नों का अन्त नहीं। इन सब बातों के बारे में किसी को क्यों चिंतित होना चाहिये? क्या इन सबका उत्तर जान लेना मुक्ति है?

इसलिये मैं उनको कहता हूँ: "मुक्ति की बात छोड़िये, क्या बंधन है? इस प्रश्न क़ा उत्तर ढूँढिये। सबसे पहले अपने आपको जानिये"। (२२)

आत्मानुसन्धान – सिद्धान्त

स्मरण होगा कि "आत्मभान एवं आत्मविस्मृति" के प्रकरण में श्री रमण ने कहा था : "देह-मन के माध्यम से कार्य करनेवाला कोई व्यक्ति है इस विचार को त्यागने मात्र से आत्मसाक्षात्कार किया जा सकता है"। उनके भक्तों में से कुछ परिपक्व साधक तुरन्त इसे सरलता से सिद्ध करने में समर्थ थे। किन्तु दूसरों के लिये जीवनभर की दृढ़ वैचारिक आदतों को – किसी विशेष प्रकार की आध्यात्मिक साधना के बिना – त्यागकर, इसे सिद्ध करना असंभव था। श्री रमण उनकी इस मुश्किल परिस्थिति से सहानुभूति रखते थे, और जब भी आत्म-सभानता बनाये रखने के लिये किसी दूसरी पद्धति बताने के लिये प्रार्थना की जाती, तो वे आत्मानुसंधान नाम की युक्ति बताते थे। यह साधना पद्धति उनके व्यावहारिक आध्यात्मिक उपदेश का मूलाधार थी। अगले तीन प्रकरणों में इसके सभी पहलुओं को विस्तार से प्रस्तुत किया जायगा।

इस युक्ति का वर्णन करने के पूर्व श्री रमण के मन के स्वरूपविषयक विचारों को समझाना आवश्यक है, क्योंकि आत्मानुसन्धान का लक्ष्य स्वानुभव से यह जानना है कि मन का अस्तित्व नहीं है। श्री रमण के मतानुसार मन तथा शरीर की प्रत्येक सभान क्रिया के केन्द्र में कुछ न कुछ करनेवाला "मैं" है। जिसका अस्तित्व पूर्वधारणा के रूप में बिना सोचे-विचारे ही सच्चा मान लिया जाता है। मैं सोचता हूँ, मैं याद करता हूँ, मैं कार्य करता हूँ, इत्यादि में "मैं" सब क्रियाओं की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेता है। श्री रमण इस सामान्य भाव को अहंवृत्ति कहते थे। अहंवृत्ति का अर्थ मन की निरंतर बदलनेवाली मूलवृत्ति होता है। आत्मा अर्थात् सच्चा "मैं" कभी भी मैं करता हूँ या मैं सोचता हूँ, ऐसी कल्पना नहीं करता। लेकिन जो "मैं" इन सब कल्पनाओं को करता है, वह मन की सृष्टि है, अतः उसे आत्मा का बुद्धि में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब माना जाता है। अहंवृत्ति का यह वर्णन कुछ जटिल-सा है, इसलिये मैंने सामान्यतया संक्षेप के लिये "अहं-विचार" शब्द का प्रयोग किया है।

श्री रमण यह मानते थे कि व्यक्तित्व विभिन्न रूपों में स्वयं को प्रकट करनेवाला अहंविचारमात्र है। बुद्धि, स्मृति एवं अहंभाव इत्यादि मन के विविध व्यापारों को

अलग मानने के बजाय, वे उनको अहंविचार के भिन्न-भिन्न रूप मानना पसंद करते थे। व्यक्तित्व मन से अलग नहीं है, मन अहंविचार से अलग नहीं है, अतः सच्चे "मैं" रूप आत्मा का ज्ञान होने पर उससे भिन्न व्यक्तित्व का भाव यदि अदृश्य हो जाय, तो मन तथा अहंविचार भी अदृश्य हो जाते हैं। इस तथ्य की पुष्टि उनके बार-बार किये गये इस विधान से होती है कि आत्मसाक्षात्कार के बाद विचारों का विचारक, कर्मों का कर्ता तथा अलग व्यक्ति होने की सभानता वाला जीव नहीं रहता।

चूँकि उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि जिसका सच्चा अस्तित्व है, वह आत्मा ही एकमात्र सत्य है, अहंविचार भ्रान्तिजन्य कल्पना से अधिक कुछ भी नहीं है, अर्थात् उसका अपना स्वतंत्र, सच्चा अस्तित्व नहीं है। तो फिर वह दिखता क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर वे यह कहकर देते थे कि किसी पदार्थ से एकरूप हुए बिना उसका अस्तित्व दिखता नहीं है। जब विचार उत्पन्न होते हैं, तो यह अहं विचार उनके स्वामित्व का दावा करता है; जैसे, "मैं सोचता हूँ, मैं मानता हूँ, मैं काम कर रहा हूँ" इत्यादि। लेकिन जिन स्थूल-सूक्ष्म पदार्थों से वह एकरूप होता है, उनसे भिन्न किसी अलग अहंविचार का अस्तित्व नहीं होता। वह सतत रहनेवाला तत्व है ऐसा इसलिये लगता है कि उसका वस्तुओं से तादात्म्य का प्रवाह निरंतर जारी रहता है। इन सारे तादात्म्यों का मूल इस गलत प्रारंभिक धारणा में ढूँढा जा सकता है कि यह "मैं" – आकार का अहंविचार शरीर के स्वामी के रूप में या उसमें निवास करने वाले के रूप में शरीरतक मर्यादित है, अथवा शरीर के भौतिक आकार के समान आकारवाला है। "मैं शरीर हूँ" ऐसा मूल विचार, उसके उत्पन्न होने के पश्चात् होनेवाले सब गलत तादात्म्यों का जन्मस्थान हे, और इसका विनाश आत्मानुसंधान का मुख्य लक्ष्य है।

श्री रमण हमेशा कहते कि यह आत्मा को मर्यादित करनेवाले तादात्म्यों की पुरानी आदत को, द्रष्टा "मैं" को वह जिन वस्तुओं के विचारों से स्वयं को एकरूप मानता है, उनसे अलग करने के प्रयत्न के द्वारा रोकी या बदली जा सकती है। चूँकि इस वैयक्तिक अहंविचार का अस्तित्व किसी पदार्थ के आश्रय के बिना टिक नहीं सकता, यदि साधक द्रष्टारूप "मैं" अथवा "मैं हूँ" के अनुभव पर इतनी तीव्र एकाग्रता से ध्यान केन्द्रित करे कि "मैं यह या वह हूँ" ऐसे विचार उत्पन्न ही न हों, तो वैयक्तिक "मैं" पदार्थों के साथ तादात्म्य नहीं कर सकेगा। इस मूलभूत "अहं" के प्रति निरंतर ध्यान जारी रक्खा जाय तो वैयक्तिक "मैं" अदृश्य हो जायगा, और उसके स्थान में आत्मा का सीधा अनुभव होने लगेगा। इस "मैं" या "मैं हूँ" के प्रति सतत आन्तरिक सभानता बनाये रखने के प्रयत्न को श्री रमण आत्मानुसंधान कहते थे, और अहंविचार की असत्यता प्रकट कर देनेवाले सबसे अधिक प्रभावी उपाय के रूप में इसकी सिफारिश करते थे।

श्री रमण के शब्दों में यह अहंविचार आत्मा अर्थात् हृदय से प्रकट होता है, और जब उसकी वस्तुओं के विचारों के साथ तादात्म्य स्थापित करने की पुरानी आदत छूट जाती है, तो आत्मा में विलीन हो जाता है। इस कारण वे हमेशा अपने उपदेश को अहंविचार के उदय तथा अस्त की प्रक्रिया के साथ जोड़ते थे। वे कहते कि अहंविचार को उसके जन्मस्थान में लीन कर दीजिये या अहंविचार कहाँ से प्रकट होता है, इसकी तलाश कीजिये। इन सब विधानों का तात्पर्य समान होता है। भाषा किसी भी प्रकार की हो, वे अपने भक्तों को अहंविचार की सभानता तब तक बनाये रखने की सलाह देते थे जब तक वह जहाँ से प्रकट हुआ था उसी अपने जन्मस्थान में लुप्त न हो जाय।

वे अक्सर कहा करते थे कि "मैं" का निरंतर विचार करने से अथव बार-बार "अहम्" का मानसिक उच्चारण करने से भी सही दिशा में गति-प्रगति हो सकती है, लेकिन यह ध्यान में रखना जरूरी है कि अभ्यास की यह प्रारंभिक भूमिका है। "मैं" का उच्चारण विचारक एवं विषयविचार के द्वैत की सीमा में होता है, तथा इस प्रकार के द्वैत के रहते अहंविचार बढ़ता रहेगा। आखिर वह तभी नष्ट होगा जब स्थूल भौतिक पदार्थों का और सूक्ष्म मानसिक विचारों का दिखना समाप्त होगा। यह परिणाम अहं के विषय में सभानता रखने मात्र से प्राप्त नहीं होता, अहंरूप हो जाने पर ही प्राप्त होता है। किसी भी पदार्थ के विषय में सभान रहने के बजाय केवल द्रष्टा का अनुभव करने की भूमिका आत्मानुसंधान की पराकाष्ठा है, जिसकी विस्तृत चर्चा अगले प्रकरण में की जायगी।

यह महत्त्वपूर्ण भेद वह तत्त्व है जो आत्मानुसंधान को अन्य सब आध्यात्मिक साधना पद्धतियों से अलग करता है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि श्री रमण क्यों दूसरी साधना प्रणालियों को हमेशा बेअसर बताते थे। वे अक्सर यह स्पष्ट करते कि पारंपरिक ध्यान-पूजन में एवं योग के अभ्यास में ध्याता तथा ध्येय की आवश्यकता होती है, जिससे अहंविचार नष्ट होने की बजाय पुष्ट होता है। उनके मत के मुताबिक ऐसी साधनापद्धतियाँ मन को सफलतापूर्वक अस्थायी रूप से शान्त कर सकती हैं, एवं संभवतः आनन्दपूर्ण अनुभूतियों को भी प्रकट कर सकती हैं, लेकिन कभी भी आत्मसाक्षात्कार में परिणत नहीं हो सकतीं, क्योंकि इनसे अहंविचार स्पष्ट रूप से अलग होकर अपने अस्तित्व को मिटा नहीं सकता। इस प्रकरण में दिये गये वार्तालाप अधिकतर श्री रमण के आत्मानुसन्धानविषयक सैद्धान्तिक विचारों को प्रस्तुत करते हैं। इस तकनीक के व्यावहारिक पहलू प्रकरण-९ में विस्तार से दिये जायेंगे।

प्र: *मन का स्वरूप क्या है?*

उ: मन अहंविचार से भिन्न नहीं है। मन तथा अहंकार एक हैं। उसकी बुद्धि, स्मृति इत्यादि शक्तियाँ भी मन ही है। मन, बुद्धि, चित्त जिसमें संचित वासनाएँ-संस्कार रहते हैं, तथा अहंकार, ये सब एक मन ही है। यह ऐसा है जैसे किसी मनुष्य को उसके विभिन्न कार्यों के अनुसार विभिन्न नाम दिये जाते हैं। वैयक्तिक जीव इस अहंकार से भिन्न कुछ भी नहीं है। [(१)]

प्र: *हम मन के स्वरूप को कैसे जान सकते हैं, अर्थात् उसका अंतिम कारण या तत्त्व क्या है, जिसका वह प्रकटीकरण है?*

उ: विचारों को उनकी मूल्यवत्ता के क्रम में देखने पर अहंविचार सबसे अधिक महत्व का लगता है। व्यक्तित्वविचार अन्य सब विचारों का मूल या स्कन्ध है, क्योंकि प्रत्येक वृत्ति या विचार किसी व्यक्तिविशेष के विचार के रूप में ही प्रकट होता है और अहंकार से स्वतंत्र उसका अस्तित्व कहीं भी नहीं देखा जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि अहंकार विचार-प्रक्रिया प्रदर्शित करता है। प्रथम पुरूष मैं को ही तुम, वह इत्यादि द्वितीय, तृतीय पुरूष दिखते हैं, तो ऐसा लगता है कि तीनों पुरूषों का साथ साथ उदय-अस्त होता है। इसलिये इस "मैं" या व्यक्तित्व के अन्तिम कारण का अन्वेषण करना चाहिये। [(२)]

यह "मैं" कहाँ से उत्पन्न होता है? इसे अंदर ढूँढिये, तो वह अदृश्य हो जाता है। य ज्ञानमार्ग है। जब मन अपने स्वरूप का निरन्तर अन्वेषण करता है, तो अंत में यह ज्ञान होत है कि मन जैसी कोई वस्तु नहीं है। यह सबके लिये सीधा, सरल मार्ग है। मन विचार समूह मात्र है। सब विचारों का मूल अहंविचार है। इस प्रकार केवल अहंविचार ही मन है। [(३)]

अहंविचार का जन्म व्यक्ति का जन्म है, और उसकी मृत्यु व्यक्ति की मृत्यु है। अहंविचार के उत्पन्न होने पर शरीर के साथ गलत तादात्म्य होता है। अहंविचार का त्याग कीजिये। जब तक "मैं" जीवित है, तब तक शोक रहेगा। जब "मैं" का अस्तित्व लुप्त होता है, तो शोक नहीं रहता।

प्र: *हाँ, लेकिन जब मैं अहंविचार सूत्र को पकड़े रखना चाहता हूँ तो अन्य विचार उत्पन्न होते हैं और मुझे परेशान करते हैं।*

उ: देखिये कि ये विचार किसके हैं, तो वे अदृश्य हो जायेंगे। अहंविचार उनका मूल है, उसे पकड़े रहिये, तो वे लुप्त हो जायेंगे। [(४)]

प्र: *अहंकार द्वारा शुरू की गई गवेषणा उसी की असत्यता कैसे प्रकट कर सकती है?*

उ: अहंविचार जहाँ से उत्पन्न होता है, उस मूल स्रोत में जब आप डूबकी लगाते हैं, तो आप अहंकार के दिखावे के अस्तित्व से पर हो जाते हैं।

प्र: *लेकिन क्या अहंवृत्ति उन तीन रूपों में से एक नहीं है, जिनमें अहंकार स्वयं को प्रकट करता है? योगवासिष्ठ तथा अन्य प्राचीन ग्रंथ अहंकार को तीन रूपोंवाला बताते हैं।*

उ: सही है, अहंकार को स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण – इन तीन शरीरोंवाला बताया जाता है। लेकिन यह केवल विश्लेषणात्मक निरूपण के लिये है। यदि अन्वेषण की पद्धति को अहंकार के रूपों पर आश्रित बनाना पड़े, तो किसी भी प्रकार की गवेषणा असंभव हो जायगी, क्योंकि अहंकार असंख्य रूपों को धारण कर सकता है। इसलिये आत्मानुसंधान के लिये आपको अहंकार का एक ही अहंवृत्तिवाला रूप है, ऐसा मानकर चलना पड़ेगा।

प्र: *लेकिन ज्ञानप्राप्ति के लिये यह शायद अपर्याप्त सिद्ध हो सकता है।*

उ: अहंवृत्ति के सूत्र को पकड़कर आत्मा का अनुसंधान करना ऐसा है, जैसे कुत्ता सूँघकर अपने मालिक को पा लेता है। मालिक चाहे अनजाने दूर के स्थान में हो, लेकिन यह कुत्ते के मार्ग में विघ्न नहीं बनता। उस प्राणी के लिये अपने मालिक की गन्ध ही पर्याप्त संकेत है। उसके वेष की, आकार की, ऊँचाई इत्यादि की जानकारी जरा भी आवश्यक नहीं है। कुत्ता उसे ढूँढते समय उसकी गन्ध को एकाग्रता से सूत्र की तरह पकड़े रहता है, और अंत में उसे पाने में सफल होता है।

प्र: *मन की दूसरी वृत्तियों को छोड़कर इस अहंवृत्ति के मूल की तलाश को ही आत्मसाक्षात्कार का सीधा मार्ग क्यों माना जाय? यह प्रश्न फिर भी अनुत्तर रहता है।*

उ: यद्यपि "मैं" या "मैं हूँ" का भाव दुनिया के व्यवहार में अहंवृत्ति माना जाता है, लेकिन वस्तुत: यह मन की अन्य वृत्तियों की तरह साधारण वृत्तिमात्र नहीं है, क्योंकि परस्पर असंबद्ध अन्य सब वृत्तियों से भिन्न यह अहंवृत्ति मन की दूसरी सब वृत्तियों से तात्त्विक रूप से संबद्ध है। अहंवृत्ति के बिना अन्य कोई भी वृत्ति टिक नहीं सकती, लेकिन स्वयं अहंवृत्ति मन की अन्य वृत्तियों के बिना भी स्वतंत्र रूप से रह सकती है। इस कारण अहंवृत्ति अन्य सब वृत्तियों से मूलभूत रूप से भिन्न है।

इससे यह स्पष्ट है कि अहंवृत्ति के मूल की तलाश अहंकार के किसी एक रूप के आधार की तलाश नहीं है, बल्कि उस मूल स्रोत की तलाश है, जहाँ से "मैं" का भाव प्रकट होता है। दूसरे शब्दों में, अहंवृत्तिरूप अहंकार के मूल की तलाश एवं उसकी प्राप्ति आवश्यक रूप से अहंकार तथा उसके प्रत्येक संभवित रूप से पर होने का मार्ग है।

प्र: *यह स्वीकार करने पर भी कि स्वत: अहंवृत्ति में अहंकार के सभी रूपों का समावेश होता है, आत्मसाक्षात्कार के लिये केवल उसी वृत्ति का आश्रय क्यों लिया जाना चाहिये?*

उ: क्योंकि केवल वही आपके अनुभव का अपरिहार्य सूत्र है, और उसके मूल की तलाश करना ही एकमात्र व्यवहार्य मार्ग है, जिसका आत्मसाक्षात्कार के लिये आप आश्रय ले सकते हैं। कहा जाता है कि अहंकार का एक रूप कारण शरीर है – गाढ़ निद्रा की अवस्था है, लेकिन आप उसे अपनी तलाश का क्षेत्र कैसे बना सकते हैं? जब अहंकार उस रूप का आश्रय लेता है, तो आप गहरी नींद के अंधकार में डूबे रहते हैं।

प्र: *लेकिन क्या अहंकार अपने सूक्ष्म एवं कारण शरीरवाले रूपों में अमूर्त और अत्यंत अग्राह्य नहीं होता, जिसे उसकी जाग्रत अवस्था में ही की गई तलाश से पकड़ पाना असंभव है?*

उः नहीं। अहंवृत्ति के मूल का अन्वेषण अहंकार के पूरे अस्तित्व को स्पर्श करता है। इस कारण अहंकार के रूपों की सूक्ष्मता तथा अग्राह्यता विशेष महत्व नहीं रखती।

प्रः *जबकि एकमात्र लक्ष्य आत्मा की पूर्णता का अथवा शुद्ध सत्ता का अनुभव प्राप्त करना है, जो किसी भी तरह अहंकार के आश्रित नहीं है, तब अहंवृत्तिरूप अहंकार विषयक अन्वेषण उपयोगी कैसे हो सकता है?*

उः कार्यकारी रूप में अहंकार का केवल एक लक्षण है। अहंकार शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा तथा अचेतन शरीर के बीच गाँठरूप है। इस कारण उसे "चित्-जड-ग्रंथि" कहा जाता है। अहंवृत्ति के मूल के अन्वेषण के दौरान आप अहंकार के तात्त्विक चिद्रूप पहलू का आश्रय लेते हैं। इस कारण आपका अन्वेषण आपको अवश्य आत्मा के शुद्ध चैतन्य के अनुभव की ओर ले जाता है। [४]

आपको अपने आप में शुद्ध अहं का तथा अहंविचार का भेद अवश्य करना चाहिये। अहंविचार वस्तुतः विचारमात्र है, इसलिये वह द्रष्टा और दृश्य को देखता है, सोता है, जगता है, खाता है, सोचता है, मरता है और फिर जन्म लेता है। लेकिन शुद्ध अहं शुद्ध सत्ता या अस्तित्व है जो अज्ञान, तथा विचाररूप भ्रम से मुक्त है। यदि आप निर्विचार होकर केवल अपने केवलसत्तारूप अहं बनकर रहें, तो अहंविचार अदृश्य हो जायगा और भ्रम हमेशा के लिये मिट जायगा। चलचित्रगृह में आप बहुत मंद प्रकाश में अथवा अंधकार में चित्र देख सकते हैं, पूरे प्रकाश में चित्र लुप्त हो जाते हैं। इसी तरह परम आत्मा के पूर्ण प्रकाश में सारे पदार्थ अदृश्य हो जाते हैं।

प्रः *वह निरपेक्ष, पर अवस्था है।*

उः नहीं। किससे पर, और किसके द्वारा? केवल आपकी ही सत्ता है। [५]

प्रः *कहा जाता है कि आत्मा मन से पर है, फिर भी उसका अनुभव मन से ही होता है। मन उसका चिन्तन नहीं कर सकता। मन से उसका विचार या कल्पना भी नहीं की जा सकती, और सिर्फ मन से उसे देखा जाता है। इन विरोधों का मेल किस प्रकार बिठाया जाय?*

उः आत्मा का अनुभव मृत – मरे हुए – मन से अर्थात् निर्विचार, अन्तर्मुख मन से होता है। तब मन अपने मूल आश्रय – आत्मा – को देखता है, और तद्रूप हो जाता है। तब कोई द्रष्टा किसी दृश्य को नहीं देखता। जब कमरे में अंधेरा हो, तो वस्तुओं को देखने में नेत्रों की सहायता के लिये दीपक आवश्यक होता है। लेकिन जब सूर्योदय हो जाय, तो उसकी आवश्यकता नहीं होती। सूर्य को देखने के लिये दीपक की आवश्यकता नहीं होती, आप अपने नेत्रों को स्वयंप्रकाश सूर्य की ओर मोड़ें इतना ही केवल जरूरी है।

इसी प्रकार का मन का उपयोग है। पदार्थों को देखने के लिये मन के प्रतिबिम्बित प्रकाश की आवश्यकता है। हृदय को देखने के लिये मन को उसकी ओर अन्तर्मुख कर देना पर्याप्त है। तब मन नष्ट हो जाता है, और हृदय प्रकाशित हो उठता है। [७]

मन का मूल तत्त्व चैतन्य या सभानता है। जब वह अहंकार के आधीन होता है, तब वह तर्क करने की, विचार करने की, और इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करने की शक्ति के रूप में कार्य करता है। चूँकि वैश्विक मन अहंकार से सीमित नहीं होता, उसके लिये स्वयं से भिन्न कुछ भी नहीं है, अत: वह केवल चैतन्य रूप है। (*आइ एम धेट आइ एम*) "मैं हूँ वह मैं हूँ" - इस बाइबल के कथन का यह अभिप्राय है। [८]

अपने ही आत्मा की परम चेतना में जब मन का लय होता है, समझिये कि तब इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान इत्यादि की सारी शक्तियाँ उस चेतना में केवल काल्पनिक ख्यालों जैसी दिखती हैं, और स्वत: पूर्णतया लुप्त हो जाती हैं। स्मृति एवं विस्मृति जैसे द्वन्द्वों के सहारे कार्य करनेवाला अशुद्ध मन ही जन्ममरणचक्ररूप संसार है, विचार तथा विस्मृति की क्रियाएँ जिसमें नष्ट हो गई हैं, ऐसा सच्चा अहं ही मोक्ष है, और उसमें जन्ममरण का हेतु प्रमाद (आत्मविस्मृति) नहीं है। [९]

प्र: *अहंकार का नाश कैसे किया जाय?*

उ: पहले अहंकार को पकड़ कर दिखाइये, फिर पूछिये कि इसका नाश कैसे किया जाय। यह प्रश्न कौन पूछता है? अहंकार। क्या अहंकार कभी भी स्वयं अपने मृत्यु की संमति दे सकता है? ऐसे प्रश्न पूछते रहना अहंकार को सुरक्षित रखने का मार्ग है, उसे नष्ट करने का नहीं। यदि आप अहंकार की प्रामाणिक तलाश करें, तो आपको ज्ञात होगा कि उसका अस्तित्व नहीं है। यही उसके विनाश का मार्ग है। [१०]

प्र: *आत्मानुभव किस प्रकार संभव बनाया जाता है?*

उ: अग्नि से चिनगारी की तरह आत्मा से एक स्फुलिंग निकलता है जिसे अहंकार कहते हैं। अज्ञानी में यह उत्पन्न होते ही स्वयं को किसी पदार्थ के साथ तद्रूप बना देता है। वस्तुओं से तादात्म्य किये बिना - उनसे असंबद्ध रहकर - वह टिक नहीं सकता। यह संबंध अज्ञान है, जिसका नाश हमारे प्रयत्नों का लक्ष्य है। यदि उसकी स्वयं के विषयीकरण की यह आदत तोड़ दी जाय, तो वह शुद्ध बना रहता है, तथा अपने मूल में लुप्त हो जाता है। देह के साथ उसका गलत तादात्म्य "देहात्मभाव" है। अच्छे परिणामों के पूर्व यह अवश्य जाना चाहिये।

दो अवस्थाओं तथा दो विचारों के बीच में इस "अहं" का उसकी शुद्ध स्थिति में अनुभव किया जा सकता है। अहंकार उस जोंक (तृणजलूका) की तरह है, जो अपना पहला आश्रय तभी छोड़ती है, जब वह अगले कदम का आश्रय पा लेती है। जब वह पदार्थों के एवं विचारों के संपर्क से मुक्त होता है, तब अहंकार का सच्चा रूप जाना जाता है। [११]

यह प्रेत-पिशाच जैसा अरूप अहंकार रूप का आश्रय लेकर के ही अस्तित्व में आता है, रूपों से पोषण प्राप्त करके पुष्ट होता है, तथा दूसरे रूप का ग्रहण करके ही पूर्व के रूप को छोड़ता है, लेकिन अन्वेषण करने पर अदृश्य हो जाता है।

यदि "मैं देह हूँ" ऐसे रूपवाला प्रथम पुरुष अहंकार का अस्तित्व होता है, तभी तू, वह इत्यादि द्वितीय, तृतीय पुरुष भी होते हैं। प्रथम पुरुष के सत्य का अन्वेषण करके यदि उसे नष्ट किया जाय, तो द्वितीय, तृतीय पुरुष भी नहीं रहते और जैसी आत्मा की शुद्ध अवस्था होती है, वैसे ही मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप में प्रकाशित होता है। [१२]

"मैं रक्त-मांसमय शरीर हूँ" यह विचार ही वह एक सूत्र है जिसमें दूसरे विविध विचार पिरोये गये हैं। इसलिये यदि यह "मैं" कहाँ है? इस प्रकार तलाश करते हुए भीतर की ओर मुड़कर देखें, तो अहंविचार के साथ सब विचार समाप्त हो जायेंगे, और तब आत्मा अपने आप प्रकाशित होगा। [१३]

प्र: *मैंने जब श्री भगवान् की रचनाएँ पढ़ीं तो मुझे मालूम हुआ कि अपना अन्वेषण आत्मानुभव की एकमात्र पद्धति है।*

उ: हाँ, उसे विचार कहा जाता है।

प्र: *उसे किस तरह किया जाता है?*

उ: प्रश्न करनेवाले को अवश्य अपने आत्मा का स्वीकार करना पड़ता है। "मैं हूँ" यह आत्मानुभव है। वर्तमान "मैं" के भाव को अन्वेषण के सूत्ररूप में पकड़कर शुद्ध आत्मानुभव तक तलाश जारी रखना विचार है। विचार एवं आत्मानुभव एक हैं।

प्र: *यह स्पष्ट नहीं है। मुझे किस पर ध्यान करना चाहिये?*

उ: ध्यान के लिये ध्येय की आवश्यकता होती है, विचार में ध्येय-रहित केवल ध्याता होता है। ध्यान एवं विचार में यह भेद है।

प्र: *क्या ध्यान आत्मानुभव की कार्यक्षम प्रक्रियाओं में से एक नहीं है?*

उ: किसी एक वस्तु पर एकाग्रता ध्यान है। विविध विचारों को रोककर केवल एक विचार पर चित्त को एकाग्र करने के हेतु ध्यान किया जाता है। आत्मानुभव के पूर्व यह एक विचार भी अदृश्य हो जाना चाहिये। लेकिन आत्मानुभव में कोई नई वस्तु प्राप्त नहीं करनी होती है; वह प्रथम से ही है, परंतु विचारों के परदे से छिपा हुआ है। हमारे सारे प्रयत्न इस परदे को हटाने के लिये हैं, तब आत्मानुभव प्रकट होता है।

यदि साधकों को ध्यान करने की सलाह दी जाय, तो बहुत लोग संतुष्ट होकर चले जायेंगे। लेकिन उनमें से कोई वापस आकर पूछ सकता है : "किसी भी वस्तु पर ध्यान करने वाला मैं कौन हूँ?" ऐसे साधक को आत्मा की तलाश करने के लिये ही कहना चाहिये। वह अन्तिम भूमिका है – विचार है।

प्र: *क्या ध्यान के बिना केवल विचार से काम चलेगा?*

उ: विचार प्रक्रिया है, और लक्ष्य भी है। "मैं हूँ " यह लक्ष्य है और अंतिम सत्य है। प्रयत्नपूर्वक उसे पकड़े रहना विचार है, जब स्वाभाविक, अनायास एवं स्वयंस्फूर्तरूप में रहने लगे तो आत्मानुभव है। [१४] चित्तलय के लिये सबसे अधिक कार्यक्षम विचार को छोड़कर अन्य कोई प्रभावी मार्ग है ही नहीं। दूसरी पद्धतियों से मन को शान्त किया जाय,

तो अल्प समय के लिये वह समाधिस्थ होगा, लेकिन पुनः विक्षिप्त हो जायगा। [१४] आत्मानुसंधान एकमात्र अमोघ साधन है, और सीधा मार्ग है, जिससे पूर्ण, निर्गुण, अनंत सत्ता स्वयं आप हैं, इस सत्य का आप अनुभव कर सकते हैं।

प्रः *आत्मानुसंधान को ही ज्ञान का एकमात्र सीधा मार्ग क्यों माना जाय?*

उः क्योंकि आत्मविचार से भिन्न सभी साधनाओं में साधन के रूप में मन को बनाये रखने की पूर्वधारणा स्वीकृत होती है, क्योंकि मन के बिना उनका अनुसरण नहीं किया जा सकता। साधना की विभिन्न भूमिकाओं में अहंकार सूक्ष्म से सूक्ष्म रूपों को धारण करता है, किन्तु कभी भी नष्ट नहीं होता।

जनक ने जब कहा: "अब मैंने उस चोर को जान लिया है, जो अब तक मुझे परेशान करता रहा; अब मैं अविलंब उसको नष्ट करने का सीधा उपाय करूँगा" तो वह राजा अहंकार या मन के उद्देश से ऐसा कह रहा था।

प्रः *लेकिन इस चोर को अन्य साधनाओं से भी तो पकड़ा जा सकता है?*

उः आत्मविचार से भिन्न साधनाओं के द्वारा अहंकार या मन को नष्ट करने का यत्न ऐसा है जैसे पुलिस वेषधारी चोर ही चोर को अर्थात् स्वयं को पकड़ने का नाटक करे। आत्मविचार ही इस सत्य को प्रकट कर सकता है कि वास्तव में अहंकार का अस्तित्व नहीं है, और मनुष्य को आत्मा की पूर्ण, शुद्ध, अद्वैत सत्ता का अनुभव करा सकता है।

आत्मानुभव होने के पश्चात् कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, क्योंकि आत्मा पूर्ण आनंद और सर्वरूप है। [१६]

प्रः *आत्मानुसंधान अन्य पद्धतियों से अधिक सीधी पद्धति क्यों है?*

उः अपने आपसे अभिन्न, केवल, पूर्ण, शाश्वत परम आत्मा में निष्ठा ही शरीर से आबद्ध जीव के लिये भवसागर से पार जाने की एकमात्र नाव है। [१७]

अहंकार का नाश ही सत्य है। अहंकार की पहचान की तलाश करके उसे नष्ट कर दीजिये। चूँकि अहंकार कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, वह अपने आप अदृश्य हो जायगा, और सत्य स्वयं प्रकट होगा। यह सीधी पद्धति हैं; और सब पद्धतियाँ अहंकार को बनाये रखती हैं। उनमें कई संदेह उत्पन्न होते हैं, तथा "मैं कौन हूँ" इस सनातन प्रश्न का समाधान करना अंत में बाकी रहता है। किन्तु इस पद्धति में अंतिम प्रश्न ही एकमात्र प्रश्न है और उसे प्रारंभ में ही उठाया जाता है, तथा इसमें अन्य किसी साधना की आवश्यकता नहीं है।

इससे बड़ा कोई रहस्य नहीं कि स्वयं सत्य होकर हम सत्य की तलाश में हैं। हम सोचते हैं कि हमारे सत्य को कोई आवरण छिपाये हुए है, जिसे हटाना जरूरी है। यह हास्यास्पद है। एक दिन आयेगा जब आप अपने प्रयत्नों पर हँसेंगे। जो हँसने के दिन होगा वह अभी और यहीं है। [१८]

प्रकरण ५

आत्मानुसंधान – अभ्यास

आत्मानुसंधान का अभ्यास प्रारंभ करनेवालों को श्री रमण अपनी "मैं" विषयक आन्तरिक अनुभूतिपर ध्यान एकाग्र करने की तथा संभव हो तब तक उसे जारी रखने की सलाह देते थे। उनको कहा जाता था कि चित्त यदि दूसरे विचार की ओर चला जाय, तो इसका ख्याल आते ही उसे "मैं" की अनुभूति पर पुनः एकाग्र करना चाहिये। इस प्रक्रिया में सहायता के लिये वे विविध उपाय बताते थे : साधक स्वयं को "मैं कौन हूँ" अथवा "यह 'मैं' का भाव कहाँ से उत्पन्न होता है?" ऐसे प्रश्न पूछ सकता है। अंतिम लक्ष्य "मैं" के विषय में हमेशा सभान रहना है, जो शरीर-मन की सब चेष्टाओं के लिये स्वयं को जिम्मेवार मान लेता है।

अभ्यास के प्रारंभ में "मैं" की अनुभूति के प्रति चित्त एकाग्र करने का काम सोचने और देखने के रूप में चलता है। जैसे जैसे अभ्यास आगे बढ़ता है, तो यह "मैं" विषयक विचार लुप्त हो जाता है और उसके स्थान में "मैं" की या आत्मसत्ता की केवल अनुभूति रहती है, और जब यह अनुभूति स्वयं को पदार्थों तथा विचारों के साथ संबंधित होने की और उनसे एकरूप बनने की आदत छोड़ देती है, तो वह पूर्णतया अदृश्य हो जाती है। तब केवल सत्ता का अनुभव शेष रहता है, जिसमें व्यक्तित्व की सक्रियता अस्थायी रूप से समाप्त हो जाती है। शुरू शुरू में यह अनुभव रुक रुक कर उत्पन्न होता है, लेकिन बार-बार अभ्यास करने पर उसे लाना तथा बनाये रखना क्रमशः सरल से सरलतर होता जाता है। जब आत्मा-नुसंधान करनेवाला इस भूमिका तक पहुँचता है, तब उसमें अनायास सत्ता का भाव प्रकट होता है, जिसमें प्रयत्न करनेवाला अहंकार अस्थायीरूप से लुप्त हो जाने के कारण वैयक्तिक प्रयास असंभव हो जाता है। लेकिन यह आत्मसाक्षात्कार नहीं है, क्योंकि अहंविचार बार-बार पुनः उत्पन्न होता रहता है, फिर भी यह अभ्यास की उच्चतम भूमिका है। इस अवस्था के बार-बार अनुशीलन से अहंविचार को जन्म देनेवाली वासनाएँ दुर्बल बनकर अंत में नष्ट हो जाती हैं, और जब इस प्रकार उनका प्रभाव पर्याप्त मात्रा में क्षीण होता है, तब आत्मा की शक्ति शेष

वासनाओं को इस प्रकार नष्ट कर देती है कि अहंविचार फिर कभी भी उत्पन्न नहीं होता। यह आत्मसाक्षात्कार की अंतिम और अनिवर्त्य अवस्था है।

आत्मसभानता को बनाये रखने का यह अभ्यास एक सौम्य उपाय है, जिसमें मन का बलपूर्वक निग्रह करने की पद्धतियों का प्रयोग नहीं किया जाता। यह मन को एकाग्र करने की या विचारों को बलपूर्वक दबा देने की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि मन के जन्मस्थान की सभानता को सहज रूप से जारी रखने का प्रयास है। आत्मानुसंधान की पद्धति तथा उसका लक्ष्य मन के मूल में रहना है, तथा स्वयं जो नहीं है उन सब बातों से रस तथा ध्यान हटाकर स्वयं वस्तुतः जो है, उसके बारे में सभान बने रहना है। प्रारंभिक भूमिका में विचारों से विचारक के प्रति ध्यान को धीरे से मोड़ना या तबदील करना आवश्यक होता है, लेकिन एक बार अहं अनुभूति विषय में सभानता दृढ़ता से प्रतिष्ठित हो जाने के बाद प्रयत्न जारी रखना हानिकारक सिद्ध हो सकता है। उस समय से लेकर यह प्रक्रिया कुछ करने के बजाय होने की है। प्रयत्नपूर्वक बनना नहीं, अनायास होना आत्मानुसंधान है।

स्वयं जो प्रथम से ही है, वह सत्ता बने रहना अनायास स्थिति है, क्योंकि सत्ता हमेशा उपलब्ध तथा अनुभवगोचर है। इससे विरुद्ध स्वयं जो नहीं है वह (शरीर-मन) बने रहने का दिखावा करना निरंतर मानसिक प्रयत्न की अपेक्षा रखता है, चाहे वह प्रयत्न अर्ध-चेतन अवस्था में ही क्यों न करना पड़ता हो। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मानुसंधान की उच्चतर भूमिकाओं में प्रयत्न सत्तामात्रस्वरूप आत्मानुभव से ध्यान को च्युत करता है, जबकि सब मानसिक प्रयत्नों का अभाव उसे प्रकट कर देता है। आखिर आत्मा कुछ करने से नहीं, बने रहने से प्रकट होता है। स्वयं श्री रमण ने एक समय कहा था: "ध्यान मत कीजिये – बने रहिये; आप हैं ऐसा मत सोचिये – केवल बने रहिये; होने के विषय में विचार मत कीजिये – आप हैं।" [१]

आत्मानुसंधान विशेष समय में तथा विशेष प्रकार के आसन में बैठकर करने का ध्यानाभ्यास है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। वह मनुष्य की जाग्रत अवस्था के प्रत्येक क्षण में – कुछ करते समय भी – जारी रहना चाहिये। श्री रमण कर्म करने तथा आत्मानुसंधान में कोई विरोध नहीं मानते थे। वे हमेशा कहते कि थोड़े से अभ्यास से इसे किसी भी प्रकार की परिस्थिति में किया जा सकता है। कभी कभी वे अवश्य कहते थे कि नियमित रूप से निश्चित समय में व्यवस्थित पद्धति से ध्यान करने का अभ्यास प्रारंभ करने वाले साधकों के लिये अच्छी बात है, लेकिन लम्बे समय तक बैठकर ध्यान करने के वे कभी भी समर्थक नहीं थे, एवं ध्यानमय जीवन के लिये व्यावहारिक कर्मों को छोड़ने के इच्छुक अपने भक्तों का कभी भी अनुमोदन नहीं करते थे।

प्रः *आप कहते हैं कि मनुष्य अन्वेषण करके अपने आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है। अन्वेषण का लक्षण क्या है?*

उः आप मन हैं, या आप सोचते हैं कि आप मन हैं। विचारों के अलावा मन कुछ नहीं है। सब विशेष विचारों के पीछे एक सामान्य विचार होता है, जो "मैं" रूपवाला है, अर्थात् आप स्वयं हैं। हम इस मैं को प्रथम विचार कह सकते हैं। इस मैं विचार को पकड़े रहिये एवं उसे वह क्या है इसे ढूँढ निकालने के लिये प्रेरित कीजिये। जब इस प्रश्न की आप पर मजबूत पकड़ हो जायगी, तो आप दूसरी बातों को सोच नहीं सकेंगे।

प्रः *जब मैं ऐसा करता हूँ और स्वयं अपने आपको अर्थात् अहंविचार को पकड़े रहता हूँ, तो दूसरे विचार आते-जाते रहते हैं, फिर भी मैं अपने आपको पूछता हूँ: "मैं कौन हूँ?" लेकिन कोई उत्तर नहीं मिलता। क्या इस स्थिति में रहना आत्मानुसंधान है?*

उः यह एक गलती है, जिसे लोग अक्सर किया करते हैं। जब आप पूरी गंभीरता से आत्मान्वेषण प्रारंभ करते हैं, तो होता यह है कि अहंविचार लुप्त हो जाता है, और भीतर की गहराइयों में से कोई दूसरा तत्त्व आप पर अधिकार कर लेता है, जो आपका मैं नहीं होता जिसने अन्वेषण शुरू किया था।

प्रः *यह दूसरा तत्त्व क्या है?*

उः वह अहं का सच्चा अर्थ या आत्मा है, अहंकार नहीं है। वह स्वयं परम सत्ता है।

प्रः *लेकिन आप प्रायः यह कहते हैं कि साधक को अभ्यास प्रारंभ करने के बाद आने वाले सब विचारों का त्याग करना चाहिये, किन्तु विचार असंख्य है। एक विचार का त्याग करने पर दूसरा आता है, और इनका कोई अन्त नहीं दिखता।*

उः मैं यह नहीं कहता कि आपको विचारों का त्याग करते रहना चाहिये। अपने आपसे चिपके रहिये अर्थात् अहंविचार को जारी रखिये। जब आपका रस-उत्साह आपको केवल उस एक विचार से जोड़े रखता है, तो दूसरे विचार अपने आप हटकर अदृश्य हो जाते हैं।

प्रः *तो विचारों का त्याग आवश्यक नहीं है?*

उः नहीं, कुछ लोगों के लिये कुछ समय के लिये यह आवश्यक हो सकता है। आप कल्पना करते हैं कि क्रमशः उठनेवाले विचारों का त्याग करते रहने का कोई अन्त नहीं, लेकिन यह सत्य नहीं है; विचारों का अन्त है। यदि आप जागरूक रहकर, उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक विचार का दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करने का धीरे से प्रयत्न जारी रक्खें, तो थोड़े समय में आप महसूस करेंगे कि आप अपने अन्तरात्मा की गहराई में उतरते जाते हैं। उस स्तर पर विचारों का अस्वीकार करने की या तदर्थ प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है।

प्रः *तब प्रयत्नरहित, तनावरहित रहना संभव होगा?*

उः सिर्फ इतना ही नहीं, एक सीमा के बाद प्रयत्न करना असंभव हो जायगा।

प्रः *मैं और भी जानना चाहता हूँ। क्या मुझे पूर्णतया यत्न छोड़ देना चाहिये?*

उ: अभी आपके लिये प्रयत्न किये बिना रहना असंभव है। जब आप गहराई में जायेंगे, तो आपके लिये प्रयत्न करना असंभव होगा। (२)

यदि मन अहंवृत्ति के मूल की तलाश द्वारा अन्तर्मुख हो जाय, तो वासनाएँ लुप्त हो जाती हैं। आत्मा का प्रकाश वासनाओं पर पड़ता है, तो वह प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है जिसे हम मन कहते हैं, और इस प्रकार वासनाएँ लुप्त हो जाती हैं, तो हृदयरूप एक सत्य के प्रकाश में लीन होकर मन अदृश्य हो जाता है। किसी भी साधक को जो जानना आवश्यक है उसका यह सार है। तत्काल अनिवार्यरूप से जो करना आवश्यक है वह यह है कि उसे तत्परता एवं एकाग्रता से अहंवृत्ति के मूल की तलाश करनी चाहिये। (३)

प्र: *साधक को यह अभ्यास किस तरह शुरू करना चाहिये?*

उ: "मैं कौन हूँ" इस अन्वेषण से ही मन शान्त होगा। चिता को सँकोरने की लकड़ी की तरह "मैं कौन हूँ" यह विचार अन्य सब विचारों का नाश करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है। यदि दूसरे विचार प्रकट हों, तो साधक को उनको पूरा किये बिना, वे किसे उत्पन्न हुए, इसकी तलाश करनी चाहिए। कितने भी विचार उत्पन्न हों इससे क्या हानि है? प्रत्येक विचार जिस क्षण उत्पन्न हो, उसी क्षण यदि साधक यह तलाश शुरू करे कि वह किसे उत्पन्न हुआ, तो उत्तर होगा: "मुझे"।

तब यदि वह इस मैं की तलाश करे, तो मन वापस मुड़कर अपने उद्‌गमस्थान – आत्मा – की ओर अभिमुख होगा, और मन के साथ अभी अभी उत्पन्न हुआ विचार भी शान्त हो जायगा। इस प्रकार बार बार अभ्यास करने से मन की अपने जन्मस्थान में बने रहने की शक्ति बढ़ती है।

यद्यपि सागर की लहरों की तरह युगों से उत्पन्न होती रहनेवाली असंख्य वासनाएँ उत्पन्न होंगी, लेकिन जैसे जैसे अपने वास्तविक स्वरूप पर ध्यान बनाये रखने का अभ्यास दृढ़ होता जायगा, वे सब नष्ट हो जायेंगी। "क्या इन सारी वासनाओं का नाश करके केवल आत्मरूप बने रहना संभव है?" ऐसे संदेह को भी अवकाश न देकर साधक को दृढ़ता से निरंतर आत्मभान के सूत्र को पकड़े रहना चाहिये।

जब तक चित्त में विषयवासनाएँ विद्यमान हैं, तब तक "मैं कौन हूँ"? की तलाश आवश्यक है। जब विचार उत्पन्न हों, उन्हें इस तलाश द्वारा उसी समय वहीं उनके जन्मस्थल में नष्ट कर देना चाहिये। जो आत्मा से अन्य है उसकी ओर ध्यान न देना वैराग्य है, और आत्मा को न भुलाना ज्ञान है। वस्तुत: ये दोनों एक हैं। जैसे कोई गोताखोर अपनी कमर पर पत्थर बाँधकर सागर में गोता लगाकर उसके तल में रहे मोती पाता है, ऐसे ही प्रत्येक मनुष्य वैराग्यपूर्वक अपनी भीतरी गहराई में डूबकर आत्मा को प्राप्त कर सकता है। निरन्तर अपने वास्तविक स्वरूप की स्मृति को आत्मानुभव तक बनाये रखना पर्याप्त है।

बन्धन किसे है इसकी तलाश करके, अपने सच्चे नित्यमुक्त स्वरूप को जानना मोक्ष है। मन को सतत आत्मा में जोड़ना आत्मानुसंधान है, जबकि स्वयं अखंड सच्चिदानंद ब्रह्म है ऐसा विचार करना ध्यान है। (४)

प्र: *योगी कहते हैं कि यदि मनुष्य सत्य को पाना चाहता है, तो उसे दुनिया को छोड़कर एकान्त वन में चले जाना चाहिये।*

उ: कर्ममय जीवन का त्याग आवश्यक नहीं है। यदि आप हर रोज एक या दो घण्टे ध्यानाभ्यास करें, तो आपके व्यावहारिक कर्त्तव्यों का पालन कर सकते हैं। यदि आप सही पद्धति से ध्यान करें, तो ध्यान के दौरान उत्पन्न हुआ शान्त मन का प्रवाह काम के समय भी जारी रहेगा। यह ऐसा ही है जैसे एक विचार को प्रकट करने के दो तरीके हों। आप जो दिशा ध्यान में निश्चित करते हैं, वही आपके कर्मों में प्रकट होगी।

प्र: *ऐसा करने से क्या परिणाम होगा?*

उ: यदि आप नियमित ध्यानाभ्यास करते रहेंगे, तो मालूम होने लगेगा कि लोगों के, घटनाओं के एवं पदार्थों के प्रति आपका दृष्टिकोण बदलता जाता है। आपके कर्म अपने आप आपके ध्यान के अनुरूप होते चले जायेंगे।

प्र: *तो आप योगियों के साथ सहमत नहीं हैं?*

उ: मनुष्य को जगत् से बाँधनेवाली वैयक्तिक स्वार्थपरता छोड़नी चाहिये। गलत अहं का त्याग सच्चा संन्यास एवं योग है।

प्र: *जगत् में व्यावहारिक जीवन जीनेवाला निःस्वार्थ कैसे हो सकता है?*

उ: ज्ञान और कर्म में कोई विरोध नहीं है।

प्र: *आपका मतलब है कि अपने व्यवसाय में पूर्ववत् कार्य करता हुआ मनुष्य ज्ञान – मोक्ष – प्राप्त कर सकता है?*

उ: क्यों नहीं? लेकिन तब वह ऐसा नहीं सोचेगा कि उसका पुराना व्यक्तित्व कार्य कर रहा है। उसकी चेतना क्रमशः बदलती जायगी और अंत में अहं से पर रहे हुए तत्त्व में केन्द्रित हो जायगी।

प्र: *यदि मनुष्य काम में लगा रहे, तो ध्यान के लिये कम समय रहेगा।*

उ: केवल नये साधक के लिये ध्यान के लिये अलग समय निकालना पड़ता है। जो आगे बढ़ रहा होता है, वह कार्यरत हो या न हो, गहराई में मुक्ति का आनंद अनुभव करने लगता है। उसके हाथ समाज–व्यवहार के कार्यों में व्यस्त होते हैं, तब उसका मस्तक एकान्त की शीतलता का अनुभव करता है।

प्र: *तो आप योगमार्ग का उपदेश नहीं करते?*

उ: योगी अपने मन को ध्येय के प्रति छड़ी से बैल को हाँककर ले जानेवाले गोपाल की तरह ले जाता है। इस मार्ग में साधक हाथ में हरी घास रखकर बैल को ले जाने की तरह अनुरोध से काम लेता है।

प्र: *यह कैसे किया जाता है?*

उ: आप स्वयं को प्रश्न पूछते हैं : "मैं कौन हूँ?"। यह अनुसंधान अंत में आपको अपने भीतर मन से पर – मन के पीछे रहे हुए – तत्त्व की ओर ले जाता है। अन्वेषण द्वारा

इस महाप्रश्न का समाधान पाइये और आप को सारे प्रश्नों का समाधान मिल जायगा। (५)

प्र: *"मैं" को ढूँढने पर वहाँ कुछ नहीं दिखता।*

उ: चूँकि आपको शरीर के साथ आत्मा को एकरूप मानने की आदत हो गई है, आप कहते हैं कि वहाँ आपको कुछ नहीं दिखता। वहाँ क्या देखना है? कौन देखनेवाला है? वह कैसे देखता है? केवल एक चैतन्य है जो अहंविचाररूप में प्रकट होकर स्वयं को शरीर से एकरूप मानता है, तथा नेत्रों के माध्यम से स्वयं का चारों ओर प्रक्षेपण करके वस्तुओं को देखता है। वह जाग्रत अवस्था में सीमित होने के कारण स्वयं से भिन्न कुछ देखना चाहता है। उसकी इन्द्रियों का प्रमाण सच्चाई की मुद्रा-मोहर है। लेकिन वह इस तथ्य का स्वीकार नहीं करेगा कि द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन उसी एक "अहं-अहं" रूप से स्फुरित होने वाले चैतन्य की अभिव्यक्ति है। ध्यान से मनुष्य इस भ्रम से मुक्त हो जाता है कि आत्मा कोई दिखाई देनेवाला पदार्थ है। सत्य यह है कि वहाँ दिखनेवाली कोई वस्तु नहीं है। आप इस समय "मैं" का अनुभव किस तरह करते हैं? क्या आप अपने को जानने के लिये आपके समक्ष दर्पण रखते हैं? सभानता "मैं" है; उसका अनुभव कीजिये, वह सत्य है।

प्र: *विचारों के उद्गम स्थान की तलाश करने पर "अहं" की प्रतीति होती है, लेकिन उससे मुझे संतोष नहीं होता।*

उ: बिल्कुल ठीक है। अहं की प्रतीति रूप के साथ - संभवत: शरीर के साथ - जुड़ी हुई है। शुद्ध आत्मा के साथ कुछ भी जुड़ा हुआ नहीं होना चाहिये। आत्मा असंयुक्त शुद्ध सत्य है, जिसके प्रकाश में अहंकार और शरीर प्रतीत होते हैं। सब विचारों के रुक जाने पर शुद्ध चेतना शेष रहती है।

नींद से जगने पर तुरन्त अर्थात् जगत् के बारे में सभान होने से पहले, वह शुद्ध अहं-अहं होता है। नींद के आधीन हुए बिना एवं दूसरे विचारों में उलझे बिना उसे दृढ़ता से पकड़ रक्खा जाय, तो जगत् के दिखने से कोई हानि नहीं होगी। द्रष्टा दृश्य पदार्थों से प्रभावित नहीं होता। (६)

अहंकार क्या है? इसका अन्वेषण कीजिये। शरीर अचेतन है, वह "मैं" नहीं कह सकता। आत्मा शुद्ध अद्वितीय सत्ता है - चेतना है। वह "मैं" नहीं कह सकता। कोई भी गहरी नींद में "मैं" नहीं कहता, तो अहंकार है क्या? वह जड़ शरीर एवं आत्मा के बीच की कोई चीज है। उसका कोई निश्चित स्थान नहीं है। यदि गंभीरतापूर्वक उसकी तलाश की जाय, तो प्रेत की तरह वह अदृश्य हो जाता है। रात्रि में अपने निकट छाया हिलने से मनुष्य कल्पना करता है कि कोई भूत या प्रेत है। यदि वह निर्भय होकर ठीक से देखे, तो उसे पता चलता है कि वास्तव में कोई भूत नहीं है, और जिसे वह प्रेत समझता था वह पेड़ या खंभा है। यदि वह ठीक से न देखे तो प्रेत उसे भयभीत करेगा। केवल ठीक से देखना - तलाश करना - जरूरी है, तब प्रेत अदृश्य हो जाता है। वहाँ प्रेत था ही नहीं। अहंकार भी इसी प्रकार का आभास है। वह शरीर और शुद्ध चैतन्य के बीच की अप्रत्यक्ष कड़ी है, वास्तविक

सत्य नहीं है। मनुष्य जब तक उसे ठीक से देखता-परखता नहीं, तब तक वह उसे परेशान करता रहता है, लेकिन जब वह उसकी ठीक से तलाश करता है, तो उसे यह पता चलता है कि उसका अस्तित्व नहीं है।

इस तथ्य को समझाने के लिये एक कहानी है। हिन्दुओं के विवाह प्रसंग में प्रायः पाँच-छह दिन तक समूहभोजनसमारंभ चलते रहते हैं। ऐसे एक प्रसंग में कन्यापक्ष वालों ने गलती से एक अपरिचित व्यक्ति को सबसे श्रेष्ठ मान लिया और विशेष आदर से उसका स्वागत इत्यादि करने लगे। कन्यापक्षवालों को उसके साथ विशेष आदर से पेश आते देख वरपक्षवालों ने उसे उनका कोई महत्वपूर्ण आदमी मान लिया और वे भी उसके साथ विशेष आदर प्रदर्शित करने लगे। उस अनजान आदमी का समय बड़े आनंद से गुजरने लगा। वह हमेशा सच्ची स्थिति को जानता था। एक बार वरपक्षवालों ने किसी विशेष हेतु से उसके बारे में कन्यापक्ष से पूछताछ शुरू की। तुरन्त वह आनेवाली मुसीबत को ताड़ गया और चुपचाप भाग गया। अहंकार के बारे में भी ऐसा है। यदि उसका परिचय पाने की प्रवृत्ति की जाय, तो वह लुप्त हो जाता है। यदि नहीं, तो वह परेशान करता रहता है।

प्र: *यदि मैं अहंवृत्ति की तलाश करता हूँ, तो मुझे नींद आ जाती है। मुझे क्या करना चाहिये?*

उ: जब तक आप जागते रहें तब तक तलाश जारी रखिये, यह पर्याप्त है। नींद आये तब तक तलाश जारी रखने से नींद के दौरान भी वह जारी रहती है। जगने पर फिर से तलाश शुरू कीजिये। (८)

प्र: *मैं शान्ति कैसे प्राप्त कर सकता हूँ? विचार से शान्ति नहीं मिलती।*

उ: शान्ति आपकी स्वाभाविक अवस्था है। मन इस सहज अवस्था पर आवरण डाल देता है। यदि आपको शान्ति का अनुभव नहीं होता, तो इसका यह अर्थ है कि आप विचार का अभ्यास मन से करते हैं। तलाश कीजिये कि यह मन क्या है, और वह लुप्त हो जायगा। विचार से अलग मन नाम की कोई वस्तु नहीं है। फिर भी चूँकि विचार प्रकट होते हैं, आप ऐसे स्थान की कल्पना करते हैं, जहाँ से विचार प्रकट होते हैं, और आप उसे मन कहते हैं। जब आप मन क्या है इसकी खोज करते हैं, तो आपको मालूम होता है कि मन जैसी कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार मन लुप्त होने पर आपको शाश्वत शान्ति मिलती है। (९)

प्र: *जब मैं "मैं" के मूल की तलाश करता हूँ, तो शान्त अवस्था का अनुभव होता है, जिससे आगे जाने में मैं स्वयं को असमर्थ पाता हूँ। मुझे कोई विचार नहीं आता और केवल शून्य होता है। एक प्रकार सौम्य व्यापक प्रकाश होता है, और मुझे ऐसा लगता है कि यह अशरीर मैं हूँ। मुझे कुछ मालूम नहीं होता, और शरीर या रूप नहीं दिखता। ऐसा आनंददायक अनुभव आधे घण्टे तक रहता है। क्या मेरा यह निर्णय सही है कि अखंड आनंद, अर्थात् निर्वाण या मोक्ष कुछ भी कहा जाय – उसे प्राप्त करने के लिये निरन्तर अभ्यास से ऐसे अनुभव की अवस्था में घण्टों तक, दिवसों तक, महिनों तक रहना जरूरी है?*

उ: इसका अर्थ मोक्ष नहीं है। इस अवस्था को मनोलय या विचारों की अस्थायी निश्चल अवस्था कहा जाता है। मनोलय एकाग्रता की वह अवस्था है, जिसमें विचारों की गति कुछ समय के लिये रुक जाती है। जब यह एकाग्रता समाप्त होती है, तब पुराने और नये विचार पूर्ववत् उत्पन्न होते हैं। यह मन के उपशमन की अस्थायी अवस्था यदि एक हजार वर्ष तक रहे, तो भी वह विचारों के संपूर्ण नाश की ओर नहीं ले जा सकती, जिसे मोक्ष या जन्ममरणरूप संसार से हमेशा के लिये छूटना कहते हैं। इसलिये अभ्यासशील साधक को निरन्तर सतर्क रहना चाहिये, और आन्तरिक रूप से यह अन्वेषण करना चाहिये कि इस आनन्द का अनुभव करनेवाला कौन है? इस अन्वेषण के अभाव में वह दीर्घकाल तक रहनेवाली समाधि या योगनिद्रा में चला जायगा। आध्यात्मिक साधना की इस भूमिका पर योग्य मार्गदर्शक के बिना कई लोग इस भ्रम के शिकार हुए हैं कि यही मोक्ष है, और बहुत कम साधक ध्येय तक सुरक्षित रूप से पहुँच पाये हैं।

इस हकीकत को यह कथा अच्छी तरह से स्पष्ट करती है : एक योगी गंगा किनारे कई सालों से तप कर रहा था। जब उसने एकाग्रता की ऊँची भूमिका प्राप्त कर ली, तो उसने यह मान लिया कि इस अवस्था में लम्बे अरसे तक रहना मोक्ष है, और उसी का अभ्यास करने लगा। एक दिन गहरी समाधि में जाने से पूर्व उसे प्यास लगी और शिष्यों से गंगा से थोड़ा पीने का पानी लाने को कहा। लेकिन जल लेकर शिष्य आये, तब तक वह योगनिद्रा में जा चुका था, और उस अवस्था में बहुत वर्षों तक रहा, जिसके दौरान गंगाप्रवाह दूर हट गया था। जब वह उस अवस्था से जागा, तो तुरंत उसने कहा: "पानी, पानी", लेकिन न तो वहाँ शिष्य थे, न गंगा का प्रवाह।

सबसे पहले जो चीज़ उसने माँगी, वह पानी थी, क्योंकि समाधि में जाने से पूर्व, उसके मन की ऊपरी सतह पर पानी का विचार था, और मन को एकाग्र करके – चाहे वह एकाग्रता कितनी ही गहरी और लम्बे अरसे तक रहने वाली क्यों न हो – उसने सब विचारों को अस्थायी रूप से शान्त कर दिया था। जब उसकी चेतना वापस आई, तो वह ऊपरी सतहवाला विचार पूरी शक्ति एवं वेग के साथ, वर्षाकालीन बाँध तोड़कर बहनेवाले नदी के बाढ़ के प्रवाह की तरह, ऊपर आ गया। ध्यान में बैठने के पूर्वक्षण में आये विचार का यदि यह प्रभाव है, तो इसमें संदेह नहीं कि उससे पहले लंबे समय के दृढ़मूल हुए विचार भी उसी तरह सुरक्षित बने रहेंगे। यदि सब विचारों का नाश मोक्ष है, तो क्या उसने मोक्ष पा लिया था, ऐसा कहा जा सकता है?

साधक अस्थायी मनोलय तथा स्थायी मनोनाश के भेद को ठीक से समझते नहीं। मनोलय में विचार तरंगों का अल्प विराम होता है, जिसका अवधि चाहे हजार साल का भी हो, उसका अंत होते ही विचार पुन: उत्पन्न होते हैं। इसलिये साधक को अपने आध्यात्मिक विकास का सावधानी से निरीक्षण करते रहना चाहिये। विचारों के इन अल्पविरामवाले अवधियों से उसे भ्रम नहीं पड़ना चाहिये। जिस क्षण ऐसा मनोलय हो,

उसी क्षण चेतना को पुनः प्रबुद्ध करके, आन्तरिक रूप से अन्वेषण करना चाहिये कि कौन इस विराम का अनुभव करता है? किसी भी वृत्ति या विचार को प्रश्रय न देते हुए, साधक को इस योगनिद्रा या आत्मसम्मोहन से भी अवश्य बचना चाहिये। यद्यपि यह ध्येय के प्रति प्रगति का चिन्ह है, फिर भी यह वह बिन्दु है जहाँ से मोक्ष और योगनिद्रा के मार्ग अलग होते हैं। मोक्ष का सबसे सरल, सीधा एवं छोटा मार्ग विचारमार्ग है। इस अन्वेषण से आप विचारशक्ति को तब तक गहराई में ले जाते हैं, जब तक वह अपने जन्मस्थान तक पहुँचे और उसमें समा जाय। तभी आपको भीतर से प्रत्युत्तर मिलेगा और आप सभानतापूर्वक यह जानेंगे कि सब विचारों-वृत्तियों को हमेशा के लिये नाश करके आपको पूर्वविराम मिल गया। [१०]

प्रः *यह अहंविचार मुझमें प्रकट तो होता है, पर मैं आत्मा को नहीं जानता।*

उः यह सब मानसिक ख्याल हैं। इस समय आप एक गलत अहं से तादात्म्य कर रहे हैं, जो अहंविचार है। इस अहंविचार का उदय-अस्त होता रहता है, लेकिन अहं का जो सच्चा अर्थ है वह उदय-अस्त से पर है। आपके होने में कहीं भी कटाव या विराम नहीं हो सकता। जो सोये थे वही आप जगे हैं। गहरी नींद में आपको कोई दुःख नहीं होता, लेकिन अब है। इस समय ऐसा क्या हुआ है जिससे इस फर्क का अनुभव होता है? नींद में अहंविचार नहीं था, अब है। सच्चा अहं दिखता नहीं और झूठा अहं आत्मा बनकर स्वयं को दिखा रहा है। यह मिथ्या अहं आपके सच्चे अहं के ज्ञान का विरोधी है। तलाश कीजिये कि यह झूठा अहं कहां से उत्पन्न होता है, तब वह लुप्त हो जायगा। तब आप वस्तुतः जो हैं – पूर्णसत्ता हैं – वह रहेंगे।

प्रः *इसको कैसे सिद्ध किया जाय? अब तक मुझे सफलता नहीं मिली।*

उः अहंविचार के मूल की तलाश कीजिये। बस यही एक काम मनुष्य को करना है। अहंविचार के कारण विश्व का अस्तित्व है। यदि वह समाप्त होता है, तो दुःख का भी अंत होता है। अहंविचार केवल उसके मूल की तलाश करने पर नष्ट होगा। [११]

लोग प्रायः पूछते हैं कि मन का निग्रह कैसे किया जाय। मैं उनको कहता हूँ : "मुझे मन दिखाइये, तब आप जानेंगे कि क्या करना है"। हकीकत यह है कि मन केवल विचारों का समूह है; अतः आप उसे नष्ट करने के विचार से या इच्छा से कैसे नष्ट कर सकते हैं? आपकी इच्छाएँ एवं विचार मन का भाग हैं। मन नये विचारों से पुष्ट होता हैं। इसलिये मन के साधन से मन को नष्ट करने का प्रयत्न मूर्खता है। इसका एक ही मार्ग है कि मन के मूल का अन्वेषण करने का सूत्र दृढ़ता से पकड़ रक्खा जाय, तब वह अपने आप क्षीण होकर लुप्त हो जायगा। योग चित्तवृत्तियों के निरोध का उपदेश करता है, लेकिन मैं आत्मानुसंधान की बात कहता हूँ। यह व्यावहारिक मार्ग है। चित्तवृत्ति निरोध तो नींद में, मूर्च्छा में या अनशन से अपने आप होता है, लेकिन कारण निवृत्त होने पर विचार वापस आ जाते हैं। तो निरोध का क्या उपयोग है? मूढता में शान्ति होती है, कोई दुःख नहीं होता, लेकिन

उसके समाप्त होते ही दु:ख वापस आ जाता है। इसलिये निरोध निरर्थक है, उससे स्थायी लाभ नहीं हो सकता।

तो शान्ति को स्थायी कैसे बनाया जाय? दु:ख के कारण की तलाश करके। पदार्थों को देखने पर दु:ख होता है। यदि वे न रहें, तो उनसे संबद्ध विचार नहीं रहेंगे और दु:खनाश होगा। दूसरा प्रश्न यह है कि पदार्थों का अभाव कैसे हो? श्रुति और ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि पदार्थ केवल मन के सर्जन हैं; उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। इस विषय की तलाश करके इस विधान की सत्यता को निश्चित रूप से समझिये। इस तलाश के परिणामस्वरूप यह निर्णय होगा कि वस्तुसत्तारूप जगत् आत्मसत्तारूप चैतन्य में विद्यमान है। इस प्रकार यह निश्चय होता है कि केवल आत्मा सत्य है, जो विश्व में व्यापक है, और विश्व को घेरकर ठहरा हुआ है। चूँकि द्वैत है ही नहीं, विचार उत्पन्न नहीं होंगे और आपकी शान्ति का भंग नहीं करेंगे। इसे आत्मसाक्षात्कार कहा जाता है। आत्मा नित्य है और उसका अनुभव भी नित्य है।

जब भी कोई विचार आपको परेशान करे, तो प्रत्येक समय अपने अंदर आत्मा में उसे वापस लाकर लीन कर दीजिये, यह अभ्यास है। यह चित्त की एकाग्रता या विनाश नहीं है, बल्कि उसकी आत्मा में स्थिति है। [१२]

प्र: *एकाग्रता क्यों बेअसर है?*

उ: मन से मन को नष्ट करने के लिये कहना चोर को पुलिस बनाना है। वह आपके साथ चलेगा, चोर को पकड़ने का दिखावा भी करेगा। लेकिन इससे कुछ हाथ नहीं लगेगा। इसलिये आपको अवश्य भीतर की ओर मुड़ना होगा, और मन की उत्पत्ति कहाँ से होती है यह स्वयं (मन से अलग होकर) देखना होगा, तब उसका अस्तित्व मिट जायगा।

प्र: *मन को भीतर की ओर मोड़ते समय भी क्या हम मनका प्रयोग नहीं करते?*

उ: बेशक हम मन का प्रयोग करते हैं। यह प्रसिद्ध एवं स्वीकृत सत्य है कि मनोनाश मन की सहायता से ही सिद्ध होता है। लेकिन प्रारंभ में ही यह कहना कि मन है और आप उसे मारना चाहते हैं, उचित नहीं है। इसके बजाय आप मन के जन्मस्थान का अन्वेषण करें तो आपको मालूम होगा कि मन का अस्तित्व ही नहीं है। बहिर्मुख मन विचारों एवं पदार्थों के रूप में परिणत होता है; अन्तर्मुख मन स्वयं आत्मा बन जाता है। [१३]

प्र: *अब भी मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। आप कहते हैं कि वर्तमान अहं मिथ्या है। इसको कैसे हटाया जाय?*

उ: आपको गलत अहं को हटाना नहीं है। अहं स्वयं को कैसे हटा सकता है? आपको जो करना आवश्यक है, वह सिर्फ इतना कि उसके मूल को ढूँढकर वहीं रहना है। आपके प्रयत्न की पहुँच केवल यहाँ तक है, तब पर तत्त्व अपने आपको सम्हालेगा। वहाँ आप असहाय हैं। कोई प्रयत्न वहाँ पहुँच नहीं सकता।

प्र: *यदि मैं हमेशा – यहाँ और अभी – हूँ तो मुझे इसका अनुभव क्यों नहीं होता?*

उ: बस यही बात समझनी है। अनुभव नहीं होता, ऐसा कौन कहता है? क्या ऐसा सच्चा अहं कहता है कि मिथ्या अहम्? इसकी परीक्षा कीजिये। आपको तब पता चलेगा कि यह मिथ्या अहं है। यह मिथ्या अहं रुकावट है, जिसे हटाना जरूरी है, तब सच्चे अहं का आवरण हट जायगा। मैंने अनुभव नहीं किया, यह भाव अनुभव के मार्ग में रुकावट है। वस्तुत: वह पहले से ही अनुभवगोचर है, कोई नया अनुभव आवश्यक नहीं है। अनुभव नई चीज नहीं है। यदि वह अब तक अस्तित्व में नहीं था, और उसे अब अस्तित्व में आना हो तो वह अनित्य है। जिसका जन्म है उसकी मृत्यु भी होती है। यदि अनुभव नित्य नहीं है, तो उसे प्राप्त करना बेकार है। इसलिये जिसे हम ढूँढ रहे हैं वह ऐसा नहीं है जिसे नये सिरे से अस्तित्व में आना है। वही तो एकमात्र नित्य तत्त्व है, लेकिन रुकावट के कारण जाना नहीं जा रहा है, और इसी को हम ढूँढ रहे हैं। जो हमें करना है वह यही कि रुकावट को या आवरण को हटाना है। जो नित्य है वह नित्य है ऐसा अज्ञान के कारण नहीं जाना जा रहा है। अज्ञान रुकावट है। रुकावट पार कीजिये और सब अच्छा ही होगा।

अज्ञान और अहंविचार एक हैं। उसके मूल की तलाश कीजिये और वह नष्ट हो जायगा।

अहंविचार प्रेत जैसा है, ठोस नहीं है। वह शरीर के साथ उत्पन्न होता है, बढ़ता है तथा नष्ट होता है। देहभान मिथ्या अहं है। इसे छोड़ना हो तो इसके मूल की तलाश कीजिये, दूसरा उपाय नहीं है। "मैं हूँ" ऐसा शरीर नहीं कहता, आप कहते हैं। "मैं" कौन है? इसकी तलाश कीजिये। उसके मूल का अन्वेषण करने से ही वह लुप्त होगा। [१४]

प्र: *मन कितनी देर तक हृदय में स्थिर रहता – रक्खा जा सकता – है?*

उ: अभ्यास से अवधि बढ़ता है।

प्र: *उस अवधि के अंत में क्या होता है?*

उ: मन अपनी वर्तमान, साधारण स्थिति में आ जाता है। हृदय की एकता की जगह दृश्य विश्व की विविधता ले लेती है। इसे बहिर्मुख मन कहते हैं। हृदय के प्रति गति करने वाले मन को विश्रान्त मन कहते हैं। [१५]

जब साधक हर रोज इस प्रकार के अभ्यास का अवधि अधिकाधिक बढ़ाता है, तो दोषों के दूर होने से मन शुद्ध हो जाता है, और अभ्यास इतना सरल हो जाता है कि शुद्ध मन जिस क्षण स्वमूल का अन्वेषण प्रारंभ करता है, उसी क्षण हृदय में लीन हो जाता है। [१६]

प्र: *ध्यान में सच्चिदानन्द आत्मा का एक बार अनुभव करने वाले साधक के लिये व्युत्थान अवस्था में स्वयं को शरीर मानना संभव है?*

उ: हाँ, यह संभव है। लेकिन धीरे धीरे अभ्यास के परिपक्व होने पर उसका यह मिथ्या तादात्म्य लुप्त हो जायगा। आत्मा के पूर्ण प्रकाश में भ्रम का अंधकार हमेशा के लिये नष्ट हो जाता है। [१७]

सब वासनाओं का उन्मूलन किये बिना प्राप्त किया गया आत्मानुभव स्थिर नहीं होता। अत: वासनाक्षय के लिये अवश्य अभ्यास जारी रखना चाहिये। सभी वासनाओं के नष्ट होने पर ही ज्ञान अकम्प्य भाव से स्थिर रहता है। [१८]

हमें युगों पुराने संस्कारों के विरूद्ध युद्ध करना पड़ता है। वे सब जायेंगे। भूतकाल में जिन्होंने साधना की होती है, उनकी वासनाएँ तुलनात्मक दृष्टि से जल्दी चली जायेंगी; दूसरों के लिये कुछ देर से जायेंगीं।

प्र: *क्या ये संस्कार धीरे धीरे एक के बाद एक जायेंगे या एक दिन सबके सब अचानक चले जायेंगे? मैं यह इसलिये पूछ रहा हूँ कि यद्यपि मैं यहाँ काफी समय से रह रहा हूँ, स्वयं में धीमा परिवर्तन भी नहीं देखता हूँ।*

उ: सूर्योदय होने पर अंधकार क्या धीरे धीरे जाता है या तुरंत चला जाता है? [१९]

प्र: *विचारसाधना में मैं प्रगति कर रहा हूँ, ऐसा मैं कैसे जान सकता हूँ?*

उ: आत्मसाक्षात्कार के मार्ग में प्रगति का मानदंड निर्विचार स्थिति के स्तर हैं, लेकिन आत्मसाक्षात्कार में कोई स्तर नहीं है; वह हमेशा एक समान होता है। आत्मा नित्यसाक्षात् है। विचार रुकावट है। आत्मा नित्य – अपरोक्ष या साक्षात् है, ऐसे ज्ञान के मार्ग में रही हुई रुकावटों का कम होना प्रगति का मानदंड है। इसलिये विचार किसके लिये हैं, ऐसा देखते रहकर उनका निरोध अवश्य करना चाहिये। इस तरह आप उनके मूल में पहुँचते हैं, जहाँ वे उत्पन्न नहीं होते।

प्र: *संदेह हमेशा उत्पन्न होते रहते हैं, इसलिये मेरा यह प्रश्न है।*

उ: एक संदेह होता है, उसका समाधान किया जाता है, दूसरा खड़ा होता है, वह जाता है, केवल तीसरे को स्थान देने के लिये, और यह सिलसिला इस तरह चलता ही रहता है, सारे संशयों को मिटाना असंभव है। देखिये कि संशय किसे होते हैं, उनके मूल में पहुँचकर वहीं बस जाइये, तो वे उत्पन्न नहीं होंगे। संशयों को इस प्रकार ही नष्ट किया जा सकता है। [२०]

प्र: *क्या मुझे उत्तर दिये बिना पूछते रहना चाहिये कि मैं कौन हूँ? कौन किसको पूछता है? विचार के दौरान भावना कैसी होनी चाहिये? यह आत्मा है या अहंकार?*

उ: "मैं कौन हूँ?" इस अन्वेषण में "मैं" अहंकार है। प्रश्न का सही मतलब "अहंकार का मूल या जन्मस्थान क्या है?" ऐसा है। मन में किसी प्रकार की भावना आवश्यक नहीं है। जो आवश्यक है वह केवल इतना कि आप इस आकार-प्रकार के – इस नाम के शरीर हैं, इत्यादि भाव छोड़ देने हैं। आपके वास्तविक स्वरूप में किसी विशेष भावना की आवश्यकता नहीं है। वह हमेशा जैसे है वैसा रहता है। वह सत्य है, कोई भावना नहीं। [२१]

प्र: *लेकिन क्या यह विचित्र-सी बात नहीं कि मैं मैं को ढूँढे? क्या "मैं कौन हूँ?" का अन्वेषण एक अर्थहीन सूत्र साबित नहीं होगा? या मुझे मंत्र की तरह इसे अंतहीन रूप से बार-बार अपने आपको पूछते रहना चाहिये?*

उ: आत्मानुसंधान निश्चित रूप से अर्थशून्य सूत्र नहीं है, और वह मंत्रजप से कहीं अधिक प्रभावी है। यदि मैं कौन हूँ यह अनुसंधान केवल मानसिक प्रश्न होता, तो उसका विशेष मूल्य नहीं होता। इसका मुख्य हेतु संपूर्ण मन को उसके मूल स्थान में केन्द्रित करना है। इसलिये यह एक अहं द्वारा दूसरे अहं का अन्वेषण नहीं है। आत्मानुसंधान शून्य सूत्र नहीं है, क्योंकि इसमें पूरे मन की तीव्र सक्रियता है, जिसके द्वारा उसे शुद्ध आत्मचैतन्य में स्थिरतापूर्वक प्रतिष्ठित किया जाता है।

आत्मानुसंधान वह एक अमोघ साधन है, वह एकमात्र सीधा मार्ग है, जिससे अनंत, पूर्ण सत्ता का अनुभव किया जाता है, जो वस्तुत: स्वयं आप हैं। (२२)

प्र: *मैं प्रात: एवं सायंकाल कुछ समय के लिये आत्मानुसंधान का अभ्यास करूँ, तो पर्याप्त है, या मुझे हमेशा – जब मैं चलता या लिखता होता हूँ तब भी – इसे जारी रखना चाहिये?*

उ: आपका सच्चा स्वभाव क्या है? होना, या चलना, या लिखना? होना एक अपरिवर्तनशील निरपेक्ष सत्य है जो मुख्य है; चलना, लिखना इत्यादि सापेक्ष एवं गौण हैं। जब तक आप इस शुद्ध सत्ता की अवस्था को जान लें, तब तक आत्मानुसंधान करना चाहिये। एक बार आप इसमें प्रतिष्ठित हो गये, तो आगे कोई चिन्ता नहीं।

विचार उत्पन्न ही न हों, तब कोई भी उनके मूल का अन्वेषण नहीं करेगा। जब तक आप "मैं चलता हूँ", या "मैं लिखता हूँ", ऐसा सोचते हों, तब तक आपको "यह सब कौन करता है?" इसका अनुसंधान जारी रखना चाहिये। (२३)

प्र: *यदि मैं विचारों का अस्वीकार करता रहूँ, तो इसे विचार कहा जा सकता है?*

उ: यह प्रारंभिक कदम हो सकता है, लेकिन विचार का वास्तविक आरंभ तब होता है, जब आप मन की आन्तरिक गति से अर्थात् विचार-तरंगों से पर होकर अपने स्वरूप में ठहरना सीख लेते हैं।

प्र: *तो विचार बौद्धिक प्रक्रिया नहीं है?*

उ: नहीं, वह आन्तरिक विचार या अन्वेषण है।

नये साधकों को मन के सूत्र को पकड़कर उसके अन्वेषण की सलाह दी जाती है। लेकिन, आखिर यह मन है क्या? वह आत्मा का प्रक्षेपण है। ढूँढिये कि वह किसे दिखाई देता है, और कहाँ से प्रकट होता है। अहंविचार इसका मूल कारण है, ऐसा मालूम होगा। और अधिक गहराई में जाने पर अहं विचार लुप्त हो जाता है, और उसके स्थान में अहं-चेतना का अनंत विस्तार शेष रहता है। (२५)

प्र: *मैंने श्री अरविन्द आश्रम की माताजी से पूछा : "मैं मेरे मन को निर्विचार रखता हूँ, जिससे ईश्वर अपने सच्चे स्वरूप में मुझे दर्शन दे। लेकिन मुझे कुछ दिखता नहीं"। उन्होंने जवाब दिया : "आपकी मन:स्थिति सही है। शक्ति ऊपर से नीचे उतरेगी; वह सीधा अनुभव है"। मुझे कुछ और करना चाहिये?*

उ: आप जो हैं वह रहें। न कुछ नीचे उतरता है, न ही प्रकट होता है। अहं का लुप्त

होना जरूरी है। जो है वह हमेशा है। इस समय भी आप वही हैं, उससे भिन्न नहीं। शून्य को देखनेवाले आप हैं, उसे देखने के लिये आप वहाँ होते हैं। आप किसकी राह देख रहे हैं? "मैंने कुछ नहीं देखा" यह विचार एवं कुछ देखने तथा पाने की अपेक्षा – यह सब अहंकार की करतूत है। आप अहंकार के जाल में फँसे हैं। यह सब आप नहीं, अहंकार कह रहा है। आप अपने आप बने रहिये, और अधिक कुछ नहीं करना है। जन्म लेकर आप कहीं पहुँचते हैं। यदि पहुँचते हैं, तो वहाँ से वापस भी आते हैं। इसलिये यह शब्दजाल छोड़िये। आप जैसे हैं वैसे रहिये। देखिये कि आप कौन हैं, और जन्म, आने, जाने तथा भ्रमण से मुक्त आत्मरूप बने रहिये। [२६]

प्र: *मनुष्य आत्मा को कैसे जाने?*

उ: आत्मा को जानने का अर्थ आत्मा होना है। क्या आप कह सकते हैं कि आप आत्मा को नहीं जानते? यद्यपि आप अपनी आँखों को नहीं देख सकते, और यदि आपको दर्पण न दिया जाय, तो क्या आप अपनी आँखों के अस्तित्व का इन्कार करेंगे? इसी प्रकार यद्यपि आत्मा वस्तुरूप नहीं बनता। फिर भी आप उसके विषय में सभान हैं। चूँकि आत्मा वस्तुरूप में नहीं दिखता, इस कारण क्या आप अपने आप का इन्कार करेंगे? जब आप कहते हैं: "मैं आत्मा को नहीं जानता", तो यह न जानना सापेक्ष ज्ञान की दृष्टि से है। आपकी सापेक्ष ज्ञान की आदत इतनी प्रबल हो गई है कि अपने आत्मा को भी आप उसी सापेक्ष दृष्टि से देखना चाहते हैं। सापेक्ष ज्ञान के साथ आपका तादात्म्य इतना दृढ़ हो गया है कि आपका वर्तमान अहंकार प्रकट आत्मा को न जानने की मुसीबत का अनुभव कर रहा है, क्योंकि आत्मा को वस्तुरूप में देखा नहीं जा सकता। और आप पूछ रहे हैं कि मनुष्य आत्मा को कैसे जाने।

प्र: *आप होने की बात कहते हैं। क्या होना है?*

उ: आपका कर्त्तव्य केवल होना है, यह या वह होना नहीं। "मैं हूँ वह मैं हूँ" पूर्ण सत्य है। निश्चल बनिये से संक्षेप में इसकी पद्धति बताई गई है। निश्चलता का अर्थ क्या है? इसका अर्थ है अपने आपको नष्ट कर दीजिये, क्योंकि कोई भी रूप या आकार परेशानी का कारण है। मैं अमुक हूँ इस ख्याल को छोड़ दीजिये। [२७] आत्मा का अनुभव करने के लिये सिर्फ निश्चल होना आवश्यक है। इससे सरल और क्या हो सकता है? इस कारण आत्मविद्या प्राप्त करना सबसे सरल है। [२८]

केवल अपने आपका सत्य परीक्षण करने एवं जानने योग्य है। अपने ध्यान का लक्ष्य बनाकर मनुष्य को चाहिये कि वह उसे हृदय में जाने। मौन, स्वच्छ तथा मन की चंचलता से रहित चेतना में यह अपने आपका ज्ञान प्रकट होगा। समझिये कि जो चैतन्य निराकार आत्मा या अहंरूप में प्रकाशित हो रहा है और जिसे सत्-असत् इत्यादि विचारों से रहित तथा निश्चल होने पर जाना जाता है वही केवल तथा पूर्ण सत्य है। [२९]

प्रकरण ६

आत्मानुसंधान – कुछ गलत धारणाएँ

श्री रमण के तत्त्वविषयक विधान अद्वैत वेदान्त के अनुयायियों द्वारा पुरस्कृत सिद्धान्तों के अनुरूप थे, जो भारत में पिछले एक हजार वर्षों से अधिक समय से विकसित हुई तत्त्वचिन्तन की प्रणाली है। श्री रमण और अद्वैतमतानुयायी अधिकतर सैद्धान्तिक विषयों में सहमत हैं, लेकिन अभ्यास के विषय में दोनों में मौलिक मतभेद है। श्री रमण आत्मानुसंधान के पुरस्कर्ता थे, जबकि अधिकतर अद्वैतमार्ग के आचार्य अन्तरतम आत्मा को एकमात्र सत्य मानने पर आधारित विशेष प्रकार की मानसिक ध्यान पद्धति का उपदेश करते थे। सामान्यरूप से "अहं ब्रह्मास्मि" अथवा "सोहम्" इत्यादि महावाक्यों का मंत्र की तरह उपयोग किया जाता है, अथवा कुछ विरल साधक उनके अर्थ का अनुसंधान करते हैं तथा उनके सूचित भावों का अनुभव करने का यत्न करते हैं।

चूँकि आत्मानुसंधान अक्सर "मैं कौन हूँ?" प्रश्न से प्रारंभ किया जाता है, परंपरागत अद्वैतमार्गानुयायी यह मान लेते थे कि इसका उत्तर "मैं ब्रह्म हूँ" होना चाहिये, और वे अपने मन को इस बौद्धिक समाधानरूप महावाक्य का जप करने में लगाते थे। श्री रमण इसकी यह कहकर आलोचना करते थे कि यदि मन को निरंतर इस प्रश्न का समाधान ढूँढने में अथवा इसके बौद्धिक समाधानरूप उत्तर के बार-बार उच्चारण में लगाया जाय, तो वह अपने मूल की तलाश करके उसमें लीन नहीं होगा। इसी कारण वे "मैं कौन हूँ" का मंत्र की तरह जप करनेवालों की भी आलोचना करते थे और कहते थे कि इन दोनों पद्धतियों में आत्मानुसंधान के यथार्थ दृष्टिबिन्दु को नहीं समझा गया है। वे कहते कि "मैं कौन हूँ?" प्रश्न मन का विश्लेषण करके उसके स्वरूप का निर्णय करने का आह्वान नहीं है, न ही वह कोई मंत्र है; वह तो चित्त को विचारों एवं पदार्थों से मृदुतापूर्वक हटाकर, विचार करनेवाले या देखनेवाले पर वापस लाकर स्थिर करने का सौम्य उपायमात्र है। श्री रमण के मत में "मैं कौन हूँ" प्रश्न का समाधान मन में या मन के द्वारा प्राप्त करने योग्य नहीं है, क्योंकि उसका सच्चा उत्तर तो मन के अभाव का अनुभव करना है।

दूसरी व्यापकरूप से पाई जानेवाली ग़लत धारणा हिन्दुओं की इस मान्यता से फैली है कि पदार्थों एवं उनके विचारों का मानसिक रूप से त्याग करने पर ही आत्मानुभव होता है। परंपरागतरूप से इसे "नेति नेति" – दोहरे निषेध की – पद्धति कहते हैं। इस पद्धति का अभ्यास करने वाला "मैं शरीर नहीं हूँ", "मैं मन नहीं हूँ" इत्यादि का मौखिक उच्चारण करते हुए, उन सब पदार्थों का त्याग करता है, जिनके साथ "अहं" अपना तादात्म्य स्थापित करता है। इसके पीछे अपेक्षा यह होती है कि धीरे धीरे सच्चा अहं अपनी शुद्ध सत्ता में अनुभव गोचर होने लगेगा। हिन्दु धर्म में इसे आत्मानुसंधान कहते हैं, और नाम की समानता के कारण श्री रमण की मौलिक पद्धति से प्रायः इसका मिश्रण होता रहा है। श्री रमण इस पारंपरिक आत्म-विश्लेषण की पद्धति का यह कहकर अस्वीकार करते थे कि यह केवल बौद्धिक प्रक्रिया है जो साधक को मन से पर नहीं ले जा सकती और इस कारण वे अपने अनुयायियों को इसका अनुसरण करने के लिये प्रेरित नहीं करते थे। इस पद्धति के प्रभाव के विषय में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में वे कहते कि इस प्रकार की विश्लेषण-विवेचन की प्रक्रिया से अहंविचार बना रहता है, क्योंकि जो अहं शरीर-मन का अनात्मा के रूप में निरसन करता है, वह कभी भी स्वयं का उन्मूलन नहीं कर सकता।

"अहं ब्रह्मास्मि" तथा "नेति नेति" प्रणाली का अनुष्ठान करने वाले साधकों की समान मान्यता यह है कि मन के द्वारा चलाई गई विधेयात्मक अथवा निषेधात्मक प्रक्रिया से आत्मानुभव हो सकता है। मन अपनी प्रक्रियाओं से आत्मा तक पहुँच सकता है, ऐसी मान्यता आत्मानुसंधान के विषय में फैली हुई कई गलत धारणाओं के मूल में है। इसका सबसे महत्वपूर्ण उदाहारण यह है कि शरीर के मध्य में रहे हुए विशेष चक्ररूप हृदय केन्द्र में एकाग्रता करना आत्मानुसंधान है। यह व्यापकरूप से पाया जानेवाला मत श्री रमण के हृदयविषयक कुछ विधानों का गलत अर्थघटन करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है। इस धारणा की उत्पत्ति के कारणों को जानने के लिये, इस विषय पर उनके कुछ विधानों का परीक्षण आवश्यक है।

अहंविचार के जन्मस्थान का निरूपण करते हुए वे कई बार कहते कि छाती के दक्षिण भाग में रहे हुए हृदय से उत्पन्न होकर वह एक नाड़ी के माध्यम से मस्तिष्क में पहुँचता है, और यह अहंविचार जब आत्मा में लीन होता है, तो इसी हृदयकेन्द्र में वापस चला जाता एवं लुप्त हो जाता है। वे यह भी कहते थे कि सभानतापूर्वक आत्मानुभव होने पर स्पष्ट रूप से समझ में आता है कि यह हृदयकेन्द्र मन एवं जगत् का मूल है। लेकिन ऐसे विधान पूर्णतया सत्य नहीं हैं, क्योंकि वे यह कहकर उनकी विशेषता बताते थे कि ये देह से आग्रहपूर्वक

तादात्म्य करने वाले लोगों को समझाने की युक्तिमात्र हैं। वे कहते कि हृदय वस्तुतः शरीर में स्थित नहीं है, और सर्वोच्च दृष्टिबिन्दु से यह कथन भी सत्य नहीं है कि अहंविचार का उदय-अस्त छाती की दाहिनी ओर स्थित हृदयकेन्द्र से होता है।

चूँकि श्री रमण साधकों को प्रायः अहं के उत्पत्तिस्थान की तलाश करने के लिये अथवा मन के मूल को ढूँढ निकालने के लिये प्रेरित करते थे, कई लोग इसका यह अर्थ लगाते थे कि उनको आत्मानुसंधान के दौरान इस केन्द्र विशेष पर एकाग्रता करने के लिये कहा जा रहा है। श्री रमण इस अर्थघटन का यह कहकर अस्वीकार करते थे कि मन अथवा अहंकार का मूल केवल अहंवृत्ति पर ध्यान केन्द्रित करने से प्राप्त किया जा सकता है, शरीर के किसी भाग पर एकाग्रता करने से नहीं। कभी कभी वे यह अवश्य कहते थे कि इस केन्द्र पर चित्त केन्द्रित करना एकाग्रता के अभ्यास की अच्छी रीत है, लेकिन वे कभी भी इसे आत्मानुसंधान से नहीं जोड़ते थे। प्रसंगवशात् वे कहते कि हृदय पर ध्यान करना आत्मा तक पहुँचने की असरकारक पद्धति है, फिर भी वे ऐसा कभी भी नहीं कहते थे कि यह कार्य हृदयकेन्द्र पर एकाग्रता द्वारा सिद्ध करना चाहिये। इसके स्थान में वे ऐसा कहते कि साधक को हृदय पर वह जैसा है वैसे ही ध्यान करना चाहिये।[१] "हृदय, जैसा कि वह वास्तव में है, कोई स्थान नहीं है, बल्कि सर्वव्यापक आत्मा है, और कोई भी उसके वास्तविक स्वरूप को उससे एकरूप हो करके ही जान सकता है। वह एकाग्रता से प्राप्त नहीं होता"।

यद्यपि हृदय एवं हृदयकेन्द्र के विषय में ऐसे संदिग्ध विधान मिलते हैं, फिर भी उनकी सब रचनाओं में तथा लिखित वार्तालापों में आत्मानुसंधान का अभ्यास इस केन्द्र पर एकाग्रता करके करना चाहिये ऐसा एक भी कथन उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः इस विषय के उनके विधानों की ठीक परीक्षा करके कोई इस निर्णय पर पहुँच सकता है कि आत्मानुभव में इस केन्द्र की सभानता का समावेश होता है, किन्तु इस पर एकाग्रता करने से आत्मानुभव नहीं होता।

प्र: *"मैं कौन हूँ?" प्रश्न पूछकर मैं अभ्यास शुरू करता हूँ। और मैं शरीर नहीं इस प्रकार शरीर का निरसन करता हूँ। प्राण मैं नहीं, ऐसे उसका निरसन करता हूँ, पर आगे नहीं बढ़ सकता।*

उ: ठीक है, जहाँ तक बुद्धि की पहुँच है, वहाँ तक यह बराबर है। आपकी प्रक्रिया केवल बौद्धिक है। वस्तुतः धर्मग्रंथ इस निषेधात्मक प्रक्रिया का उपदेश साधक का सत्य

को जानने में मार्गदर्शन करने के लिये करते हैं। सत्य का सीधा विधान नहीं किया जा सकता, इस कारण यह बौद्धिक प्रक्रिया बताई जाती है।

आप समझिये कि जो "मैं नहीं" अर्थात् अनात्मा का निरसन करता है, वह स्वयं का निरसन नहीं कर सकता। "मैं यह नहीं" अथवा "मैं वह हूँ" ऐसा कहने के लिये "मैं" अवश्य होना चाहिये। यह मैं अहंकार या अहंविचार है, जिसके उत्पन्न होने के बाद ही दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अहंविचार मूलविचार है। यदि मूल उखाड़ दिया जाय, तो सब विचार उसी समय उखड़ जाते हैं। इसलिये मूल अहं की तलाश कीजिये, स्वयं से प्रश्न पूछिये "मैं कौन हूँ?", उसके जन्मस्थान को ढूँढ निकालिये, तो सब वृत्तियाँ लुप्त हो जायेंगीं, और शुद्ध आत्मा शेष रहेगा।

प्र: *इसको कैसे किया जाय?*

उ: गहरी नींद में, स्वप्न में एवं जाग्रत में "मैं" हमेशा होता है। जो नींद में था, वही इस समय बोल रहा है। मैं का अनुभव निरंतर होता है। क्या आप अपने अस्तित्व का इन्कार करते हैं? नहीं करते। आप कहते हैं "मैं हूँ"। तलाश कीजिये कि वह कौन है। (२)

प्र: *मैं "नेति नेति" इस प्रकार ध्यान करता हूँ।*

उ: नहीं, वह ध्यान नहीं है। मूल की तलाश कीजिये। आपको मूल तक अवश्य पहुँचना चाहिये, तब मिथ्या अहं अदृश्य होगा और सच्चे अहं का अनुभव होगा। मिथ्या अहं सच्चे अहं से अलग नहीं रह सकता। (३)

इस समय आत्मा का शरीर, इन्द्रियादि के साथ जूठा तादात्म्य है। आप इसे हटाने का प्रारंभ करते हैं, यह "नेति" है। यह उसे पकड़कर ही किया जा सकता है, जिसको हटाया नहीं जा सकता, वह "इति" (जो है वह) है। (४)

प्र: *जब मैं "मैं कौन हूँ?" विचार शुरू करता हूँ, तो जवाब मिलता है कि मैं यह मर्त्य शरीर नहीं हूँ, बल्कि चैतन्य रूप आत्मा हूँ। तब अचानक दूसरा प्रश्न खड़ा होता है : "आत्मा माया में फँसा कैसे?" दूसरे शब्दों में : "ईश्वर ने जगत् क्यों बनाया?"*

उ: "मैं कौन हूँ?" के अन्वेषण का सच्चा अर्थ अहंकार के मूल की तलाश करना है। आपको "मैं शरीर नहीं हूँ" इत्यादि दूसरे विचार नहीं करने हैं। अहं के मूल की तलाश दूसरे विचारों से मुक्त होने का साधन है। आप बता रहे हैं ऐसे दूसरे विचारों को अवकाश नहीं देना चाहिये, किन्तु अहंविचार के मूल की तलाश की ओर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये। "मुझे यह विचार आया" ऐसा उत्तर मिलने पर "यह मैं कौन हूँ और इसका मूल क्या है?" इस प्रकार का प्रश्न पूछकर तलाश जारी रखनी चाहिये। (५)

प्र: *क्या मुझे "मैं कौन हूँ?" को मंत्र की तरह रटना चाहिये?*

उ: नहीं। "मैं कौन हूँ?" मंत्र नहीं। इसका अर्थ यह है कि आपको सब विचारों के मूलरूप अहंविचार का उद्‌भव आपमें किस स्थान से होता है – इसका अन्वेषण करना चाहिये। (६)

प्र: *क्या मुझे "मैं ब्रह्म हूँ" पर ध्यान करना चाहिये?*

उ: यह श्रुतिवाक्य "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा सोचने के लिये नहीं लिखा गया। सबको अहम् विदित है। सबमें ब्रह्म अहंरूप में विद्यमान है। अहं को ढूँढ निकालिये। पहले से ही अहं ब्रह्म है, अत: आपको ऐसा सोचने की आवश्यकता नहीं है। केवल उसे ढूँढकर प्राप्त कीजिये।

प्र: *क्या "नेति नेति" द्वारा पाँच कोशों का निरसन करने की बात शास्त्रों में नहीं कही गई है?*

उ: अहंविचार उत्पन्न होने के बाद, अहं का शरीर, इन्द्रिय, मन इत्यादि के साथ जूठा तादात्म्य होता है। गलती से अहं को उनके साथ जोड़ा जाता है, और सच्चा अहं दृष्टिगोचर नहीं होता। गलत अहं से सच्चे अहं को अलग करने के लिये यह निरसन-प्रक्रिया बताई गई है। लेकिन इसका सही मतलब अनात्मा का त्याग नहीं, बल्कि सच्चे अहं को ढूँढकर प्राप्त करना है। सच्चा अहं अनंत आत्मा है। वह अहं पूर्ण, शाश्वत एवं आदि अंत रहित है। दूसरा अहं जन्मता और मरता है, वह अनित्य है। देखिये कि ये निरंतर बदलने वाले विचार किसके हैं? वे अहंविचार के बाद उत्पन्न होते हुए दिखाई देंगे। अहंविचार को पकड़े रहिये, तो वे शान्त हो जायेंगे। दृष्टि को उलटकर अहंविचार के मूल को ढूँढ निकालिये, तब केवल आत्मा शेष रहेगा।

प्र: *यह समझना बड़ा मुश्किल है। मैं सिद्धान्त समझता हूँ, लेकिन व्यवहार में क्या करना है?*

उ: दूसरी पद्धतियाँ उन लोगों के लिये हैं जो आत्मानुसंधान के लिये असमर्थ हैं। "अहं ब्रह्मास्मि" का जप करने के लिये अथवा उसका विचार करने के लिये भी कर्ता की आवश्यकता है। वह कौन है? वह अहं है। बस, अहं बने रहिये। यह सीधा मार्ग है। दूसरी पद्धतियाँ भी आखिर आत्मा को ढूँढने की पद्धति तक लायेंगीं।

प्र: *मैं अहं विषय में सभान हूँ, फिर भी मेरी परेशानियों का अंत नहीं हुआ।*

उ: यह अहं शुद्ध नहीं है। वह शरीर तथा इन्द्रियों के संबंध से मलिन हो गया है। देखिये कि परेशानी किसे है। वह अहंविचार को है। उसे पकड़े रहिये, तब अन्य विचार नष्ट हो जायेंगे।

प्र: *हाँ, यह कैसे किया जाय, यही तो समझ में नहीं आता।*

उ: अहं-अहं को सोचते रहिये, और अन्य विचारों को हटाते हुए, उसी एक विचार को सूत्र की तरह पकड़े रहिये। [७]

प्र: *ईश्वर की विधेयात्मक धारणा करना, "मैं कौन हूँ?" के अन्वेषण से अधिक असरकारक नहीं है? ईश्वर है, ऐसा मानकर चलना विधेयात्मक है, जबकि अन्वेषण निषेधात्मक है, और भेद की कल्पना पर आश्रित है।*

उ: जब तक आप आत्मानुभव कैसे करना उसका उपाय ढूँढ रहे हैं, तब तक आपको

आपके आत्मा को जानने की सलाह दी जाती है। आपकी मार्ग जानने की इच्छा ही आपके भेद पर आश्रित है।

प्र: *"मैं कौन हूँ?" ऐसा पूछने की बजाय "मैं परम सत्ता हूँ" ऐसा कहना बेहतर नहीं है?*

उ: कौन कहता है? कहनेवाला कोई तो होना चाहिये? उसकी तलाश कीजिये।

प्र: *आत्मानुसंधान से ध्यान अच्छा नहीं है?*

उ: ध्यान मानसिक कल्पना पर आधार रखता है, जबकि आत्मानुसंधान सत्य का अन्वेषण है। ध्यान का आधार वस्तुसत्ता है, अन्वेषण का आधार आत्मसत्ता है।

प्र: *सत्य के अन्वेषण की कोई वैज्ञानिक पद्धति होनी ही चाहिये।*

उ: असत्य का त्याग एवं सत्य का अन्वेषण वैज्ञानिक है।

प्र: *मेरा मतलब है क्रमश: त्याग की वैज्ञानिक प्रक्रिया अवश्य होनी चाहिये, पहले मन का, तब बुद्धि का, उसके बाद अहंकार का त्याग।*

उ: आत्मा ही एकमात्र सत्य है, और सब असत्य है। मन तथा बुद्धि आत्मा से अलग नहीं रह सकते। बायबल कहता है: "निश्चल बनो और जानो कि 'मैं' ईश्वर हूँ"। आत्मा को ईश्वररूप जानने के लिये सिर्फ निश्चलता जरूरी है। [८]

प्र: *"सोहम्" "मैं कौन हूँ?" के समान है?*

उ: उनमें केवल "अहम्" समान है। एक सोहम् है। दूसरा कोहम् है। ये दो भिन्न हैं। हमें क्यों सोहम् कहते रहना चाहिये? मनुष्य को सच्चा अहं ढूँढ निकालना चाहिये। "मैं कौन हूँ" प्रश्न में "मैं" अहंकार है, उसकी तलाश करके उसके मूल स्थान को पाने पर पता चलता है कि उसका अलग अस्तित्व नहीं है, तब वह सच्चे अहं से एकरूप हो जाता है। [९]

आप कठिनाई देख रहे हैं? "शिवोहम्" अथवा "सोहम्" ध्यान से विचार भिन्न पद्धति है। मैं अधिकतर आत्मा के ज्ञान पर बल देता हूँ, क्योंकि आप विश्व तथा उसके मालिक को जानने का प्रयत्न शुरू करें, उससे पहले आपको स्वयं को जानने की इच्छा होना स्वाभाविक है। "सोहम्" अथवा "अहं ब्रह्मास्मि" ध्यान थोड़ा बहुत मानसिक विचार है। लेकिन आत्मानुसंधान, जिसकी मैं बात करता हूँ, सीधी पद्धति है, और वस्तुत: अन्य सब ध्यान पद्धतियों से श्रेष्ठ है। जिस क्षण आप आत्मा की तलाश का प्रारंभ करते हैं, और अधिकाधिक गहराई में जाते हैं, तो वहाँ सच्चा आत्मा आपको भीतर ले जाने के लिये आपकी राह देख रहा होता है। तब जो कुछ होता है, वह किसी और के द्वारा किया जाता है, जिसमें आपका कोई हाथ नहीं होता। इस प्रक्रिया में सारे संशय एवं चर्चाएँ अपने आप छूट जाते हैं, जैसे सोते समय मनुष्य तत्काल के लिये सब चिन्ताओं को छोड़ देता है।

प्र: *क्या भरोसा है कि वहाँ मेरे सत्कार के लिये कोई खड़ा है?*

उ: पर्याप्त रूप से पक्व होने पर साधक स्वाभाविक रूप से आश्वस्त होता है।

प्र: *यह पक्वता कैसे संभव बनती है?*

उ: विभिन्न उत्तर दिये जाते हैं, लेकिन पूर्व का जो भी विकास रहा हो, विचार उसमें वेग लाता है।

प्र: *यह तो चक्राकार तर्क हुआ। मैं पक्व हूँ इसलिये विचार के काबिल हूँ, लेकिन स्वयं विचार मुझे पक्व बनाता है।*

उ: मन हमेशा ऐसी कठिनाई महसूस करता है। वह स्वयं को संतुष्ट करने के लिये कोई सिद्धान्त चाहता है। लेकिन जो गंभीरता से ईश्वर तक पहुँचना चाहता है अथवा अपने सच्चे स्वरूप को जानना चाहता है, उस मनुष्य के लिये कोई सिद्धान्त आवश्यक नहीं है। [१०]

प्र: *मुझे अब कोई संदेह नहीं कि भगवान् की पद्धति सीधी है, लेकिन बहुत मुश्किल है। प्रारंभ कैसे किया जाय यह हम जानते नहीं। यदि हम मंत्र की तरह "मैं कौन हूँ? मैं कौन हूँ?" रटते चले जायँ, तो सुस्ती आ जाती है। दूसरी पद्धतियों में शुरू में कुछ भावात्मक करना होता है, और तब साधक कदम कदम आगे बढ़ सकता है। लेकिन भगवान् की पद्धति में ऐसा कुछ नहीं है। और अचानक आत्मा को पा लेना यद्यपि सीधा जरूर है, तो भी मुश्किल है।*

उ: आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि यह सीधी पद्धति है। यह सीधी है और सरल भी है। यदि हमसे भिन्न चीजों के पीछे जाना इतना सरल है, तो स्वयं आपने ही आत्मा के प्रति जाना मुश्किल कैसे हो सकता है? आप कहते हैं : "शुरू कहाँ से करें?", आदि-अंत नहीं है। आप स्वयं आदि में और अंत में भी हैं। यदि आप यहाँ और आत्मा कहीं दूसरी जगह हो और आपको पहुँचना हो तो आपसे यह कहा जा सकता है कि कहाँ से शुरू करना, कैसे यात्रा करना और कैसे वहाँ पहुँचना। यदि आप रमणाश्रम में रहकर यह पूछें : "मैं रमणाश्रम जाना चाहता हूँ, मुझे यात्रा कहाँ से प्रारंभ करनी चाहिये और कैसे वहाँ पहुँचना चाहिये?" तो कोई क्या कहेगा? मनुष्य का आत्मानुसंधान ऐसा ही है। वह हमेशा आत्मा ही है, और कुछ नहीं। आप कहते हैं: "मैं कौन हूँ?" मंत्र रटने जैसा बन जाता है, लेकिन इस प्रश्न का यह अर्थ नहीं कि आप बार-बार पूछते चले जायँ। यदि ऐसा हुआ तो विचार इतनी सरलता से मरेगा नहीं। आप जिसे सीधी पद्धति बताते हैं उसमें अर्थात् स्वयं को "मैं कौन हूँ?" ऐसा पूछने में – आपको करना यह है कि आप अपने भीतर – सब विचारों के मूलरूप – अहंविचार के जन्मस्थान की ओर मन को मोड़ें। चूँकि आत्मा आपके भीतर है, बाहर नहीं, आपको बाहर जाने की बजाय अपने अंदर मुड़कर डूबकी लगाने के लिये कहा जाता है। अपने आप के प्रति जाने से अधिक सरल और कौन-सी बात हो सकती है? लेकिन फिर भी हकीकत यह है कि कुछ लोगों को यह पद्धति मुश्किल लगेगी और पसंद नहीं आयेगी। इस कारण बहुत-सी अन्य पद्धतियाँ बताई जाती हैं। उनमें से प्रत्येक कुछ लोगों को श्रेष्ठ तथा सरल लगेगी। ऐसा उनकी पक्वता या योग्यता के अनुसार होता है।

लेकिन कुछ लोगों को विचारमार्ग के सिवा और कुछ भी पसंद नहीं आयेगा। वे पूछेंगे : "आप मूझे यह या वह वस्तु देखने या जानने को कहते हैं, लेकिन देखने-जाननेवाला कौन है?" दूसरी कोई भी पद्धति चुनी जाय, कर्ता हमेशा रहेगा। उससे दूर जाना संभव नहीं है। मनुष्य को यह कर्ता कौन है, इसका निर्णय अवश्य करना चाहिये, तब तक साधना समाप्त नहीं होगी। इस कारण आखिर सबको "मैं कौन हूँ?" का अन्वेषण करके इसका स्पष्ट निर्णय अवश्य करना होगा। आप फरियाद करते हैं कि प्रारंभ करने के लिये कोई ठोस वस्तु नहीं है, लेकिन इसके लिये आपके पास "अहम्" है। आप जानते हैं कि आप हमेशा होते हैं, यह शरीर हमेशा नहीं होता, जैसे नींद में। नींद यह सिद्ध करती है कि आप अशरीर रह सकते हैं। हम "अहम्" का किसी एक शरीर के साथ तादात्म्य करते हैं, अर्थात् आत्मा को शरीर मानते हैं, मर्यादित मानते हैं, इसी कारण सारी परेशानी है। हमें जो करना है वह यही कि आत्मा को शरीर के साथ एकरूप मानने की अर्थात् मर्यादित मानने की गलती नहीं करनी है। तब हम अपने आपको आत्मा, जो हम हमेशा हैं, वैसा जान लेंगे। (११)

प्र: *क्या मुझे "मैं कौन हूँ?" इस प्रकार विचार करना चाहिये?*

उ: आपने जान लिया है कि अहंविचार न जाने कहाँ से फूट पड़ता है। इसे पकड़े रहिये तथा इसके जन्मस्थान को ढूँढ निकालिये।

प्र: *मैं इसका मार्ग जान सकता हूँ?*

उ: आपको अभी अभी जैसा कहा गया है, वैसा कीजिये, फिर देखिये।

प्र: *मैं ठीक से समझ नहीं पाया हूँ कि मुझे क्या करना है।*

उ: यदि यह कोई बाहर की वस्तुगत बात होती, तो बाहरी तौर पर मार्ग बताया जा सकता था; यह तो आत्मगत है।

प्र: *लेकिन मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।*

उ: क्या? आप यह नहीं समझ पा रहे हैं कि आप हैं?

प्र: *कृपया मुझे राह दिखाइये।*

उ: क्या आपको आपके घर के अंदरवाले भाग में राह दिखाना आवश्यक है? (१२)

प्र: *आपने कहा है कि हृदय आत्मा का केन्द्र है।*

उ: हाँ, वह आत्मा का परमधाम या केन्द्र है। इस विषय में आपको कोई संदेह नहीं होना चाहिये। हृदय में जीव अर्थात् अहंकार के पीछे सच्चा आत्मा है।

प्र: *अब कृपया यह बताइये कि शरीर में वह किस जगह है।*

उ: इसको आप अपने मन से नहीं जान सकते। यदि मैं कहूँ कि यह (छाती की दाहिनी ओर संकेत करके) इसका केन्द्र है, तो आप इस सत्य को कल्पना के जरिये नहीं जान सकते। उसका अनुभव करने का एकमात्र मार्ग है : कल्पना करना छोड़िये और आप जो हैं, वह रहने का प्रयत्न कीजिये। जब आप अनुभव करेंगे, तो अपने आप जान लेंगे कि वहाँ उसका केन्द्र है।

यह केन्द्र है – हृदय है – जिसे उपनिषदों में हृद्गुहा, अरूल (अनुग्रह), उल्लम् (हृदय) कहा गया है।

प्र: *वह वहाँ है, ऐसा मैंने किसी ग्रंथ में पढ़ा नहीं।*

उ: यहाँ आने के बहुत समय पश्चात् मैंने आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रंथ अष्टांगहृदय के मलयालम अनुवाद में एक श्लोक देखा, जिसमें कहा गया था कि ओज: स्थान छाती की दाहिनी ओर है, जिसे संवित् का स्थान भी कहा जाता है। "सीतोपनिषद्" में निम्नलिखित श्लोक हैं :-

उपरि जठरदेशस्यापि वक्षान्तरे च
वपुषि विविधवर्णं षट्कमस्त्यंगकानाम् ।
कुवलयकलिकाभं दक्षिणांशे निविष्टम्
भवति हृदयमन्तर्मध्यतो द्व्यंगुलान्ते ॥
भवति वदनमस्य त्वावृतं तत्र मध्ये
वियति निबिडमास्तेऽज्ञानरूपं तमिस्त्रम् ।
इह हि सकलनाडीसंधयो वासनाश्च
भवति सदनमेतत्प्राणचेतोद्युतीनाम् ॥

"शरीर में छाती के बीच में, जठर के ऊपर विविध रंग के छह अंग हैं। भीतर दाहिनी ओर मध्य से दो अंगुल दूर कमल की कलिका के समान हृदय है। इसका मुख बंद है, और इसके मध्य में रहे हुए आकाश में अज्ञान का घना अंधकार है। यहाँ सब नाडी संधियाँ एवं वासनाएँ हैं। यह प्राण तथा चित्त के प्रकाश का निवास स्थान है।"

प्र: *क्या मैं आश्वस्त रह सकता हूँ कि प्राचीन ऋषियों ने हृदय शब्द से इसी केन्द्र का निर्देश किया है?*

उ: हाँ, यह सही है। लेकिन आपको उसकी स्थिति के बारे में जानने के बजाय उसका अनुभव करना चाहिये। मनुष्य यदि देखना चाहे तो उसे आँखों का स्थान निश्चित करना जरूरी नहीं है। हृदय आपके लिये सदैव खुला हुआ है, यदि आप उसमें प्रवेश करने के लिये उद्यत हों। आप न जानते हों, तब भी वह आपकी सब गतिविधियों को आश्रय देता है। आत्मा हृदय में है, ऐसा कहने के बजाय हृदय ही आत्मा है, ऐसा कहना कदाचित् अधिक उपयुक्त होगा। वस्तुत: आत्मा स्वयं केन्द्र है, जो सर्वत्र है और अपने हृदय होने के विषय में सभान-स्वयंप्रकाश है। [१३]

प्र: *यदि ऐसा है, तो उसे शरीर के किसी भाग में स्थित कैसे कहा जा सकता है? हृदय का स्थान निश्चित करने का मतलब जो वस्तु देशकालातीत है, उसके लिये शारीरिक मर्यादा निश्चित करना है।*

उ: यह सही है। लेकिन जो मनुष्य हृदय के स्थान के विषय में प्रश्न पूछता है, वह

स्वयं को शरीर के साथ या शरीर में रहा हुआ मानता है। इस प्रश्न को पूछते समय, आप यह कहेंगे कि आपका शरीर यहाँ है, और आप किसी दूसरी जगह से बोल रहे हैं? नहीं। आप आपके शारीरिक अस्तित्व का स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से हृदय के संदर्भ में भौतिक शरीर का निर्देश किया जाता है।

सत्य यह है कि शुद्ध चैतन्य अविभाज्य है, उसमें विभाग नहीं हैं। उसका कोई रूप या आकार नहीं है, भीतर बाहर नहीं है। उसके लिये दाया-बाँया नहीं है। शुद्ध चैतन्य जो कि हृदय है सबको अपने भीतर समाविष्ट किये हुए है और कुछ भी उसके बाहर या उससे भिन्न नहीं है। यह अंतिम सत्य है।

पूर्णता के इस दृष्टिकोण से हृदय, आत्मा अथवा चैतन्य का कोई विशेष स्थान भौतिक शरीर में निश्चित नहीं किया जा सकता। क्योंकि शरीर मन का प्रक्षेपणमात्र है, और मन तेजोमय हृदय का तुच्छ प्रतिबिम्ब है। सबका समावेश जिसमें होता है, वह हृदय भौतिक शरीर के छोटे-से स्थान में कैसे समाविष्ट हो सकता है, जो स्वयं एकमात्र सत्य के दृश्यरूप में व्यक्त हुए स्वरूप का स्वल्पतम अंश है?

लेकिन लोग यह नहीं समझते। वे भौतिक शरीर एवं विश्व के सन्दर्भ में ही सोचते हैं। उदाहरण के तौर पर, आप कहते हैं कि आप हिमालय के उस पार के देश से यहाँ इस आश्रम में आये हैं। लेकिन यह सत्य नहीं है। आना-जाना या किसी भी प्रकार की गति उस एक, सर्वव्यापक आत्मा – जो वास्तव में आप हैं – के लिये कैसे हो सकती है? आप तो हमेशा जहाँ होते हैं, वहीं है। आपका शरीर एक स्थान से दूसरे स्थान में, यहाँ पहुँचने तक लाया गया है। यह सरल-सादा सत्य है, लेकिन उस मनुष्य के लिये, जो स्वयं को दृश्य वस्तुरूप विश्व में रहा हुआ एक द्रष्टा मानता है, यह सर्वथा काल्पनिक लगता है।

सर्वसाधारण समझ की भूमिका पर नीचे उतरकर भौतिक शरीर में हृदय के स्थान का निर्देश किया जाता है।

प्रः *तो मैं श्री भगवान् के छाती में विशेष स्थान में हृदय-केन्द्र का अनुभव होता है, ऐसे विधान को कैसे समझ सकता हूँ?*

उः एक बार यदि आप यह स्वीकार करें कि सत्य तथा पूर्णता के दृष्टिकोण से शुद्ध चैतन्यरूप हृदय देशकालातीत है, तो शेष सब बातें उनके सही परिप्रेक्ष्य में आप सरलता से समझ जायेंगे। (१४)

प्रः *हृदय दाहिने, बायें या मध्य में रहा हुआ बताया जाता है, इन मतभेदों के रहते हम उस पर ध्यान कैसे कर सकते हैं?*

उः आप हैं, यह एक तथ्य है। ध्यान आपके द्वारा आप में और आपका होता है। जहाँ आप हैं, वहीं ध्यान होना चाहिये, वह आपके बाहर नहीं हो सकता। इस प्रकार आप ध्यान के केन्द्र हैं, और वही हृदय है।

संशय तब उत्पन्न होता है, जब आप उसे किसी ठोस भौतिक वस्तु के साथ एकरूप समझते हैं। हृदय कोई खयाल, या ध्येय नहीं है, बल्कि ध्यान का स्थान है। आत्मा सदैव केवल (अकेला) रहता है। आप शरीर को हृदय में देखते हैं; विश्व भी वहीं दिखता है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इस कारण सभी प्रकार के प्रयत्नों का स्थान वही है। [१५]

प्रः *आप कहते हैं कि अहंविचार हृदयकेन्द्र से उत्पन्न होता है। हमें उसका मूल वहीं ढूँढना चाहिये?*

उः मैं आपको आपके शरीर में अहं कहाँ से उत्पन्न होता है, उसे देखने के लिये कहता हूँ, लेकिन यह कहना वस्तुतः सत्य नहीं है कि अहं का उदय-अस्त छाती के दक्षिण भाग में रहे हुए हृदय से होता है। हृदय सत्य का दूसरा नाम है, और वह शरीर के अंदर या बाहर नहीं है। चूँकि वह केवल अद्वितीय हैं, उसमें अंदर-बाहर नहीं हो सकता। [१६]

प्रः *हृदय पर ध्यान करने के लिये मुझे छाती की दाहिनी ओर मन को एकाग्र करना चाहिये?*

उः हृदय भौतिक नहीं है। दाहिनी या बायीं ओर ध्यान नहीं करना चाहिये। ध्यान आत्मा पर करना चाहिये। सब जानते हैं : मैं हूँ। यह "मैं" कौन है? वह अंदर-बाहर या दाहिने-बायें नहीं है। "मैं हूँ", बस यही पूर्ण है। [१७] दाहिने, बायें का खयाल छोड़िये, ये तो शरीर के संदर्भ में कहे जाते हैं। हृदय आत्मा है, उसका अनुभव कीजिये, और आप स्वयं सब समझ जायेंगे। [१८] हृदय क्या है, और कहाँ है? यह जानना जरूरी नहीं। यदि आप आत्मा का अनुसंधान शुरू करेंगे, तो वह अपना काम करेगा। [१९]

प्रः *"उपदेशसार" के एक श्लोक में हृदय का उल्लेख है, जहाँ यह कहा गया है कि हृदय में मन को समाहित कर देना कर्म, योग, भक्ति एवं ज्ञान है। वह हृदय क्या है?*

उः जो सबका मूल है, जिसमें सब रहते हैं, और अंत में लीन हो जाते हैं, उस हृदय का वहाँ उल्लेख है।

प्रः *इस प्रकार के हृदय का विचार हम कैसे कर सकते हैं?*

उः आपको किसी वस्तु का विचार क्यों करना चाहिये? आपको केवल यह देखना है कि "अहं" कहाँ से प्रकट होता है। [२०] जहाँ से सब शरीरधारी जीवों के विचार प्रकट होते हैं उसे हृदय कहते हैं। उसके सारे वर्णन केवल मन की कल्पनाएँ हैं। [२१]

प्रः *छाती में विविध वर्ण के छह अंग हैं, इनमें मध्य से दो अंगुल दाहिनी ओर हृदय है, ऐसा कहा जाता है। [२२] लेकिन हृदय निराकार है। हमें उसके आकार की कल्पना करके उस पर ध्यान करना चाहिये?*

उः नहीं। केवल "मैं कौन हूँ" की तलाश आवश्यक है। जो गहरी नींद एवं जाग्रत में सदैव रहता है, वह एक समान है। जाग्रत में दुःख है, और उसे दूर करने का प्रयत्न भी है। आपसे पूछा जाय कि नींद से कौन जगा है? तो आप कहते हैं "मैं"। इस समय आपसे कहा

जाता है कि इस मैं को दृढ़ता से पकड़े रहिये। यदि ऐसा किया जाय, तो शाश्वत सत्ता स्वयं प्रकट होगी। मुख्य बात "मैं" का अन्वेषण है, न कि हृदय केन्द्र पर ध्यान। बाहर-भीतर जैसा कुछ नहीं है; दोनों का अर्थ समान हैं या कोई अर्थ नहीं।

यह सच है कि हृदय केन्द्र पर एकाग्रता की पद्धति भी है। यह केवल अभ्यास है, आत्मानुसंधान नहीं। हृदय केन्द्र पर एकाग्रता करनेवाला साधक ही मन के निश्चल, निर्विचार होने पर सभान रह सकता है; दूसरे केन्द्रों पर ध्यान करनेवाले इस प्रकार सभान नहीं रह सकते, केवल मन के पुनः सक्रिय होने पर अनुमान करते हैं कि मन निश्चल था। [२३]

शरीर के किसी भी भाग में आत्मा के निवास को मानकर ध्यान करनेवाले को उस विचार की शक्ति से जैसे आत्मा वहीं रहता हो ऐसा मालूम होगा। उदय-अस्त होनेवाले "अहं" के लिये प्रेमास्पद हृदय ही एकमात्र शरण है। यद्यपि यह कहा जाता है कि हृदय भीतर-बाहर दोनों जगह है, लेकिन निश्चित जानिये कि पूर्ण सत्य की दृष्टि से वह न भीतर है, न बाहर, क्योंकि शरीर जो कि भीतर-बाहर के भेदों का आधार है – विचार करनेवाले मन की कल्पना है। हृदय अथवा मूलस्थान सबका आदि, मध्य एवं अंत है। परम व्योमरूप हृदय कभी भी कोई रूप नहीं है, वह सत्य का अप्रमेय प्रकाश है। [२४]

प्रकरण ७

शरणागति

दुनिया की अधिकतर धार्मिक परंपराओं में ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण को जीवभाव से पर होने का साधन माना गया है। श्री रमण इस मार्ग की प्रामाणिकता का स्वीकार करते थे एवं प्रायः कहते कि यह पद्धति आत्मानुसंधान जितनी ही असरकारक है। परंपरागतरूप से शरणागति का मार्ग द्वैतमूलक भक्तिमार्ग की साधनाओं से संबद्ध है, लेकिन श्री रमण के लिये ऐसी साधनाएँ मूल्य की दृष्टि से गौण थीं। वे भारपूर्वक कहते कि सच्ची शरणागति द्रष्टा-दृश्य के संदर्भ में की गई ईश्वर की पूजा से पर है, क्योंकि उसकी सफलतापूर्वक परिणति तभी होती है, जब स्वयं को ईश्वर से भिन्न मानने वाले भक्त का अपना अलग अस्तित्व लुप्त हो जाय। इस ध्येय को प्राप्त करने के लिये वे दो भिन्न पद्धतियों का उपदेश करते थेः-

१- तब तक अहंविचारसूत्र को पकड़ रक्खा जाय, जब तक स्वयं को ईश्वर से अलग माननेवाला भक्त अदृश्य हो जाय।

२- ईश्वर अथवा आत्मा पर अपने जीवन की पूरी जिम्मेवारी डाल दी जाय। इस प्रकार के आत्मनिवेदन की सफलता के लिये मनुष्य की अपनी कोई इच्छा नहीं होनी चाहिये, एवं उसको ईश्वर से स्वतंत्र रूप में कार्य करने की क्षमता वाले व्यक्ति होने के विचार से मुक्त होना चाहिये।

प्रथम पद्धति स्पष्टरूप में आत्मानुसंधान है, केवल उसका नाम भिन्न है। श्री रमण प्रायः विचार और शरणागति की साधनाओं की यह कहकर समानता दिखाते थे कि ये एक ही प्रक्रिया के दो नाम हैं, या आत्मानुभव के ये दो ही प्रभावी साधन हैं। ऐसा उनका कथन उनके मौलिक विचार से सुसंगत है कि कोई भी पद्धति जिसमें निरंतर अहंविचार के विषय में सभानता रहती है, प्रामाणिक है तथा आत्मप्राप्ति का सीधा मार्ग है; जबकि दूसरी पद्धतियाँ, जिनमें ऐसी सभानता आवश्यक नहीं होती, टेढ़ी या अप्रत्यक्ष हैं।

आत्मकेन्द्री अहं की निरंतर सभानता आत्मानुभव का एकमात्र मार्ग है ऐसा उनका आग्रह शरणागति के साथ साधारणतया संबंधित भक्ति तथा ईश्वरपूजन की

साधनाओं के प्रति उनके दृष्टिकोण को रंजित करता था। वे कभी भी अपने अनुयायियों को इन साधनाओं का अनुसरण करने के लिये मना नहीं करते थे, लेकिन वे यह बात स्पष्ट कर देते थे कि चूँकि ईश्वर ही एकमात्र सत्य है, उसके साथ भक्त, पूजक, दास इत्यादि किसी भी प्रकार का संबंध भ्रममूलक है। वे कहते कि मनुष्य वस्तुतः जो है, वही बना रहे अर्थात् ईश्वर से संबंध विषयक सारे विचारों को शान्त करके, अपनी सहज अवस्था में रहे, यही सच्ची पराभक्ति है।

अपने जीवन की पूरी जिम्मेवारी ईश्वर पर डालने की दूसरी पद्धति भी आत्मानुसंधान से जुड़ी हुई है, क्योंकि इसका लक्ष्य अहंविचार को वह जिन पदार्थों एवं कर्मों के साथ तादात्म्य करता है, उनसे अलग करने का है। इस साधनामार्ग का अनुसरण करते समय यह विचार निरंतर बना रहना चाहिये कि इच्छा रखनेवाला या कर्म करनेवाला कोई व्यक्ति नहीं है; केवल आत्मा का अस्तित्व है, और आत्मा से अलग स्वतंत्ररूप से कर्म करने की सामर्थ्य रखनेवाला कोई नहीं है। इस मार्ग का अनुसरण करने के दौरान जब भी साधक को यह पता चले कि वह विचारों तथा कर्मों की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले रहा है, जैसे "मेरी यह इच्छा है", अथवा "मैं यह कार्य कर रहा हूँ", तो उसे चाहिये कि वह चित्त को बाहरी सम्पर्कों से भीतर की ओर मोड़कर आत्मा में स्थिर करने का यत्न करे। यह आत्मानुसंधान के समय जब यह पता चले कि ध्यान आत्मा से चलित हो गया है, तो पुनः आत्मा पर स्थिर करने के प्रयत्न के समान है। इन दोनों प्रक्रियाओं में अहंविचार को पृथक् करके उसे अपने मूल में या जन्मस्थान में लीन करने का लक्ष्य है।

श्री रमण स्वयं यह स्वीकार करते थे कि इस पद्धति से अहं का स्वयंस्फूर्त, पूर्ण समर्पण कई लोगों के लिये संभव नहीं है। इस लिये वे प्रायः अपने अनुयायियों को भक्ति एवं मनोनिग्रह सिद्ध करनेवाले कुछ प्राथमिक उपाय करने की सलाह देते थे। इनमें से अधिकतर उपायों में ईश्वर अथवा गुरु के नाम-रूप का अवलंबन लेकर निरंतर उनके स्मरण-दर्शन का अभ्यास करना निहित होता था। वे अपने भक्तों को कहते कि यदि ऐसा नियमित रूप से प्रेम तथा श्रद्धा के साथ किया जाय, तो चित्त अनायास ही ध्येय में तन्मय होगा।

एक बार इतना सिद्ध हो जाय, तो पूर्ण समर्पण सरल हो जाता है। ईश्वर का निरंतर स्मरण चित्त को अन्य पदार्थों के साथ तन्मय होने से रोककर, केवल ईश्वर का ही वास्तविक अस्तित्व है इस निश्चय को दृढ़ बना देता है। इसके प्रत्युत्तररूप में ईश्वर या आत्मा की ओर से अनुग्रहशक्ति का प्रवाह बहना शुरू होता है, जो अहंकार की पकड़ को शिथिल बना देता है और वासनाओं को क्षीण करता है। ये वासनाएँ ही अहंकार के अस्तित्व को बल देकर उसे सातत्य प्रदान करती हैं। क्रमशः अहंकार नियंत्रणक्षम मात्रा तक क्षीण हो जाता है, एवं आत्मनिष्ठ बनने के

थोड़े से प्रयास से हृदय में लीन होने की आदत बन जाती है।

आत्मानुसंधान की तरह प्रपत्तिमार्ग में भी अंतिम साक्षात्कार आत्मा की अनुग्रहशक्ति से अपने आप सिद्ध होता है। जब चित्त की सब बहिर्मुख वृत्तियाँ सद्वस्तुरूप आत्मा में विलीन होने लगती हैं, तो आत्मा शेष बचे हुए संस्काररूप सूक्ष्म अहंकार को पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है, जिससे फिर कभी भी उसका उदय नहीं होता। अहंकार का यह अंतिम विसर्जन तभी होता है, जब आत्मसमर्पण सर्वथा निरपेक्ष हो। यदि वह अनुग्रह, आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष पाने की इच्छा से किया जाय, तो वह आंशिक शरणागति मानी जायगी, जो व्यावसायिक लेन-देन से अधिक कुछ नहीं, क्योंकि इसमें अहंकार कुछ इनाम प्राप्त करने की इच्छा से प्रयत्न करता है।

प्रः *पूर्ण, निरपेक्ष शरणागति क्या है?*

उः यदि कोई आत्मसमर्पण करता है, तो प्रश्न पूछने के लिये या जिसकी फिकर करनी पड़े ऐसा कोई शेष नहीं रहना चाहिये। अहंविचार के सूत्र को पकड़े रहने से अन्य विचारों का निरोध होता है, अथवा साधक स्वयं को पूर्णतया, बिना किसी शर्त के उच्चतर शक्ति के समक्ष समर्पित करता है; साक्षात्कार के लिये ये दो ही मार्ग हैं। (१)

प्रः *पूर्ण शरणागति में मनुष्य को मोक्ष या ईश्वरसाक्षात्कार की इच्छा भी नहीं करनी चाहिये?*

उः पूर्ण शरणागति में आपकी अपनी कोई इच्छा नहीं होनी चाहिये। ईश्वर जो भी दे उसमें संतोष मानना चाहिये।

प्रः *मैं इस बात से संतुष्ट हूँ। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि इस शरणागति के भाव को पाने के लिये मुझे क्या करना चाहिये।*

उः दो मार्ग हैं। एक, अहं के मूल को ढूँढकर उसमें समा जाना। दो, यह अनुभव करना कि मैं अपने आप में असहाय हूँ। केवल ईश्वर सर्वसमर्थ है, और मुझको पूर्णरूप से उसके हाथ में सौंप देने के अलावा मेरी सुरक्षा का अन्य कोई मार्ग नहीं है। इस प्रकार साधक क्रमशः इस निर्णय पर आता है कि ईश्वर का ही सच्चा अस्तित्व है, और अहंकार की कोई गिनती नहीं। दोनों मार्ग एक लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। पूर्ण शरणागति ज्ञान या मोक्ष का दूसरा नाम है। (२)

प्रः *मुझे शरणागति सरल लगती है, मैं उसका अनुसरण करना चाहता हूँ।*

उः आप किसी भी मार्ग को पसंद करें, आपको उस एक में स्वयं को लुप्त कर देना होगा। शरणागति तभी पूर्ण कही जा सकती है, जब आप "तू ही सब कुछ है", और "तेरी ही इच्छा पूरी हो" के स्तर तक पहुँचें।

यह अवस्था ज्ञान से भिन्न नहीं है। "सोहम्" में द्वैत है, शरणागति में अद्वैत है। सत्य में न तो द्वैत है, न अद्वैत, लेकिन वह है जो है। लोगों को शरणागति सरल लगती है, क्योंकि वे सोचते हैं कि एक बार मुख से कह दिया : "मैं शरणागत हूँ", और अपना भार ईश्वर को सौंप दिया, तो वे कुछ भी करने के लिये स्वतंत्र हैं। लेकिन सत्य यह है कि शरणागति के पश्चात् आपकी पसंद, नापसंद नहीं हो सकती; आपकी इच्छा का अस्तित्व समाप्त हो जाना चाहिये, और उसके स्थान में ईश्वरेच्छा आ जानी चाहिये। इस प्रकार अहंकार के विनाश के बाद, ऐसी अवस्था प्राप्त होती है, जो ज्ञान से भिन्न नहीं है। इस तरह आप किसी भी मार्ग का अनुसरण करें, अंत में आपको ज्ञान या एकत्व तक अवश्य आना पड़ता है। [३]

प्र: *अहंकार के विनाश का श्रेष्ठ उपाय क्या है?*

उ: जिसे जो मार्ग पसंद आता है और सरल लगता है वह उसके लिये श्रेष्ठ है। सब मार्ग समानरूप से अच्छे हैं। वे एक लक्ष्य की प्राप्ति के विभिन्न उपाय हैं। आत्मा में अहंकार का लय लक्ष्य है। भक्त जिसे शरणागति कहता है, विचारमार्ग का अनुयायी उसे ज्ञान कहता है। दोनों अहंकार को वह जहाँ से उत्पन्न हुआ था उस मूलस्थान में ले जाने का तथा उसमें विलीन करने का प्रयत्न करते हैं। [४]

प्र: *अनुग्रह से साधक में पात्रता आती है या नहीं?*

उ: इसको ईश्वर पर छोड़िये। बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कीजिये। दो में से एक काम अवश्य करना होगा। आत्मसमर्पण कीजिये क्योंकि आप अपना असामर्थ्य स्वीकार करते हैं, और उच्चतर शक्ति की सहायता की अपेक्षा रखते हैं, अथवा दुःख के कारण की तलाश करते हुए, मूलतक पहुँचकर उसमें समा जाइये। दोनों तरीकों से दुःख से मुक्त होना संभव है। ईश्वर शरण में आये हुए दीन जीव का कभी भी त्याग नहीं करते।

प्र: *शरणागति के बाद मन की दिशा कौन-सी होती है?*

उ: क्या यह प्रश्न शरणागत हुआ मन करता है? [५]

प्र: *निरंतर शरणागति की इच्छा करके मैं बढ़ते हुए अनुग्रह का अनुभव करना चाहता हूँ।*

उ: पहली और आखरी बार आत्मसमर्पण कीजिये और इच्छा का त्याग कीजिये। जब तक कर्तृत्व रहेगा, इच्छा भी रहेगी। वह भी व्यक्तित्व है। यदि वह जायगा, तो आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकाशित होगा तथा इस बात का स्पष्ट अनुभव भी होगा। कर्म नहीं, कर्तृत्व बंधन का कारण है।

"निश्चल बनो और जानो कि 'मैं' ईश्वर हूँ", इसमें कही गई निश्चलता पूर्ण आत्मसमर्पण है, जिसमें व्यक्तित्व अणुमात्र भी नहीं है। निश्चलता सदैव बनी रहेगी और मन की चंचलता मिट जायगी। चित्त का स्पन्दन इच्छा का, कर्तृत्व का एवं व्यक्तित्व का कारण है, इसे समाप्त कर दिया जाय, तो फिर शान्ति ही शान्ति है। वहाँ जानने का अर्थ होना है, अर्थात् यह ज्ञान ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटीयुक्त सापेक्ष ज्ञान से पर है।

प्रः *"मैं ईश्वर हूँ" अथवा "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा विचार सहायक है?*

उः "मैं हूँ वह मैं हूँ"। "मैं हूँ" ईश्वर है, "मैं ईश्वर हूँ" ऐसा विचार नहीं। "मैं हूँ" का अनुभव कीजिये, विचार मत कीजिये। "जानो कि मैं ईश्वर हूँ" ऐसा कहा गया है, "सोचो कि मैं ईश्वर हूँ" ऐसा नहीं। [६]

शरणागति की सारी बातें गुड़ की गणेशमूर्ति से थोड़ा गुड़ चुराकर गणेश को नैवेद्य के रूप में अर्पण करने जैसी हैं। आप कहते हैं : "मैंने शरीर आत्मा और मेरी सब चीजें ईश्वर को समर्पित कर दीं"। क्या ये सब चीजें आपकी थीं, जो आप उनको समर्पित करें? आप सिर्फ इतना कह सकते हैं : "अब तक मैंने गलती से ऐसा मान लिया था कि ये सब आपकी चीजें मेरी हैं, लेकिन अब मैंने जान लिया है कि ये सब आपकी है। अब मैं कभी भी ये मेरी हैं, ऐसा मानकर व्यवहार नहीं करूँगा"। यह जानना कि ईश्वर अथवा आत्मा के अलावा और कुछ नहीं है, तथा "मैं" और "मेरा" का अस्तित्व नहीं है, केवल आत्मा का ही अस्तित्व है, ज्ञान है। इस प्रकार भक्ति और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। भक्ति ज्ञान की माता है। [७]

प्रः *चूँकि हम दुन्यवी मनुष्य हैं, हमें एक या दूसरे प्रकार का शोक रहता है, और नहीं जानते कि इससे किस प्रकार छूटा जाय। हम ईश्वर की प्रार्थना करते हैं, लेकिन जवाब नहीं मिलता। हम क्या करें?*

उः ईश्वर में विश्वास रखिये।

प्रः *हम आत्मसमर्पण करते हैं, तब भी कोई सहायता नहीं मिलती।*

उः हाँ, यदि आपने आत्मसमर्पण किया है, तो आपको अवश्य ईश्वरेच्छानुसार जीना चाहिये और जो आपको पसंद नहीं है, उसके विषय में फरियाद नहीं करनी चाहिये। इस समय दिख रहीं वस्तुएं तथा परिस्थिति बदलकर दूसरे प्रकार की दिख सकती हैं। दुःख अक्सर ईश्वर में श्रद्धा उत्पन्न करता है।

प्रः *लेकिन हम सांसारिक जीव हैं। पत्नी, बच्चे, मित्र और संबंधी हैं। उनके अस्तित्व की अवगणना हम नहीं कर सकते, और हमारे अस्तित्व के छोटे अंश को सुरक्षित रक्खे बिना, केवल ईश्वर की इच्छा पर निर्भर नहीं रह सकते।*

उः इसका अर्थ यह है कि आपने आत्मसमर्पण नहीं किया, जैसा आप कहते हैं। आपको केवल ईश्वर में श्रद्धा रखनी चाहिये। [८]

उसके समक्ष आत्मसमर्पण कीजिये और यह उसकी इच्छा पर छोड़िये कि वह प्रकट हो या अदृश्य रहे। उसकी प्रसन्नता की राह देखिये। यदि आप उसे आप जैसा कहें ऐसा करने को कहें, तो यह आत्मसमर्पण नहीं, आज्ञा हुई। आप उसे आज्ञापालक बनने को कहने के साथ ऐसा नहीं सोच सकते कि आपने आत्मसमर्पण किया है। वह जानता है कि आपके लिये सबसे श्रेष्ठ क्या है और उसे कब और कैसे करना चाहिये। सब कुछ पूर्णतया उसपर छोड़ दीजिये। सारा बोझ उसका है, आपको अब कोई चिन्ता नहीं है। आपकी सब चिन्ताएँ उसकी हैं। यह आत्मसमर्पण – भक्ति है।

अथवा तलाश कीजिये कि किसे ये चिन्ताएँ, ये प्रश्न होते हैं। हृदय की गहराई में डूबकर आत्मनिष्ठ होकर रहिये। इन दो में से एक मार्ग साधक के लिये खुला है। (९)

प्र: *ऐसा आत्मसमर्पण असंभव है।*

उ: हाँ, प्रारंभ में पूर्ण आत्मसमर्पण असंभव है, लेकिन आंशिक समर्पण सब के लिये निश्चितरूप से संभव है। समय पर वही पूर्ण समर्पण के प्रति ले जाता है। ठीक है, यदि समर्पण असंभव है, तो क्या किया जा सकता है? मन की शान्ति नहीं है, आप उसे पाने में असहाय हैं, ओर आत्मसमर्पण से ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। (१०)

प्र: *केवल शरणागति आत्मा तक पहुँचने के लिये पर्याप्त है?*

उ: मनुष्य आत्मसमर्पण करे यही पर्याप्त है। समर्पण का अर्थ है स्वयं को अपने मूलकारण के हवाले कर देना। इस काल्पनिक भ्रम में न रहिये कि यह मूलकारण आपके बाहर रहा हुआ कोई ईश्वर है। आपका मूलकारण आपके अंदर है। अपने आपको उसके हवाले कर दीजिये। इसका अर्थ यह है कि आपको अपने मूल की तलाश करके उसमें समा जाना चाहिये। (११)

प्र: *(कागज पर लिखा हुआ) कहा जाता है कि अन्य सब विचारों को छोड़कर केवल ईश्वर का आश्रय लेने से मनुष्य सब कुछ पा सकता है। क्या इसका यह अर्थ है कि हमें एक स्थान में निश्चल बैठकर हमेशा ईश्वर का ध्यान करना चाहिये और अन्य सारे विचार – शरीर निर्वाह के लिये आवश्यक भोजनादि के विचार भी – छोड़ देने चाहिये? बीमार होने पर औषध एवं चिकित्सा के बारे में नहीं सोचना चाहिये? स्वास्थ्य एवं रोगनिवारण की चिन्ता पूर्णतया ईश्वर पर छोड़नी चाहिये?*

भगवद्गीता में कहा है: "जो मनुष्य सब कामनाओं को छोड़कर, निस्पृह एवं अहंताममतारहित होकर विचरण करता है, वह शान्ति प्राप्त करता है"। इसका अर्थ सब इच्छाओं का त्याग है। इसलिये क्या हमें केवल ईश्वर के ध्यान में समय बिताना चाहिये और बिना माँगे, उसकी कृपा से जो भी खाने-पीने को मिल जाय, उसी का स्वीकार करना चाहिये? या हमें थोड़ा प्रयत्न करना चाहिये?

भगवान्! कृपया हमें शरणागति का रहस्य बताइये।

उ: (श्री रमण ने कागज पर लिखे प्रश्नों को पढ़कर खंड में बैठे सबको संबोधन करते हुए कहा) : शरणागति का अर्थ नि:संदेह सब विचारों से अनासक्त रहना है, लेकिन क्या इसका यह अर्थ है कि भौतिक शरीर के निर्वाह के लिये आवश्यक खानेपीने के विचारों को छोड़ देना है? इन्होंने पूछा है : "बिना माँगे, ईश्वरेच्छा से जो भी मिले उसे मुझे खाना है या कुछ प्रयत्न भी करना है?" ठीक है, मान लिया जाय कि हमें खाना अपने आप मिला, तब भी खायेगा कौन? मान लीजिये किसी ने हमारे मुँह में डाल दिया, तो क्या हमें कम से कम उसे निगलना नहीं पड़ेगा? क्या यह प्रयत्न नहीं है? फिर इन्होंने पूछा है: "यदि मैं बीमार हो गया, तो मुझे दवाई लेनी चाहिये या स्वास्थ्य की चिन्ता ईश्वर को

सौंपकर चुप रहना चाहिये?" श्री शंकराचार्य के ग्रंथ "साधनपंचकम्" में लिखा है : "क्षुधारूप व्याधि की चिकित्सा के लिये भिक्षा में मिले अन्नरूप औषध को खाना चाहिये"। इसके लिये साधु को गाँव में जाकर भिक्षा माँगनी चाहिये। यदि सब लोग यह सोचकर कि खाना आयेगा तो ही खायेंगे, आँखें मूँदकर निश्चल होकर बैठे रहें तो दुनिया कैसे चलेगी? इसलिये अपने समाज की परंपरा के अनुसार मिलनेवाली चीजों का स्वीकार मनुष्य को अवश्य करना चाहिये, लेकिन उसे मैं स्वयं यह कर रहा हूँ, ऐसे भाव से अवश्य मुक्त रहना चाहिये। मैं यह कर रहा हूँ, ऐसा ख्याल बंधन है। इसलिये भूख लगने पर खाना चाहिये या नहीं और बीमार होने पर दवाई लेनी चाहिये या नहीं ऐसे संदेह करने के बजाय सोच विचार करके वह उपाय ढूँढ निकालना चाहिये जिससे कर्तापन के ख्याल का त्याग किया जा सके। ऐसे संदेह होते रहेंगे और उनका कभी भी अंत नहीं होगा। ऐसे संदेह भी हो सकते हैं, "पीड़ा होने पर मुझे चीखना चाहिये या नहीं? निःश्वास के बाद मुझे साँस लेनी चाहिये या नहीं?" ईश्वर कहिये या कर्म कहिये, कोई कर्ता-विधाता इस विश्व में प्रत्येक जीव के चित्त के विकास के अनुरुप उससे विविध कर्म करवाता रहेगा। यदि उस उच्चतर शक्ति पर सारी जिम्मेवारी डाल दी जाय, तो घटनाएँ अपने आप होती चली जायेंगी। हम इस पृथ्वी पर चलते हैं। चलते समय प्रत्येक कदम पर क्या हम यह सोचते हैं कि एक पैर उठाने के बाद मुझे दूसरा भी उठाना चाहिये या वहीं रुक जाना चाहिये? क्या चलने का कार्य अपने आप नहीं होता? श्वासोच्छ्वास के बारे में भी यह सत्य है। श्वास-प्रश्वास लेते या छोड़ते समय कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया जाता। जीवन के विषय में भी यह सत्य है। क्या हम लोग अपनी इच्छा से कुछ भी छोड़ सकते हैं, अथवा चाहें सो कर सकते हैं? हमारे अनजाने में ही कई बातें अपने आप होती रहती हैं। ईश्वर के समक्ष पूर्ण शरणागति का अर्थ है सब विचारों का त्याग एवं मन की एक ईश्वर में केन्द्रितता। यदि हम उसमें चित्त एकाग्र करें, तो दूसरे विचार अदृश्य हो जायेंगे। यदि चित्त, वाणी एवं शरीर के सब कर्म ईश्वर को समर्पित कर दिये जायँ, तो हमारे जीवन का पूरा भार उस पर होगा। [१२]

प्रः *लेकिन क्या ईश्वर मेरे द्वारा किये जा रहे सब कर्मों का वस्तुतः कर्ता है?*

उः मनुष्य सोचता है कि वह कर्ता है। यह उसकी वर्तमान परेशानी का कारण है। लेकिन यह एक गलती है। उच्चतर शक्ति सब कुछ करती है, और मनुष्य केवल उसका निमित्त या साधन है। यदि वह इस व्यवस्था का स्वीकार करता है, तो मुक्त है, अन्यथा परेशानियों को न्यौता देता है। उदाहरण के तौर पर मंदिर के गोपुरम् के बैठकवाले भाग में रही मनुष्याकार शिल्पकृति देखिये, जिसे इस तरह बनाया गया है कि वही बुर्ज का पूरा बोझ अपने कंधों पर उठाती हो ऐसा दिखता है। उसके बैठने की रीत एवं चेहरे के भाव बड़े तनाव को व्यक्त करते हैं, जैसे कि वह गोपुरम् का सारा बोझ उठाती हो। लेकिन सोचिये, मंदिर एवं गोपुरम् की रचना पृथ्वी पर की गई है और उनका पूरा भार नींव पर

टिका हुआ है। शिल्पकृति गोपुरम् का एक भाग है, लेकिन ऐसा दिखता है जैसे वह गोपुरम् का भार उठा रही हो। क्या यह विचित्र-सा नहीं है? कर्तृत्व का भार अपने ऊपर माननेवाले मनुष्य इस तरह के हैं। (१३)

प्रः *स्वामी, ईश्वर से प्रेम करना अच्छा नहीं है? तो प्रेममार्ग का अनुसरण क्यों न किया जाय?*

उः किसने कहा कि आपको उसका अनुसरण नहीं करना चाहिये? लेकिन जब आप प्रेम की बात करते हैं, तो वहाँ द्वैत है। है कि नहीं? प्रेम करने वाला भक्त तथा जिससे प्रेम किया जाय वह ईश्वर। लेकिन भक्त ईश्वर से भिन्न नहीं है, इसलिये प्रेमास्पद आपका अपना आत्मा है।

प्रः *इसलिये मैं आपसे पूछ रहा हूँ कि प्रेममार्ग से भक्ति होती है या नहीं?*

उः ठीक यही बात मैं कह रहा हूँ। प्रेम ईश्वर का वास्तविक स्वरूप है। "मैं इसे या उसे प्रेम नहीं करता", ऐसा कहते हुए आप जब सब वस्तुओं का त्याग करते हैं, तब जो शेष रहता है वह स्वरूप है, वह आत्मा का सच्चा स्वरूप है। वह विशुद्ध आनंद है, उसे आप शुद्ध आनंद, ईश्वर, आत्मा या कुछ भी कह लीजिये, वह भक्ति है, वह ज्ञान है एवं सब कुछ है।

इस तरह जब आप सबका त्याग करते हैं, तो शेष केवल आत्मा रहता है, वह सच्चा प्रेम है। जो इस प्रकार प्रेम का रहस्य जानता है, वह संपूर्ण विश्व को प्रेमरूप देखता है। (१४)

चैतन्य का विस्मरण न होने का अनुभव भक्ति की अवस्था है। यह अवस्था कभी कम न होनेवाले सच्चे प्रेम का संबंध है, क्योंकि आत्मा का अविभाज्य परमानंद के रूप में प्रकाशित होनेवाला ज्ञान प्रेम के सच्चे स्वरूप में सर्वत्र प्रसारित हो जाता है।

यदि मनुष्य प्रेम के सत्य को जान लेता है जो कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप है, तो जीवन की उलझी गुत्थी सुलझाई जा सकती है। प्रेम की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करके ही मुक्ति मिलती है। सब धर्मों का यह हार्द है – मर्म है। आत्मानुभव केवल प्रेम है, अर्थात् प्रेम को देखना, प्रेम को सुनना, प्रेम का ही अनुभव करना, प्रेम का ही स्वाद तथा सुगंध लेना, यही अखंड आनंद है। (१५)

प्रः *मुझे भक्ति प्राप्त करने की इच्छा है, भक्ति बढ़ती रहे यही कामना है, मेरे लिये साक्षात्कार का विशेष महत्व नहीं है, भक्ति में दृढ़ता चाहिये।*

उः यदि भक्ति की अभीप्सा है, तो साक्षात्कार आपके न चाहने पर भी आपको प्राप्त होगा। (१६) भक्ति की अभीप्सा की तीव्रता में चित्त पिघलना चाहिये। कपूर जलने पर कुछ शेष नहीं रहता। चित्त कपूर है। जब कुछ भी शेष रक्खे बिना चित्त आत्मा में विलीन हो जाय, तो उसे आत्मसाक्षात्कार कहते हैं। (१७)

प्रः *मुझे मूर्ति के ध्यान में श्रद्धा है, वह मुझे ज्ञान प्राप्त नहीं करायेगा?*

उ: अवश्य करायेगा। उपासना से चित्त एकाग्र होता है। तब चित्त दूसरे विचारों से मुक्त तथा ध्यानमूर्ति से भर जाता है। मन ध्येय से एकरूप होकर अत्यंत शुद्ध हो जाता है। तब सोचिये कि उपासक कौन है? उत्तर है मैं या आत्मा। इस प्रकार अंत में आत्मप्राप्ति होती है। [१८]

निर्विचार चित्त से निराकार सत्य की पूजा श्रेष्ठ है। लेकिन जब मनुष्य ऐसी निराकार पूजा के योग्य नहीं होता, तब केवल मूर्तिपूजा करना उचित है। निराकार पूजा केवल उन लोगों के लिये संभव है, जो देहात्मभावरूप अहंकार से मुक्त है। जानिये कि स्वयं को आकारवाला अहंकार जो लोग मानते हैं, उनकी पूजा साकार मूर्तिपूजा ही होती है।

सब आसक्तियों को छोड़कर, अनुग्रहस्वरूप आत्मा की सहजअवस्था में रहना अपने स्वरूप में मौन स्थिति है, जो सर्वथा निर्विषय होती है। आत्मा की इस सच्ची मौन अवस्था का स्वरूप ठीक जानकर उसमें प्रतिष्ठित होना मानस पूजा है। चित्त शान्त होकर एक, अद्वितीय आत्मा में एकरूप होकर रहता है, वह नैसर्गिक नित्य पूजा हे, तथा हृदय-सिंहासन पर ईश्वर की स्थापना करना एवं मौन रहना सर्वश्रेष्ठ ईश्वरपूजन है। अपने दुराग्रहोंवाले अहंकार से रहित शान्त, मौन अवस्था मोक्ष है। आत्मविस्मृति की दु:खद स्थिति मनुष्य को इस मौन अवस्था से च्युत कर देती है; यही विभक्ति (भक्ति का अभाव) है। आत्मा से अभिन्न होकर शान्त मन से उस मौन अवस्था में हमेशा रहना शिवभक्ति का परम रहस्य है।

मनुष्य जब शिव के चरणों में आत्मसमर्पण करता है और इस प्रकार आत्मा के सत्य स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, तब ऐसी शान्ति का अनुभव होता है जिसमें अपनी अल्पज्ञता के विषय में कोई फरियाद नहीं होती या किसी भी प्रकार की प्रार्थना नहीं होती। वह पराभक्ति है। इस प्रकार ईश्वर का दास बनकर निश्चल मौन अवस्था में रहना, एवं "मैं भगवान का दास हूँ" ऐसा थोड़ा भी अभिमान या विचार न हो, वही आत्मसमर्पण – ज्ञान – है। [१९]

प्र: *साधक इस ध्येय को जगत में ईश्वर के गुणगान करते हुए विचरण करके प्राप्त कर सकता है, अथवा एक स्थान में ही रहकर?*

उ: मनुष्य कहीं भी विचरण करे, सदैव उसे अपने चित्त को एक स्थान में स्थिर रखना चाहिये; यह उसके लिये अच्छा है। शरीर को एक स्थान में स्थिर रखकर चित्त को सर्वत्र भटकने दिया जाय, इससे क्या लाभ है।

प्र: *अहैतुकी भक्ति संभव है?*

उ: हाँ, किसी प्रकार के हेतु बिना भक्ति करना संभव है। [२०] किसी वस्तु के लिये ईश्वर की भक्ति करना वस्तुत: उस वस्तु का ही भजन है। किसी भी वस्तु की इच्छा और उससे संबंधित विचार का न होना शिवसायुज्य चाहनेवाले चित्त का आवश्यक लक्षण है। [२१]

प्र: *"भागवत" अपने हृदय में श्रीकृष्ण को प्राप्त करने के उपायरूप में यह कहता है कि सबमें उसको देखकर वंदन – साष्टांग प्रणाम – करना चाहिये। आत्मसाक्षात्कार का यह सही मार्ग है? नेत्र या मन के समक्ष जो कुछ आता है, उसे भगवान् मानकर प्रणाम करना, "मैं कौन हूँ" की तलाश द्वारा मन से पर तत्त्व को प्राप्त करने के प्रयत्न से अधिक सरल नहीं है?*

उ: हाँ, आप सबमें ईश्वर देखते है, तो उसका विचार करते हैं या नहीं? यदि आप अपने चारों ओर ईश्वर देखना चाहते हैं, तो अवश्य आपको उसका चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार अपने चित्त में निरंतर ईश्वर को रखना ध्यान है, जो आत्मसाक्षात्कार की पूर्व-भूमिका है। साक्षात्कार केवल आत्मा में आत्मा का होता है, आत्मा से अलग कभी भी नहीं हो सकता। ध्यान साक्षात्कार से पूर्व अवश्य होता है, यह ध्यान ईश्वर का हो या आत्मा का इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि ध्येय एक ही है। आप किसी भी तरह आत्मा से दूर नहीं भाग सकते। आप सबमें ईश्वर को देखना चाहते हैं, स्वयं में नहीं। यदि सब कुछ ईश्वर है, तो क्या सबमें आपका समावेश नहीं है? आप स्वयं ईश्वर हैं, तो सब कुछ ईश्वर हो इसमें क्या आश्चर्य है? यह पद्धति "भागवत" में तथा अन्य ग्रंथों में बताई गई है, लेकिन ऐसे अभ्यास में भी देखने और चिन्तन करनेवाला अवश्य होना चाहिये। वह कौन है?

प्र: *सर्वव्यापक ईश्वर को कैसे देखा जा सकता है?*

उ: ईश्वर को देखने का अर्थ ईश्वर होना है। ईश्वर से भिन्न "सब कुछ" नहीं है, जिसमें उसे व्यापक होना पड़े। वह अकेला ही है। [२२]

प्र: *भक्त को ईश्वर की आवश्यकता है, जिसकी वह भक्ति कर सके। क्या उसे यह उपदेश करना चाहिये कि भक्त और भगवान् नहीं, केवल एक आत्मा है?*

उ: यह सच है कि साधना के लिये ईश्वर आवश्यक है, लेकिन भक्तिमार्ग में भी साधना का लक्ष्य पूर्ण आत्मसमर्पण के पश्चात् ही प्राप्त होता है। इसका अर्थ अहंकार के विलीनीकरण के पश्चात् आत्मा के – वह जैसा हमेशा है वैसा – रहने के अलावा और क्या है? मनुष्य कोई भी मार्ग पसंद करे, "मैं" अपरिहार्य रूप से होता है – "मैं" जो निष्काम कर्म करता है, "मैं" जो अनुभव करता है कि वह मालिक से अलग हो गया है, और उनसे मिलना चाहता है, "मैं" जो महसूस करता है कि वह अपने सच्चे स्वभाव – स्वरूप – से च्युत हो गया है, इत्यादि। इस "मैं" का मूल अवश्य ढूँढ निकालना होगा। तब सारे प्रश्न सुलझ जायेंगे। [२३]

प्र: *यदि "मैं" भ्रम है, तो इस भ्रम का त्याग कौन करता है?*

उ: "मैं" मैंपने का भ्रम त्यागकर "मैं" बना रहता है। आत्मसाक्षात्कार का यह विरोधाभास है। ज्ञानी पुरूष इसमें कोई वास्तविक विरोध नहीं देखते। भक्ति का उदाहरण लीजिये। मैं ईश्वर समक्ष जाकर मुझे अपने में विलीन कर देने की प्रार्थना करता हूँ। तब श्रद्धा से उनके समक्ष आत्मसमर्पण करता हूँ तथ चित्त को उन पर एकाग्र करता हूँ। इसके पश्चात् क्या शेष रहता है? पूर्व के अहंकार के स्थान में पूर्ण आत्मसमर्पण के पश्चात् केवल

ईश्वर शेष रहता है, जिसमें अहंकार विलीन हो गया है। यह पराभक्ति है, शरणागति है, पर वैराग्य है।

आप "मेरी" वस्तुओं में से इसका और उसका त्याग करते हैं। इसके बजाय यदि आप "मैं" और "मेरा" त्याग दें, तो एक बारगी सब कुछ छूट जाता है। मेरेपन का बीज ही नष्ट हो जाता है। इसे सिद्ध करने के लिये तीव्र वैराग्य चाहिये। यह सिद्ध करने की तत्परता पानी में बलपूर्वक डुबाये गये मनुष्य की अपने जीवन के लिये पानी से बाहर आने की तत्परता जैसी होनी चाहिये। इससे अनिष्ट अपनी बीजावस्था में ही नष्ट हो जाता है। [२४]

तीसरा विभाग

गुरु

ईश्वर और गुरु वस्तुतः भिन्न नहीं है। जैसे शेर के मुख में पड़ा हुआ शिकार बच नहीं सकता, ऐसे जो लोग सद्‌गुरु की कृपादृष्टि के पात्र हैं, उनका अवश्य उद्धार होगा, और कभी भी त्याग नहीं किया जायगा। फिर भी मनुष्य को गुरु के बताये मार्ग पर अवश्य चलना चाहिये। (१)

भगवान् की दृष्टि में कोई शिष्य नहीं है, लेकिन शिष्य के दृष्टिबिन्दु से गुरु का अनुग्रह समुद्र जैसा है। यदि वह छोटा पात्र लेकर आता है तो उसे उतना ही प्राप्त होगा। सागर की कृपणता की फरियाद निरर्थक है। पात्र जितना बड़ा, वह उतना अधिक ग्रहण करेगा। यह उस पर निर्भर है। (२)

चित्तस्पन्द को अस्थायी रूप से निरूद्ध करने का एक उपाय सत्संग है। साधु-महात्मा समाधि के विशेषज्ञ होते हैं, क्योंकि वह उनके लिये सरल, सहज होता है, एवं उनमें निरंतर बना रहता है। उनके निकटसंपर्क में रहनेवाले तथा उनकी सहानुभूति के पात्र लोग क्रमशः उनकी समाधि की आदत ग्रहण कर लेते हैं। (३)

प्रकरण ८

गुरु

प्रायः आध्यात्मिक मार्गदर्शन करनेवालों को गुरु कहा जाता है, किन्तु श्री रमण की व्याख्या मर्यादित है। उनके मत में सच्चा गुरु वह है जिसने आत्मसाक्षात्कार किया है एवं अपनी शक्ति से दूसरों को साक्षात्कार का ध्येय प्राप्त करने में सहायता कर सकता है।

श्री रमण अक्सर यह कहते थे कि ईश्वर, गुरु और आत्मा एक हैं, और गुरु मानवरूपधारी ईश्वर है, तथा साथ ही वह प्रत्येक के हृदय में रहा हुआ आत्मा है। चूँकि वह बाहर और भीतर भी है, उसकी शक्ति दो प्रकार से कार्य करती है। बाहर रहकर वह उपदेश देता है एवं अपने प्रभाव से भक्त के चित्त को आत्मा में स्थिर करने में सहायता करता है, तथा अंदर रहकर वह शिष्य के चित्त को भीतर की ओर खींचता है, आत्मा में लीन करता है और आखिर उसे नष्ट कर देता है।

श्री रमण के उपदेश का यह मूलाधार है कि प्रायः उन सबके लिये गुरु की आवश्यकता है जो आत्मनिष्ठा के लिये प्रयत्नशील हैं। आध्यात्मिक विकास के लिये जीवन की दिशा बदल देनेवाला गुरु का प्रभाव बड़े महत्व का है, जिसमें कुछ विरल मनुष्य ही अपवादरुप हैं। आत्मा का अज्ञान इतना दृढ़मूल होता है कि साधक अपने वैयक्तिक प्रयत्न से उससे मुक्त नहीं हो सकता।

श्री रमण कहते कि आत्मानुभव के लिये प्रयत्नशील साधकों के लिये गुरु आवश्यक है, लेकिन साथ साथ वे यह भी स्पष्ट करते थे कि पूरे मनोयोग से प्रयत्न न करने वालों में गुरु आत्मानुभव उत्पन्न नहीं कर सकता। लेकिन यदि साधक आत्मदर्शन के लिये गंभीर प्रयत्न करता है, तो गुरु की अनुग्रहशक्ति अपने आप प्रवाहित होने लगती है। यदि प्रयास न किया जाय, तो गुरु असहाय है।

इस प्रकरण में दिये गये वार्तालाप श्री रमण के गुरुस्वरूपविषयक एवं आत्मानुभव कराने में गुरु के योगदान विषयक विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। श्री रमण जिस विशेष रीति से अपनी शक्ति का प्रयोग करते थे, उसकी विस्तृत चर्चा नवें प्रकरण में की जायगी।

प्र: *गुरुकृपा क्या है? वह साधक को आत्मानुभव तक कैसे ले जाती है?*

उ: गुरु आत्मा है। मनुष्य अपने जीवन में कभी न कभी असंतुष्ट हो जाता है, अर्थात् जो भी प्राप्त है उसमें उसे आनंद नहीं मिलता। ईश्वर प्रार्थना से वह अपनी सांसारिक इच्छाओं को पूरी करना चाहता है। क्रमशः उसका चित्त शुद्ध होता जाता है और वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति के बजाय ईश्वर के अनुग्रह के लिये प्रार्थना करता है। तब ईश्वर का अनुग्रह प्रकट होने लगता है, और वह गुरुरूप में उसे दर्शन देकर सत्य का उपदेश करता है, तथा अपने संग से उसके चित्त को शुद्ध करता है। भक्त का चित्त बलशाली होकर अन्तर्मुख – अहंमुख – बनने में समर्थ होता है। ध्यान से वह और भी शुद्ध होता है और बिल्कुल तरंग-रहित समुद्र जैसा बनकर निश्चल हो जाता है। वह प्रशान्त विस्तार आत्मा है।

गुरु बाहर-भीतर दोनों ओर है। बाहर से वह मन को धक्का देकर भीतर की ओर मोड़ देता है, और अंदर से आत्मा की ओर खींचता है। इस प्रकार मन को शान्त बनाने में सहायता करता है। यह गुरुकृपा है। ईश्वर, गुरु और आत्मा में कोई भेद नहीं है।

प्र: *थियोसोफिकल सोसायटी में लोग गुरुओं का मार्ग-दर्शन पाने के लिये ध्यान करते हैं।*

उ: गुरु भीतर है। वह सिर्फ बाहर है, ऐसे भ्रमपूर्ण विचार को हटाने के लिये ध्यान किया जाता है। यदि वह कोई अपरिचित पुरुष है, जिसकी आप राह देख रहे हैं, तो वह अदृश्य भी हो जायगा। ऐसे नश्वर पुरुष से क्या लाभ है? लेकिन जब तक आप सोचते हैं कि आप अलग हैं, अर्थात् एक शरीर हैं, तब तक बाहरी गुरु भी आवश्यक है, और वह भी आपको शरीरवाला ही दिखेगा। जब अपने आपका शरीर के साथ गलत तादात्म्य समाप्त हो जायगा, तब गुरु आत्मा से भिन्न नहीं दिखेगा।

प्र: *गुरु हमें दीक्षा द्वारा आत्मा को जानने में सहायता करता है?*

उ: क्या गुरु आपका हाथ पकड़कर आपके कान में कुछ कहता है? आप स्वयं जैसे हैं, वैसा ही वह भी है ऐसी आप कल्पना करते हैं। चूँकि आप स्वयं को सशरीर मानते हैं, आप गुरु को भी सशरीर ही मानेंगे, और वह आपके साथ कुछ ठोस प्रक्रिया करेगा, ऐसी अपेक्षा भी रक्खेंगे। लेकिन उसका कार्य भीतर आत्मा की गहराई में है।

प्र: *गुरु कैसे प्राप्त होता है?*

उ: ईश्वर सर्वव्यापक है, वह अपनी अनुग्रहशक्ति से प्रेमी भक्त पर दया करता है, एवं भक्त के विकास के अनुरूप अपने आपको प्रकट करता है। भक्त स्वयं को मनुष्य मानता है और दो भौतिक शरीरों में जैसा संबंध होता है, ऐसे संबंध की अपेक्षा रखता है। लेकिन गुरु स्वयं ईश्वर है, देहधारी आत्मा है, वह भीतर कार्य करता है, मनुष्य को अपने व्यवहार की गलतियों को देखने में मदद करता है तथा सच्ची राह पर चलने में उसका मार्गदर्शन करता है, जब तक वह अपने भीतर आत्मा को जान नहीं लेता। [1]

प्रः *सद्गुरु के लक्षण क्या हैं?*

उः आत्मा में स्थिर निष्ठा, सबके प्रति समदृष्टि, सब देश, काल, तथा परिस्थितियों में अकम्प्य धैर्य। (२)

प्रः *विभिन्न आध्यात्मिक मार्गों का उपदेश करनेवाले बहुत गुरु हैं। इनमें से साधक किसे गुरु माने?*

उः जिसके सान्निध्य में शान्ति का अनुभव हो, उसे गुरु मानना चाहिये। (३)

प्रः *क्या हमें उसके उपदेश का भी विचार नहीं करना चाहिये?*

उः जो किसी जिज्ञासु को यह या वह करने का उपदेश करे, वह सच्चा गुरु नहीं है। साधक अपने कर्मों के कारण पहले ही क्लेश का अनुभव कर रहा है, वह शान्ति और विश्राम चाहता है। दूसरे शब्दों में वह अपने कर्मों का विराम – अंत – चाहता है। यदि कोई गुरु उसे अपने वर्तमान कार्यों से अधिक या उनके स्थान में दूसरा कुछ करने को कहे, तो क्या वह उसकी सहायता कर सकता है?

कर्म सृष्टि है, कर्म अपने सहज आनंद का विनाश है। कर्मों का उपदेश करनेवाला तारनेवाला नहीं, मारनेवाला है। ऐसी परिस्थिति में ब्रह्मा अथवा यम को गुरु के वेष में आया हुआ समझना चाहिये। ऐसा गुरु साधक को मुक्त नहीं कर सकता, वह केवल उसके बंधन को और दृढ़ बनाता है। (४)

प्रः *मैं मेरे सद्गुरु को कैसे प्राप्त कर सकता हूँ?*

उः गंभीर ध्यान से। (५)

प्रः *यदि यह सत्य है कि गुरु अपनी आत्मा ही है, तो उस शास्त्रवचन का क्या रहस्य है, जो कहता है कि शिष्य कितना ही विद्वान् हो, या उसने कैसी भी सिद्धियाँ प्राप्त की हों, गुरु के अनुग्रह के बिना वह आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकता?*

उः पूर्ण सत्य के द्रष्टिबिन्दु से गुरु की अवस्था अपने आत्मा की ही अवस्था है, फिर भी अज्ञान के कारण जीव बने आत्मा के लिये गुरु के अनुग्रह के बिना अपनी मौलिक सहज अवस्था प्राप्त करना कठिन है।

प्रः *गुरुकृपा के लक्षण क्या है?*

उः वह शब्दों एवं विचारों से पर है।

प्रः *यदि ऐसा है, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि गुरु के अनुग्रह से शिष्य अपनी सहज अवस्था का अनुभव करता है?*

उः हाथी स्वप्न में शेर को देखकर जग जाय ऐसा यह भी है। शेर को देखने मात्र से हाथी जगता है, ऐसे ही यह निश्चित है कि गुरु की कृपापूर्ण दृष्टि से शिष्य अज्ञाननिद्रा से सत्य ज्ञान की जाग्रत अवस्था में आता है।

प्रः *यह कहने का क्या अभिप्राय है कि गुरु स्वरूप से परब्रह्म हैं?*

उः जीव शुरू में ईश्वर अर्थात् परम सत्य को पाने की इच्छा से भक्ति करता है। जब

उसकी भक्ति परिपक्व होती है तब ईश्वर जो कि जीव का साक्षी एवं वास्तविक स्वरूप है प्रकट होता है। वह अपने स्वाभाविक सच्चिदानंद लक्षण से युक्त होकर तथा करूणा से नामरूप धारण करके प्रकट होता है। शिष्य पर अनुग्रह करने के बहाने से वह उसे अपने स्वरूप में समा लेता है। इस सिद्धान्त के अनुसार गुरु परब्रह्म या ईश्वर कहा जाता है।

प्र: *तो कुछ महापुरूषों को गुरु के बिना ज्ञान कैसे हुआ?*

उ: कुछ परिपक्व पुरूषों के लिये ईश्वर निराकार ज्ञानमय प्रकाश के रूप में स्वयं को प्रकट करता है, तथा सत्य की चेतना प्रदान करता है। (६)

प्र: *मनुष्य सच्चे सद्गुरु का निश्चय कैसे कर सकता है? सद्गुरु का वास्तविक स्वरूप क्या है?*

उ: जिसके साथ आपके चित्त का स्वाभाविक मेल हो जाता है वह सद्गुरु है। यदि आप पूछें कि सद्गुरु का निश्चय किन लक्षणों से किया जाय, तो उसका उत्तर है कि उसमें शान्ति, धैर्य, क्षमा इत्यादि गुण होने चाहिये। वह दृष्टि से चुम्बक की तरह दूसरों को आकृष्ट करने की शक्ति वाला होना चाहिये, एवं सबके प्रति समदर्शी होना चाहिये। जिसमें ये गुण हो वह सच्चा गुरु है। लेकिन यदि आप सद्गुरु के स्वरूप को जानना चाहें, तो प्रथम आपको अपना स्वरूप जानना चाहिये। यदि कोई अपना स्वरूप नहीं जानता, तो वह गुरु के स्वरूप को कैसे जानेगा? यदि आप सद्गुरु के वास्तविक स्वरूप को जानना चाहते हैं, तो आपको संपूर्ण विश्व को गुरुरूप देखने का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। साधक को सब प्राणियों में गुरु के दर्शन करने चाहिये। ईश्वर के विषय में भी यही सत्य है। सब पदार्थों को ईश्वररूप देखने का अभ्यास प्राथमिक भूमिका है। जो मनुष्य अपने आत्मा को नहीं जानता, वह ईश्वर के अथवा गुरु के वास्तविक स्वरूप को कैसे जान सकता है? वह उसका निर्णय कैसे करेगा? अत: पहले अपने स्वरूप को जानिये।

प्र: *इसे जानने के लिये भी गुरु की आवश्यकता नहीं है?*

उ: हाँ, यह सत्य है। जगत् में कई महात्मा हैं। जिसके साथ आपका मन सहज भाव से जुड़ जाय उसे अपना गुरु मानिये। जिसमें आपकी श्रद्धा हो वह आपका गुरु है। (७)

प्र: *मोक्ष प्राप्ति के लिये गुरुकृपा का मर्म क्या है?*

उ: मोक्ष आपसे बाहर कहीं नहीं है, आपके भीतर है। यदि मनुष्य में मोक्ष की सच्ची अभीप्सा हो, तो आंतरिक गुरु उसे अंदर की ओर खींचता है, और बाह्य गुरु उसे आत्मा की ओर मोड़ता है। यह गुरु के अनुग्रह का मर्म है। (८)

प्र: *कुछ लोग प्रचार करते हैं कि आपके मतानुसार गुरु की आवश्यकता नहीं है। कुछ अन्य लोग इससे ठीक उल्टी बात कहते हैं। इस विषय में महर्षि का क्या कहना है?*

उ: मैंने कभी नहीं कहा कि गुरु की आवश्यकता नहीं है।

प्र: *श्री अरविन्द तथा कुछ अन्य लोग आपका कोई गुरु नहीं था, ऐसा कहते हैं।*

उः यह आप गुरु किसे कहते हैं, उस पर निर्भर है। गुरु मनुष्य रूप में ही हो यह जरूरी नहीं है।

दत्तात्रेय जी के चौबीस गुरु थे, जिनमें पृथ्वी, वायु, जल इत्यादि पाँच महाभूत भी शामिल हैं। विश्व का प्रत्येक पदार्थ उनका गुरु था।

गुरु अनिवार्य है। उपनिषद् कहते हैं कि मन से तथा इन्द्रियों से दिखने वाले दृश्यों के जंगल से मनुष्य को गुरु के बिना और कोई निकाल नहीं सकता। गुरु अवश्य होना चाहिये।

प्रः *मेरा मतलब है मानवगुरु। महर्षि का मनुष्यगुरु नहीं था।*

उः किसी एक या दूसरे समय हो सकता है। लेकिन क्या मैंने अरूणाचल की स्तुतियाँ नहीं गाई? (९) गुरु क्या है? गुरु ईश्वर या आत्मा है। शुरू में मनुष्य इच्छापूर्ति के लिये ईश्वर से प्रार्थना करता है। समय आने पर भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये नहीं, स्वयं ईश्वर के लिये प्रार्थना करता है। तब ईश्वर उसके समक्ष एक या दूसरे रूप में प्रकट होता है, चाहे वह मनुष्य हो या कुछ और, एवं उसे स्वयं के प्रति आने के लिये मार्गदर्शन करता है। प्रार्थना का ऐसा फल होता है, वह साधक की आवश्यकतानुसार होता है। (१०)

प्रः *एक गुरु में श्रद्धा रखकर मनुष्य दूसरों का आदर कर सकता है?*

उः गुरु एक है; वह भौतिक नहीं है। जब तक दुर्बलता है, समर्थ का सहारा आवश्यक है।

प्रः *जे. कृष्णमूर्ति कहते हैं गुरु की आवश्यकता नहीं है।*

उः उन्होंने यह कैसे जाना? मनुष्य साक्षात्कार के पश्चात् ऐसा कह सकता है, पहले नहीं। (११)

प्रः *भगवान् हमें सत्य का साक्षात्कार करने में मदद करेंगे?*

उः सहायता हमेशा मौजूद है।

प्रः *तब तो प्रश्न अनावश्यक हैं। मुझे हमेशा मौजूद सहायता का अनुभव नहीं होता।*

उः आत्मसमर्पण कीजिये, और आपको उसका अनुभव होगा।

प्रः *मैं हमेशा आपके चरणों में हूँ। भगवान् मुझे अनुसरण करने के लिये कोई उपदेश देंगे? अन्यथा छः सौ मील दूर रहकर मैं सहायता कैसे प्राप्त कर सकता हूँ?*

उः सद्गुरु अंदर है।

प्रः *इस तथ्य को समझने के लिये भी सद्गुरु जरूरी है।*

उः सद्गुरु अंदर है।

प्रः *मैं देख सकूँ ऐसा सद्गुरु मुझे चाहिये।*

उः वह दिखनेवाला गुरु कहता है कि वह अंदर है। (१२)

प्रः *सफलता सद्गुरु के अनुग्रह पर निर्भर नहीं है?*

उः हाँ, है। आपका अभ्यास क्या ऐसे अनुग्रह के कारण नहीं है? साधना या अभ्यास

के परिणामस्वरूप फल अपने आप प्रकट होते हैं। "कैवल्य नवनीत" का एक श्लोक कहता है : "हे गुरो! आप हमेशा मेरे साथ थे और जन्मजन्मान्तर में मेरी प्रगति को देख रहे थे, एवं मेरा मार्ग निश्चित करते थे, जब तक मैं मुक्त न हो गया"। प्रसंग आने पर आत्मा गुरुरूप में बाहर प्रकट होता है, अन्यथा वह हमेशा अंदर रहकर जो जो करना आवश्यक होता है उसे करता रहता है। [१३]

प्र: *शिरडीवाले सांईबाबा के कुछ भक्त उनके चित्र की पूजा करते हैं। वे कहते हैं कि वह चित्र उनका गुरु है। यह कैसे हो सकता है? वे ईश्वर मानकर चित्र की पूजा करें तब तक ठीक है, लेकिन उसे अपना गुरु मानने से क्या लाभ हो सकता है?*

उ: उससे चित्त एकाग्र होता है।

प्र: *मैं सहमत हूँ कि वह एकाग्रता के अभ्यास में कुछ हद तक सहायक हो सकता है। लेकिन उस एकाग्रता के लिये गुरु आवश्यक नहीं है?*

उ: यह सही है, लेकिन आखिर गुरु का अर्थ "गुरी" या एकाग्रता है।

प्र: *अचेतन चित्र गंभीर एकाग्रता को सिद्ध करने में क्या सहायता कर सकता है? उसके लिये जीवित गुरु होना चाहिये जो स्वयं प्रयोग करके दिखाये। कदाचित् श्री भगवान् जैसे विरल महापुरुषों के लिये बिना गुरु के सिद्धि पाना संभव हो सकता है, लेकिन मेरे जैसे साधारण मनुष्यों के लिये यह कैसे संभव है?*

उ: यह ठीक है, फिर भी अचेतन चित्र की पूजा से कुछ हद तक चित्त एकाग्र होता है। वह एकाग्रता अन्वेषण करके अपने आत्मा को जाने बिना स्थिर नहीं होगी। उस अन्वेषण के लिये गुरु की सहायता आवश्यक है। [१४]

प्र: *कहा जाता है कि गुरु अपनी शक्ति का संचार शिष्य में करके उसे आत्मज्ञान करा सकता है। क्या यह सच है?*

उ: हाँ, गुरु आत्मसाक्षात्कार कराता नहीं, उसके मार्ग में रहे हुए अवरोध हटाता है। आत्मा तो नित्य साक्षात् है।

प्र: *आत्मसाक्षात्कार के लिये गुरु अनिवार्य नहीं है?*

उ: जब तक आप आत्मसाक्षात्कार करना चाहते हैं, गुरु आवश्यक है। गुरु आत्मा है। गुरु को सच्चा आत्मा एवं स्वयं को जीव मानिये। इस द्वैतभाव का नाश अज्ञाननाश है। जब तक आप में द्वैतभाव है, गुरु आवश्यक है। चूँकि आप स्वयं को शरीर से एकरूप मानते हैं, आप सोचते हैं कि गुरु भी एक शरीर है। लेकिन आप शरीर नहीं हैं, न ही गुरु शरीर है। आप आत्मा हैं, और गुरु भी आत्मा है। जिसे आप आत्मसाक्षात्कार कहते हैं उससे यह ज्ञान प्राप्त होता है।

प्र: *साधक यह कैसे जाने कि अमुक व्यक्ति गुरु होने योग्य है?*

उ: उनके सान्निध्य में चित्त की शान्ति के अनुभव से और उनके प्रति आपके मन में पूज्यभाव के अनुभव से।

प्रः *यदि पूर्ण श्रद्धावाले शिष्य को यह पता चले कि गुरु अयोग्य है, तो उस शिष्य का क्या होगा?*

उः प्रत्येक की गति उसकी योग्यतानुसार होगी। [१५]

प्रः *मुझे गुरुकृपा प्राप्त होगी?*

उः गुरुकृपा हमेशा मौजूद है।

प्रः *लेकिन मुझे उसका अनुभव नहीं होता।*

उः आत्मसमर्पण से मनुष्य को गुरुकृपा का अनुभव होता है।

प्रः *मैंने हृदय तथा आत्मा समर्पित कर दिये हैं। मैं अपने हृदय को खूब जानता हूँ। फिर भी गुरुकृपा का अनुभव नहीं होता।*

उः यदि आपने आत्मसमर्पण किया होता, तो प्रश्न नहीं होते।

प्रः *मैंने समर्पण किया है, फिर भी प्रश्न होते हैं।*

उः अनुग्रह नित्य है। आपका अभिप्राय बदलता रहता है। दोष और किस जगह हो सकता है? [१६]

प्रः *किसी के एक से अधिक आध्यात्मिक गुरु हो सकते हैं?*

उः गुरु कौन है? आखिर वह आत्मा है। चित्त की पक्कता के अनुसार आत्मा बाहरी गुरु के रूप में प्रकट होता है। प्राचीन समय के प्रसिद्ध संत दत्तात्रेय कहते थे कि उनके चौबीस से अधिक गुरु थे। जिससे कुछ भी सीखा जाय वह गुरु है। कभी कभी अचेतन पदार्थ भी गुरु हो सकते हैं, जैसा दत्तात्रेय के उदाहरण से स्पष्ट है। ईश्वर, गुरु और आत्मा एक हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिबिन्दुवाला मनुष्य सोचता है कि ईश्वर सर्वत्र व्यापक है, और वह उसे ही गुरु मानकर चलता है। बाद में ईश्वर उसे वैयक्तिक गरु के सम्पर्क में लाता है, और वह उसकी सर्वरूपता को पहचान लेता है। अंत में गुरुकृपा से वह अनुभव करता है कि आत्मा ही सत्य है, अन्य कुछ भी नहीं। इस प्रकार वह जान लेता है कि आत्मा ही सच्चा गुरु है। [१७]

प्रः *श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कहा है कि शुद्ध बुद्धि से, गुरु सेवा से तथा विचार से आत्मा को जानना चाहिये। इनका मेल कैसे बिठाया जाय?*

उः "ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेद विभागिने" : ईश्वर, गुरु और आत्मा एक हैं। जब तक आप में द्वैतबुद्धि है, आप गुरु को स्वयं से भिन्न मानकर ढूँढते रहेंगे। लेकिन जब वह आपको सत्य का उपदेश करता है, तो आपको अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। [१८]

जो जीव को अहंमुख बनाकर आत्मा का परम ज्ञान देता है, वही सद्‌गुरु है, जिसकी ऋषि मुनियों ने ईश्वररूप कहकर स्तुति की है, और जो वस्तुतः आत्मा है, उससे लिपट जाइये। गुरु के पास जाकर, श्रद्धा से उनकी सेवा करके मनुष्य को उनकी कृपा से अपने जन्म तथा अन्य दुःखों का कारण जानना चाहिये। तब यह जान करके कि

ये सब आत्मा से च्युत होने की वजह से उत्पन्न हुए हैं, दृढ़तापूर्वक आत्मनिष्ठ होकर रहना श्रेष्ठ है।

जो लोग श्रद्धा से दृढ़तापूर्वक मोक्षमार्ग का अनुसरण करते हैं, वे कभी कभी विस्मृति या अन्य किसी कारण से वैदिक सत्य से च्युत हो जाते हैं। उन्हें जानना चाहिये कि उनको गुरु के वचनों से विरूद्ध कभी भी नहीं जाना चाहिये। ऋषियों के वचन से यह जाना गया है कि यदि मनुष्य ईश्वर का अपराध करता है, तो गुरु उसे दोष से मुक्त करता है, लेकिन गुरु के प्रति किये गये अपराध से स्वयं ईश्वर भी मुक्त नहीं करता।

उस मनुष्य के लिये कोई दु:ख नहीं रहेगा और वह जगत् में पुरूहूत-इन्द्र की तरह रहेगा, जो हृदय के पूर्ण प्रेम से गुरु की कृपादृष्टि में पूरी श्रद्धा रखता है।

सभी लोग जिसकी कामना करते हैं, वह शान्ति, किसी के द्वारा, किसी भी तरह, किसी भी देश या काल में प्राप्त नहीं हो सकती, जब तक मनुष्य सद्‌गुरु की कृपा से मन की निश्चलता प्राप्त नहीं करता। इसलिये हमेशा एकाग्रतापूर्वक अनुग्रह पाने की साधना में लगे रहिये। (१६)

प्रः *भगवान् के कुछ भक्त ऐसे हैं जिन्हें भगवान् का अनुग्रह प्राप्त हुआ और जिन्होंने विशेष तकलीफ के बिना ही सिद्धि प्राप्त कर ली है। मैं भी उसी अनुग्रह की कामना रखती हूँ। स्त्री होने के कारण और यहाँ से बहुत दूर रहने के कारण मैं इच्छानुसार बार-बार श्री भगवान् के पावन सान्निध्य में नहीं रह सकती। संभवत: मैं वापस नहीं आ सकूँगी। मैं भगवान् के अनुग्रह की प्रार्थना करती हूँ। जब मैं मेरे स्थान में वापस चली जाऊँ, तो मैं निरंतर भगवान् का स्मरण करना चाहती हूँ। कृपा करके भगवान् मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।*

उः आप कहाँ जा रही हैं? आप कहीं भी नहीं जा रहीं। यह मान भी लिया जाय कि आप शरीर हैं, तो भी क्या आपका शरीर लखनऊ से तिरुवन्नामलई चलकर आया है? आप कार में बैठी रहती हैं और एक या दूसरा यान चलता है, इस प्रकार आखिर आप यहाँ आई हैं। सत्य यह है कि आप शरीर नहीं है। आत्मा गतिशील नहीं है, जगत् उसमें गति करता है। आप केवल जो हैं, वही हैं। आपमें कोई परिवर्तन नहीं है। इसलिये देखने में जो यहाँ से प्रस्थान जैसा लगता है, उसके बाद भी आप यहाँ, वहाँ तथा सर्वत्र हैं। दृश्य बदलते हैं, द्रष्टा नहीं।

और जहाँ तक अनुग्रह का सवाल है, वह आपके अंदर है। यदि वह बाहर होता तो निरर्थक होता। अनुग्रह आत्मा है। आप कभी भी उसकी प्रभावमर्यादा से बाहर नहीं हैं। अनुग्रह नित्य है।

प्रः *मेरा मतलब है कि जब मैं आपके स्वरूप का स्मरण करूँ तब मेरे मन को बल मिलना चाहिये एवं आपकी ओर से भी प्रत्युत्तर मिलना चाहिये। मुझे मेरे वैयक्तिक प्रयत्न पर नहीं छोड़ देना चाहिये, जो बहुत दुर्बल है।*

उ: अनुग्रह आत्मा है। मैंने पहले ही कह दिया है कि यदि आप भगवान् को याद करती हैं, तो आत्मा आपको ऐसा करने के लिये प्रेरित करता है। क्या अनुग्रह पहले से ही मौजूद नहीं है? क्या एक क्षण भी ऐसा है जिसमें अनुग्रह आपमें सक्रिय न हो? आपका स्मरण अनुग्रह का पूर्वगामी है। वही प्रत्युत्तर है, वह उद्दीपक है, वह आत्मा है और अनुग्रह है। चिन्ता का कोई कारण नहीं। (२०)

प्र: *क्या मैं बाह्य सहायता के बिना, मेरे ही प्रयत्न से मेरे स्वरूप के गहन सत्य तक पहुँच सकता हूँ?*

उ: आप आत्मानुसंधान के लिये तत्पर हैं, यही दिव्य अनुग्रह का प्राकट्य है। जो हृदय में देदीप्यमान है, और आन्तरिक सत्ता है, वही सत्यस्वरूप आत्मा है, जो आपको अंदर से अपनी ओर खींचता है। आपको बाहर से अंदर की मुड़ने का यत्न करना चाहिये। आपका सन्निष्ठ प्रयत्न आत्मानुसंधान है, और गहन आन्तरिक गतिशीलता अनुग्रह है। इस लिये मैं कहता हूँ कि अनुग्रह के बिना सन्निष्ठ आत्मानुसंधान नहीं होता है और जो आत्मानुभव के लिये प्रयत्न नहीं करता, उसके लिये अनुग्रह निष्क्रिय होता है। दोनों आवश्यक हैं। (२१)

प्र: *आत्मानुभव के लिये कब तक गुरु आवश्यक है?*

उ: अज्ञान रहे तब तक गुरु आवश्यक है। अज्ञान आत्मा पर स्वप्रेरित, लेकिन गलत मर्यादा का आरोपण है। भजन करने पर ईश्वर स्थिर भक्ति देता है, जो आत्मसमर्पण में परिणत होती है। भक्त के आत्मसमर्पण करने पर ईश्वर गुरुरूप में प्रकट होकर दया करता है। गुरु जो कि ईश्वर है यह कहकर भक्त का मार्गदर्शन करता है कि ईश्वर अंदर है और आत्मा से भिन्न नहीं है। इससे मन की अन्तर्मुखता सिद्ध होती है, जो अंत में आत्मानुभव में परिणत होती है।

प्र: *यदि अनुग्रह का इतना महत्व है, तो वैयक्तिक प्रयत्न का क्या कार्य है?*

उ: साक्षात्कार की अवस्था प्राप्त होने तक प्रयत्न आवश्यक है। उसके पश्चात् भी आत्मा का अनायास, स्वयंस्फूर्त अनुभव निरंतर, स्पष्टरूप से होना चाहिये। अन्यथा आनंद पूर्ण नहीं होगा। ऐसी सहज अवस्था प्राप्त होने तक किसी न किसी रूप में प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। (२२)

हमारे प्रयत्नों से पर एक अनायास अवस्था है। जब तक वह सिद्ध नहीं होती, प्रयत्न आवश्यक है। ऐसे अकृत्रिम आनंद का एक बार भी अनुभव करने के पश्चात्, मनुष्य बार-बार उसका अनुभव करने का प्रयत्न करेगा। शान्ति के आनंद का एक बार अनुभव करके कोई भी उससे बाहर होने की इच्छा नहीं करेगा, न ही वह किसी दूसरे काम में मन लगाना चाहेगा। (२३)

प्र: *ईश्वर का अनुग्रह साक्षात्कार के लिये आवश्यक है या मनुष्य अपने वैयक्तिक प्रामाणिक प्रयत्न से उस अवस्था तक पहुँच सकता है, जहाँ से जन्ममरणरूप संसार में वापस आना नहीं होता?*

उ: साक्षात्कार के लिये ईश्वर का अनुग्रह अनिवार्यरूप से जरूरी है। अनुग्रह मनुष्य को ईश्वर साक्षात्कार तक ले जाता है। लेकिन ऐसा दैवी अनुग्रह वही प्राप्त कर सकता है जो सच्चा भक्त या योगी हो। वह उन्हीं को प्राप्त होता है जो निरंतर सावधानी और सन्निष्ठा से मुक्तिमार्ग पर चलते हैं। [२४]

प्र: *क्या दूरी का असर अनुग्रह पर पड़ता है?*

उ: देशकाल हमारे भीतर हैं। आप हमेशा अपने आत्मा में हैं। उस पर देशकाल कैसे असर कर सकते हैं?

प्र: *रेडियो से नजदीकवाले लोग जल्दी सुन लेते हैं। आप हिन्दू हैं, हम अमेरिकन। क्या इससे कुछ फर्क पड़ता है?*

उ: नहीं।

प्र: *कुछ लोग दूसरों के विचार भी पढ़ लेते हैं।*

उ: उससे सिद्ध होता है कि सब एक हैं। [२५]

प्र: *क्या भगवान् को हम पर दया आती है? वे हम पर अनुग्रह करेंगे?*

उ: आप कंठ तक जल में निमग्न हैं, और पानी के लिये चिल्लाते हैं। यह ऐसा कहने के बराबर है कि पानी में निमग्न मनुष्य प्यासा है, या पानी में मछली प्यासी है, या पानी स्वयं प्यासा है। [२६]

अनुग्रह हमेशा मौजूद है। गुरु के अनुग्रह के बिना न वैराग्य होता है, न सत्य का साक्षात्कार, न ही आत्मनिष्ठा प्राप्त होती है।

लेकिन अभ्यास भी आवश्यक है। वह दुष्ट बैल को हरी घास दिखाकर अपने अहाते में रहने के लिये शिक्षित करने जैसा तथा उसे भटकने से रोकने जैसा है। [२७]

प्र: *मैंने अभी अभी तमिल गीत पढ़ा, जिसमें लेखक विलाप करता है कि उसमें अपनी माँ को पकड़े रहनेवाले बंदर के बच्चे जैसी दृढ़ता नहीं है, वह तो बिल्ली के बच्चे जैसा है जिसे उसकी माँ गले में पकड़कर इधर उधर घुमाती है। वह भगवान् से प्रार्थना करता है कि वे ही उसे सम्हालें। मेरा हाल भी ठीक उसके जैसा है। भगवान्! आपको मुझपर दया करनी चाहिये। मुझे गले में पकड़कर घुमाइये, ताकि मैं कहीं गिरकर चोट न पाऊँ।*

उ: यह असंभव है। आपका प्रयत्न और गुरु की सहायता दोनों आवश्यक हैं। [२८]

प्र: *किसी को गुरुकृपा पाने में कितनी देर लग सकती है?*

उ: आप क्यों इसे जानना चाहते हैं?

प्र: *स्वयं को आशा देने के लिये।*

उ: ऐसी आशा रखना भी विघ्नरूप है। आत्मा हमेशा मौजूद है। उससे भिन्न और कुछ नहीं। आत्मा बने रहिये, तो आशाएँ एवं संदेह मिट जायेंगे। [२९]

अनुग्रह आदि, मध्य और अंत है, आत्मा अनुग्रह है। आत्मा का शरीर के साथ गलत

तादात्म्य किया जाता है, अतः गुरु को शरीर माना जाता है। लेकिन गुरु की दृष्टि में गुरु केवल आत्मा है, और आत्मा एक, अद्वितीय है। गुरु आपको कहता है कि केवल आत्मा का अस्तित्व है, तो क्या आत्मा आपका गुरु नहीं हुआ? अनुग्रह और कहाँ से आयेगा? वह केवल आत्मा से आता है। आत्मा का प्रकट होना अनुग्रह का प्रकट होना है, और इससे उलटा भी सत्य है। गलत दृष्टिकोण के कारण ये सारे संदेह उत्पन्न होते हैं, तथा परिणाम-स्वरूप अपने स्वरूप के बाहर से वस्तुओं के आने की अपेक्षा की जाती है। आत्मा के बाहर कुछ भी नहीं है। (३०)

प्रकरण ९

मौन और सत्संग

यद्यपि श्री रमण किसी भी जिज्ञासु को मौखिक उपदेश देने में आनंद का अनुभव करते थे, वे प्रायः स्पष्ट किया करते थे कि उनका मौन उपदेश अधिक सीधा एवं अधिक शक्तिशाली है। यह मौन उपदेश आध्यात्मिक प्रभाव था जो उनके स्वरूप से हमेशा निकलता रहता था – इतना शक्तिशाली कि वे इसे अपने उपदेश का मूलाधार एवं अधिक सीधा तथा अधिक कार्यक्षम पहलू मानते थे। चित्त का निरोध कैसे किया जाय इस विषय में शाब्दिक उपदेश की जगह वे अपनी मौनशक्ति का अनायास ही प्रयोग करते थे, जो उनके निकट बैठे हुए साधकों के मन को अपने आप शान्त कर देती थी। जो लोग उनकी इस शक्ति के साथ मेल बिठाने में समर्थ थे वे कहते कि उन्हें एक प्रकार की आन्तरिक शान्ति एवं कल्याणपूर्ण निर्भयता का अनुभव होता है। कुछ परिपक्व चित्तवाले भक्तों को तत्काल आत्मानुभव भी होता था।

भारत में इस प्रकार की उपदेशपद्धति अति प्राचीन काल से चली आ रही है। श्री दक्षिणामूर्ति इसके प्रसिद्ध प्रतिपादक माने जाते हैं। स्वयं महेश्वर शिव इस रूप में प्रकट हुए थे और चार मुमुक्ष मुनियों को अपनी मौनशक्ति से आत्मा का साक्षात्कार कराया था। श्री रमण अक्सर दक्षिणामूर्ति का नाम बड़े आदर से लिया करते थे। इस प्रकरण के कई वार्तालापों में उनका उल्लेख आता है।

गुरु से प्रवाहित होने वाली शक्ति कोई भी प्राप्त कर सकता है, जिसका लक्ष्य आत्मा की ओर अर्थात् गुरु के स्वरूप की ओर उन्मुख होता है। दूरी इसकी कार्यसाधकता के मार्ग में विघ्न या अवरोध नहीं है। इसे प्रायः सत्संग कहा जाता है जिसका मुख्य अर्थ "सद्वस्तु के साथ सम्पर्क" है। श्री रमण सत्संग को बहुत महत्व देते थे और प्रायः कहा करते थे कि आत्मानुभव का यह सबसे अधिक कार्यक्षम साधन है। परंपरागत रूप से किसी आत्मनिष्ठ सिद्ध महात्मा के शारीरिक सान्निध्य में रहना सत्संग कहा जाता है, लेकिन श्री रमण इसकी बहुत विशद व्याख्या करते थे। वे कहते कि सत्संग में मुख्य बात गुरु से मानसिक संबंध

स्थापित करना है। सत्संग केवल गुरु के निकट बैठने से ही नहीं, बल्कि किसी भी देशकाल में उनका चिन्तन करने से भी होता है। निम्नलिखित उद्धरण सत्संग के महिमा को स्पष्ट करते है, जो संस्कृत के पाँच श्लोक हैं, जिनको श्री रमण ने विभिन्न कालों में प्राप्त किया था। वे इनके भाव से काफी प्रभावित हुए थे, और उनका तमिल में अनुवाद करके "उल्लदु नालपदु अनुबन्धम्" में जोड़ दिया, जो "सद्दर्शन" नाम से प्रसिद्ध है, और उनके द्वारा रचित काव्यों में श्रेष्ठ है :-

१- सत्संग से दुन्यवी वस्तुओं में निस्संगता होती है। निस्संगता से निर्मोहता होती है। निर्मोहता से निश्चल तत्त्व में चित्त स्थिर होता है, जिससे जीवन्मुक्ति होती है। अतः सत्संग करना चाहिये।

२- आत्मनिष्ठ महात्मा के सत्संग से हृदय में आत्मविचार उत्पन्न होता है, जिससे इसी जीवन में वह प्रशस्त सहज अवस्था प्राप्त होती है, जो प्रवचन सुनने से, धर्मग्रंथों का अध्ययन करने से, उनके अर्थ का मनन करने से, सत्कर्मों से अथवा अन्य किसी भी साधन से प्राप्त नहीं होती।

३- यदि सत्संग प्राप्त हो तो नियमों का क्या काम है? जब दक्षिण का शीतल पवन बहता हो तब हाथ में पंखा रखने की क्या आवश्यकता है?

४- चन्द्र ताप को, गंगा पाप को, कल्पतरू दरिद्रता को नष्ट करते हैं। निर्मल साधु महात्मा के दर्शन से ही ये सब नष्ट हो जाते हैं।

५- जलमय तीर्थ एवं पाषाणमय मूर्तियों की समानता महात्माओं के साथ नहीं की जा सकती। अहो, क्या आश्चर्य है! तीर्थ एवं देव बहुत समय के पश्चात् लोगों के चित्त को शुद्ध करते हैं, जबकि साधुपुरुष दृष्टिमात्र से तत्काल शुद्धि प्रदान करते हैं। [१]

प्रः *भगवान् घूमकर सब लोगों को सत्य का उपदेश क्यों नहीं देते?*

उः आपने यह कैसे जाना कि मैं ऐसा नहीं कर रहा? उपदेश का यह मतलब है कि मंच पर खड़े होकर लोगों के समक्ष ऊँची आवाज में प्रवचन करते फिरें? उपदेश ज्ञान का सीधा संक्रमण है। वस्तुतः ज्ञानोपदेश मौन से ही दिया जा सकता है। आप उस आदमी के बारे में क्या सोचते हैं, जो एक घण्टे तक प्रवचन सुनने के पश्चात् प्रभावित हुए बिना चला जाता है, और उसके जीवन में कोई परिवर्तन नहीं होता। उसकी तुलना किसी दूसरे मनुष्य से कीजिये जो पवित्र संत के पास बैठता है और थोड़ी देर बाद अपनी जीवनदृष्टि में पूर्ण परिवर्तन के साथ वापस जाता है। इनमें क्या बेहतर है, जोर-शोर से प्रभावहीन प्रवचन करना या मौन बैठकर आन्तरिक शक्ति प्रसारित करना?

दूसरे, वाणी कैसे उत्पन्न होती है? प्रथम अमूर्त ज्ञान है, उसमें से अहंकार उत्पन्न होता है, जो विचार को जन्म देता है, और विचार से मौखिक शब्द उत्पन्न होता है। इस प्रकार शब्द मूलस्त्रोत का प्रपौत्र है। यदि शब्द असर करता है, तो आप ही निर्णय कीजिये कि मौन उपदेश कितना प्रबल होना चाहिये? [२]

प्र: *मौन इतना शक्तिशाली किस प्रकार होता है?*

उ: सिद्ध पुरुष आध्यात्मिक प्रभाव की तरंगें प्रसारित करता रहता है, जो कई जिज्ञासु मनुष्यों को उसकी ओर आकृष्ट करती हैं। वह चाहे गुफा में बैठा हो और पूर्ण मौन रखता हो, उसका प्रभाव अमोघ होता है। हम सत्य पर प्रवचनों को सुनकर विषय को समझे बिना ही वापस चले आते हैं। लेकिन किसी आत्मनिष्ठ महात्मा के संपर्क में आने से, चाहे वह कुछ भी न कहे, सत्य के विषय में बहुत अधिक समझ हमें प्राप्त होती है। उसे लोगों के बीच जाने की कभी भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर वह दूसरों को निमित्त बना सकता है। [३]

सद्‌गुरु मौन अवस्था का प्रदाता है, जिसमें आत्मज्ञान का प्रकाश शेष सत्य के रूप में निरंतर प्रकट होता रहता है। यदि सद्‌गुरु की दृष्टि शिष्य की दृष्टि से मिलती है, तो मौखिक शब्द-व्यवहार बिल्कुल निरर्थक है। [४]

प्र: *भगवान् दीक्षा प्रदान करते हैं?*

उ: मौन सबसे श्रेष्ठ तथा सबसे अधिक प्रभावशाली दीक्षा है। श्री दक्षिणामूर्ति ऐसी दीक्षा देते थे। स्पर्श, दृष्टि इत्यादि से दी जाने वाली दीक्षा निम्नस्तर की है। मौन दीक्षा सबके हृदयों में परिवर्तन लाती है। [५] शिष्यों के पास आने पर दक्षिणामूर्ति मौन रहे। यह सबसे ऊँची दीक्षा है। इसमें दीक्षा के और प्रकारों का समावेश है। दूसरी दीक्षाओं में द्रष्टा-दृश्य का संबंध स्थापित करना पड़ता है। प्रथम द्रष्टा और तब दृश्य प्रकट होना चाहिये। जब तक ये दो नहीं होते, एक दूसरे को देख या छू कैसे सकता है? मौन दीक्षा परिपूर्ण है, इसमें देखना, छूना एवं उपदेश देना शामिल हैं। यह शिष्य को सब तरह से शुद्ध कर देती है, तथा उसको सत्य में प्रतिष्ठित कर देती है। [६]

प्र: *स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि सद्‌गुरु शिष्य में आध्यात्मिकता का संक्रमण कर सकता है।*

उ: क्या इसमें किसी पदार्थ का हस्तान्तरण किया जाता है? संक्रमण का अर्थ है शिष्यभाव का उन्मूलन। सद्‌गुरु ऐसा करता है। यह नहीं कि पहले मनुष्य कुछ और था एवं पश्चात् उसका रूपान्तरण किया गया।

प्र: *दीक्षा गुरु की भेंट नहीं है?*

उ: ईश्वर, अनुग्रहं, सद्‌गुरु पर्याय हैं, नित्य हैं तथा सर्वव्यापक हैं। क्या आत्मा पहले से ही शिष्य के अंदर नहीं है? क्या सद्‌गुरू अपनी दृष्टि से आत्मा का दान करता है? यदि कोई गुरु ऐसा सोचता है, तो वह सद्‌गुरु कहलाने योग्य नहीं है।

ग्रन्थों में कई प्रकार की दीक्षाओं का वर्णन है, हाथ के स्पर्श से, दृष्टि से इत्यादि। ग्रन्थों में यह भी लिखा है कि गुरु अग्नि, जल, एवं मंत्रों से कुछ विधि करता है, और इन विचित्र प्रक्रियाओं को दीक्षा कहा जाता है। जैसे गुरु की ऐसी प्रक्रियाओं के पश्चात् ही शिष्य में पात्रता उत्पन्न होती हो।

यदि व्यक्ति को ढूँढा जाय तो वह कहीं नहीं मिलेगा। सद्गुरु ऐसे होते हैं। दक्षिणामूर्ति ऐसे सद्गुरु हैं। उन्होंने क्या किया? उनके संमुख जब शिष्य आये तो वे मौन थे। वे मौन ही रहे और शिष्यों के संशय मिट गये, अर्थात् उनका व्यक्तित्व लुप्त हो गया। यह ज्ञान है, न कि उसके साथ सामान्यतया जुड़ा हुआ शब्दजाल।

मौन सबसे अधिक शक्तिशाली कर्म है। शास्त्र कितने ही विशाल तथा शब्द-भारयुक्त हों, वे कार्यसाधकता की दृष्टि से सफल नहीं है। गुरु मौन रहते हैं, और सबमें शान्ति अपने आप प्रतिष्ठित हो जाती है। गुरु का मौन सब शास्त्रों से अधिक विशाल तथा निश्चयात्मक रूप से कार्य साधक है। ये प्रश्न इस विचार के कारण उत्पन्न होते हैं कि यहाँ इतने लम्बे समय से रहते हैं, बहुत कुछ सुनते हैं, कठोर श्रम करते हैं, फिर भी कुछ हाथ नहीं लगा। अंदर होनेवाला कार्य दिखता नहीं है। वस्तुतः गुरु हमेशा आपके भीतर है। [७]

प्रः *गुरु का मौन आध्यात्मिक चेतना की उच्च भूमिकाएँ उत्पन्न करता है?*

उः गुरु के मौन की शक्ति का वर्णन करनेवाली एक प्राचीन कथा है। तत्त्वराय ने अपने गुरु स्वरूपानन्द के महिमा को गाने के लिये तमिल में भरणी नाम के विशेष प्रकार के काव्य की रचना की। उसे सुनकर उसके मूल्य का निर्धारण करने के लिये पंडितों की सभा बुलाई। विद्वानों ने यह कहकर उसका विरोध किया कि भरणी ऐसे महान वीरों की प्रशंसा में ही लिखी जाती है जो युद्ध में एक हजार हाथियों को मारने का सामर्थ्य रखते हों। एक यति के लिये इसकी रचना नहीं की जा सकती। इस पर लेखक ने कहा : "चलिये, हम सब मेरे गुरु के पास जायँ, और वहीं पर इस बात का निर्णय किया जाय"। वे सब गुरु के पास गये और सभी अपने अपने स्थान पर बैठ गये तो लेखक ने अपने गुरु से उनके आने का हेतु बताया। गुरु मौन रहे और अन्य सब भी मौन रहे। पूरा दिन गुजर गया, रात हुई और इस प्रकार कई दिन-रात गुजर गये, लेकिन सब मौन ही बैठे रहे, उनमें से एक में भी कोई विचार उत्पन्न नहीं हुआ और किसी ने वहाँ आने के प्रयोजन का बयान नहीं किया, न ही किसी ने कुछ पूछा। इस प्रकार तीन चार दिन व्यतीत होने के पश्चात् गुरु ने अपने चित्त को थोड़ा सा स्पन्दित किया, तब वहाँ बैठे हुए सब लोगों में तुरंत ही विचार प्रक्रिया शुरू हो गई। तब उन्होंने घोषित किया: "इस गुरु की मदमत्त हाथी जैसे हम सबके अहंकार को एक साथ जीतने की शक्ति के सामने एक हजार हाथियों को मारने की शक्ति कुछ भी नहीं है। इसलिये निश्चित रूप से इनकी स्तुति में भरणी की रचना बिल्कुल उचित है"। [८]

प्रः *यह मौनशक्ति किस प्रकार कार्य करती है?*

उः वाणी अपने विचारों को दूसरे में संक्रान्त करने का माध्यम है। विचारों के उत्पन्न होने के पश्चात् ही उसे सेवा के लिये बुलाई जाती है। दूसरे सब विचार अहंविचार उत्पन्न होने के बाद ही प्रकट होते हैं। इसलिये अहंविचार सारे वार्तालापों की जड़ है। जब मनुष्य निर्विचार रहता है, तो वह दूसरों को मौनरूप विश्वभाषा से समझ लेता है।

मौन नित्यवाणी है। वह वाणी का निरंतर प्रवाह है जो बोलने से रुक जाता है। ये शब्द जो मैं बोल रहा हूँ उस मौनवाणी का अवरोध करते हैं। जैसे धातु के तार में बिजली का प्रवाह बहता है, उसे रोकने पर वह बत्ती के रूप में प्रकाश या पंखे के रूप में हवा देता है। तार में बिजली अव्यक्त शक्ति के रूप में रहती है। उसी प्रकार मौन वाणी का नित्य प्रवाह है जो शब्दों से रुक जाता है।

कई सालों तक चलनेवाले वार्तालाप से जो बात समझ में नहीं आती, वह मौन के एक क्षण में – अथवा मौन के समक्ष – समझ में आ जाती है। दक्षिणामूर्ति तथा उनके चार शिष्य इसका अच्छा उदाहरण हैं। मौन सर्वोच्च एवं सर्वाधिक कार्यक्षम वाणी है। (९)

प्रः *भगवान् कहते हैं कि ज्ञानी का प्रभाव मौन में भक्त के हृदय में प्रवेश करता है। तथा भगवान् ऐसा भी कहते हैं कि महात्मा का सत्संग अपनी सच्ची सत्ता का अनुभव कराने की क्षमता रखता है।*

उः हाँ, इनमें विरोध क्या है? ज्ञानी, महात्मा, संत – क्या इनमें कोई भेद है?

प्रः *नहीं, कोई भेद नहीं है।*

उः इनका संग करना अच्छा है। वे मौन द्वारा कार्य करेंगे। बोलने से उनका प्रभाव कम हो जाता है। मौन सर्वाधिक शक्तिशाली है। वाणी हमेशा मौन से कम शक्तिशाली होती है। इसलिये मानसिक संपर्क श्रेष्ठ है।

प्रः *यह बात उनके भौतिक शरीर में रहने तक ही या उसके विलय के पश्चात् भी सच है?*

उः गुरु भौतिक आकार नहीं है, इसलिये उसके लुप्त होने के पश्चात् भी यह मानसिक संपर्क बना रहता है। मनुष्य अपने गुरु के मरण के बाद दूसरे गुरु के पास जा सकता है। लेकिन सब गुरु एक हैं, और उनमें से कोई भी आप देखते हैं वह शरीर नहीं है। मानसिक संपर्क हमेशा श्रेष्ठ हैं। (१०)

प्रः *अनुग्रह गुरु के मन से शिष्य के मन पर होनेवाली कोई सूक्ष्म क्रिया है, या कोई भिन्न चीज है?*

उः अनुग्रह का श्रेष्ठ स्वरूप मौन है, वही श्रेष्ठ उपदेश भी है।

प्रः *विवेकानन्द ने भी कहा है कि मौन ऊँची आवाज में की गई प्रार्थना है।*

उः वह साधक के मौन के लिये है। गुरु का मौन सर्वोच्च उपदेश है, तथा अनुग्रह का श्रेष्ठ रूप है। और सारी दीक्षाएँ मौन से निष्पन्न होती हैं, अतः गौण हैं। मौन आद्य स्वरूप है। यदि गुरु मौन रहे, तो शिष्य का चित्त अपने आप शुद्ध हो जाता है। (११)

प्र: *श्री भगवान् का मौन स्वयं एक शक्तिशाली प्रभाव है, वह हमारे मन में विशेष प्रकार की शान्ति स्थापित करता है।*

उ: मौन कभी विश्राम न करनेवाली वाणी है, मौखिक वाणी मौनवाणी को रोक देती है। मौन में मनुष्य अपने आस-पास की परिस्थिति के साथ निकटतम संपर्क में होता है। दक्षिणामूर्ति के मौन ने चार ऋषियों के सारे संशय नष्ट कर दिये। "मौनव्याख्याप्रकटित-परब्रह्मतत्त्वम्" का अर्थ मौन द्वारा सत्य का प्रतिपादन है। मौन को व्याख्यान कहा है। मौन इतना समर्थ है।

मौखिक वाणी के लिये वागिन्द्रिय एवं अन्य अंगों की आवश्यकता होती है, जो वाणी के पहले होने चाहिये। लेकिन वह दूसरी मौनवाणी विचार से भी पर है। संक्षेप में मौन परा-वाणी है – अनुच्चारित शब्द है। [१२]

प्र: *क्या सब लोग मौन से लाभान्वित होते हैं?*

उ: मौन सच्चा उपदेश है – पूर्ण उपदेश है, जो अधिकतम पक्व साधक के लिये ही अनुकूल है। दूसरे इससे पूरी प्रेरणा नहीं प्राप्त कर सकते, अत: उनको सत्य समझाने के लिये शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। लेकिन सत्य शब्दातीत है, उसे मौखिक वाणी से समझाया नहीं जा सकता है, केवल सूचित करना ही संभव है। [१३]

प्र: *कहा जाता है कि महात्मा की एक दृष्टि पर्याप्त है; मूर्तिपूजा, यात्रा इत्यादि इतने प्रभावशाली नहीं है। मैं यहाँ तीन महिनों से हूँ, लेकिन पता नहीं मुझे कितना लाभ हुआ?*

उ: दृष्टि का प्रभाव शुद्ध करनेवाला है। शुद्धि देखी नहीं जाती। जैसे लकड़ी को जलने में अधिक समय लगाता है, कोयला जल्दी जलता है, और स्फोटक पदार्थ तुरंत जल जाता है। यही बात महात्माओं के संपर्क में आनेवाले विभिन्न स्तर के लोगों के लिये भी सही है। [१४]

ज्ञानाग्नि सब कर्मों को जला देता है। ज्ञानियों के संपर्क से अर्थात् ज्ञानप्रद मानसिक वायुमंडल से ज्ञान प्राप्त होता है। [१५]

प्र: *यदि शिष्य प्रयत्न न करे, तो क्या गुरु का मौन उसे साक्षात्कार करा सकता है?*

उ: सद्गुरु के सान्निध्य में वासनाएँ बेअसर हो जाती है, एवं मन शान्त बनने से समाधि का अनुभव होता है। इस प्रकार गुरु के समीप शिष्य सच्चा ज्ञान तथा सच्चा अनुभव प्राप्त करता है। उसकी स्थिरता सिद्ध करने के लिये उसे आगे का प्रयत्न करना चाहिये। क्रमश: शिष्य उसे अपनी वास्तविक अवस्था जानकर जीवन्मुक्त हो जायगा। [१६]

प्र: *यदि भीतरी आत्मानुसंधान का अभ्यास करना हो तो गुरु का भौतिक सान्निध्य आवश्यक है?*

उ: जब तक सारे संशय मिट जायँ, तब तक यह जरूरी है। [१७]

प्र: *मैं स्वयं अपने चित्त को एकाग्र करने में असमर्थ हूँ। मैं मुझे सहायता करनेवाली शक्ति का आवाहन करता हूँ।*

उ: हाँ, इसे अनुग्रह कहते हैं। वैयक्तिक रूप से हम असमर्थ हैं, क्योंकि मन दुर्बल है, अत: अनुग्रह आवश्यक होता है। साधुसेवा से वह प्राप्त होगा। दुर्बल मनुष्य प्रबल मनुष्य के प्रभाव में आ जाता है, वैसे ही मनुष्य का दुर्बल मन प्रबल मनवाले महात्माओं के नियंत्रण में स्वाभाविक रूप से आ जाता है। जो है वह केवल अनुग्रह है, दूसरा कुछ नहीं है। (१८)

प्र: *क्या भौतिक दृष्टि से गुरुसेवा करना आवश्यक है?*

उ: शास्त्र कहते हैं कि आत्मसाक्षात्कार के लिये मनुष्य को बारह वर्ष तक गुरु की सेवा करनी चाहिये। गुरु क्या करता है? क्या वह इसे शिष्य के हाथ में दे देता है? क्या आत्मा हमेशा साक्षात् नहीं है? तो इस साधारण मान्यता का क्या अर्थ है? मनुष्य हमेशा आत्मा है, फिर भी वह इस सत्य से अनजान है। उलटे वह उसे शरीरादि अनात्मा से मिश्र कर देता है। ऐसा अज्ञान के कारण किया जाता है। यदि अज्ञान का नाश किया जाय, तो यह भ्रम मिट जायगा एवं सत्यज्ञान प्रकट होगा। सिद्ध महात्माओं के संपर्क में रहने से मनुष्य का अज्ञान धीरे धीरे लुप्त हो जाता है। इस प्रकार नित्यसिद्ध आत्मा प्रकट होता है। (१९)

प्र: *आप कहते हैं कि सत्संग तथा गुरुसेवा करना शिष्य के लिये जरूरी है।*

उ: हाँ, सत्संग का अर्थ है अव्यक्त सद्वस्तु अर्थात् पूर्णसत्ता के साथ सम्पर्क स्थापित करना, लेकिन चूँकि बहुत कम लोग ऐसा कर सकते हैं, उन्हें दूसरी पद्धति – अर्थात् प्रकट सद्गुरु के साथ संग करने की – अपनानी चाहिये। संतों के साथ संग इसलिये करना चाहिये कि विचार हठपूर्वक आते रहते हैं। ज्ञानी ने मन का निग्रह किया है, और शान्ति में प्रतिष्ठित हो गया है। उसके निकट रहने से दूसरों को भी ऐसी स्थिरता प्राप्त करने में सहायता मिलती है। अन्यथा उसका संग करना निरर्थक है। गुरु अदृश्य रूप से इसके लिये शक्ति देता है। मुख्य रूप से आत्मा में रहना सेवा है, लेकिन इसमें गुरु के शरीर की सुख सुविधा की व्यवस्था करना तथा उसके निवास स्थान की देखभाल करने का समावेश हैं। गुरु से संपर्क करना भी आवश्यक है, लेकिन यह संपर्क आध्यात्मिक प्रकार का है। यदि शिष्य गुरु को अपने भीतर पाता है तो वह कहीं भी जाकर रह सकता है। यहाँ रहना और अन्यत्र रहना समान है, तथा समानरूप से कार्यसाधक है, ऐसा अवश्य समझना चाहिये। (२०)

प्र: *व्यवसाय के कारण मुझे मेरे कार्य के स्थान के पास रहना जरूरी है। मैं साधुसंग में नहीं रह सकता। सत्संग के अभाव में भी क्या मैं आत्मानुभव कर सकता हूँ?*

उ: सत् "अहंप्रत्ययसार" है, अर्थात् सब जीवों की आत्मा है। साधु सब जीवों की आत्मा है, वह सबमें व्यापक है। क्या कोई आत्मा के बिना रह सकता है? इसलिये कोई भी सत्संग से दूर नहीं है। (२१)

प्र: *क्या गुरु का सान्निध्य सहायक बनता है?*

उ: क्या आप भौतिक सान्निध्य की बात करते हैं? उससे क्या लाभ है? मन ही महत्व का है। मानसिक संपर्क करना चाहिये, ऐसा संपर्क मन को हृदय में विलीन कर देता है। (२२)

संपर्क भौतिक तथा मानसिक दोनों प्रकार का होता है। गुरु का बाह्य स्वरूप मन को अंदर की ओर मोड़ता है। गुरु साधक के हृदय के अंदर भी है, इसलिये वह अन्तर्मुख बने मन को हृदय में खींचता है। (२३)

प्र: *मैं केवल इतना जानना चाहता हूँ कि सत्संग आवश्यक है या नहीं, और मेरे यहाँ आने से मुझे सहायता मिलेगी या नहीं?*

उ: प्रथम आपको सत्संग क्या है इसका निर्णय करना चाहिये। इसका अर्थ सत् अर्थात् सत्य के साथ संग करना है। सत् के साथ संग अथवा जो सत् को जानता है ऐसे संत के साथ संग करना सबके लिये निश्चित रूप से आवश्यक है। शंकराचार्य ने कहा है कि तीनों लोकों में सत्संग के समान कोई नौका नहीं है जो मनुष्य को सुरक्षित रूप से जन्ममरणचक्ररूप संसारसागर से पार कर देती है। (२४)

सत्संग का अर्थ सत् के साथ संग है। सत् केवल आत्मा है। चूँकि अभी आत्मा को सत् के रूप में नहीं जाना गया है, उस ज्ञानी का संग किया जाता है जिसने इस प्रकार समझ लिया है। यह सत्संग है। इससे अन्तर्मुखता होती है, तब सत् प्रकट होता है। (२५)

ध्यान और योग

श्रेष्ठ ध्यान वह है जो तीनों अवस्थाओं में बना रहता है। वह इतना गंभीर तथा एकलक्षी होना चाहिये कि "मैं ध्यान करता हूँ" इस विचार को भी अवकाश न मिले।

ठगने वाली इन्द्रियों से जानना बंद करके और चंचल मन के बहिर्मुख ज्ञान का अंत करके, हृदय में नेत्रों से न दिखनेवाले प्रकाश को देखना एवं कानों से न सुनाई पड़ने वाले संगीत को सुनना योगशक्ति है।

ध्यान और एकाग्रता

श्री रमण यह निश्चित रूप से मानते थे कि आत्मानुभव के लिये निरंतर अहंविचार की सभानता अपेक्षित है। अतः जिन साधनापद्धतियों में यह न हो, वे प्रत्यक्ष तथा कार्यक्षम नहीं है। "यह अहंग्रह उपासना का मार्ग सीधा है, एवं अन्य सब मार्ग सीधे नहीं हैं। प्रथम मार्ग आत्मा तक पहुँचाता है, दूसरे दूसरी जगह। यद्यपि ये अप्रत्यक्ष मार्ग अंत में आत्मा तक पहुँचाते हैं, इसका कारण यह है कि वे अंत में साधक को प्रथम मार्ग पर लाते हैं, जो उसे लक्ष्य तक पहुँचाता है। इस प्रकार आखिर साधकों को प्रथम मार्ग का स्वीकार अवश्य करना पड़ता है, तो अभी से ऐसा क्यों न किया जाय? समय का दुर्व्यय क्यों किया जाय?" [१]

अर्थात् दूसरी युक्तियाँ संभवतः किसी समय साधक को आंतरिक निश्चलता की अवस्था तक ले आयँ, जिसमें अहं-सभानता अनजाने में ही उत्पन्न हो सकती है, लेकिन आत्मा तक पहुँचने के ये घुमाववाले मार्ग हैं। श्री रमण कहते थे कि दूसरी पद्धतियाँ साधक को उस स्थान तक लाती है, जहाँ से आत्मानुसंधान प्रारंभ होता है। इसलिये वे उनको उन मार्गों पर चलने की संमति तभी देते, जब उनको लगता कि वे आत्मानुसंधान के मार्ग पर चलने में असमर्थ या अनिच्छुक हैं। यह बात "श्री रमणगीता" (प्रारंभिक समय में हुए वार्तालापों का संकलन) के एक वार्तालाप से स्पष्ट होती है, जिसमें श्री रमण विस्तार से समझाते हैं कि क्यों आत्मानुसंधान एकमात्र आत्मानुभव का मार्ग है। श्री रमण के प्रतिपादन को ध्यान से सुनने के बाद भी प्रश्न पूछनेवाला आत्मानुसंधान ही आत्मप्राप्ति का एकमात्र मार्ग है ऐसा स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था, अतः उसने पूछा कि क्या आत्मसाक्षात्कार की दूसरी पद्धतियाँ भी हैं या नहीं। तब श्री रमण ने उत्तर दिया :-

"किसी वस्तु पर ध्यान करनेवाले तथा आत्मानुसंधान करनेवाले साधक का लक्ष्य एक ही है। एक ध्यान से निश्चलता प्राप्त करता है, दूसरा ज्ञान से। एक किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहता है, दूसरा प्राप्त करनेवाले के स्वरूप को जानना

चाहता है। प्रथम में अधिक समय लगता है, लेकिन अंत में आत्मा को ही प्राप्त करता है।" (२)

उस साधक का द्रष्टा-दृश्ययुक्त ध्यानमार्ग के प्रति सर्वसाधारण देखने में आता है, ऐसा आग्रह था एवं वह आत्मानुसंधान पद्धति को स्वीकार करना नहीं चाहता था, ऐसा जानने के पश्चात्, उसकी श्रद्धा का भंग न हो इसलिये श्री रमण ने उसे अपनी पसंद के मार्ग पर चलने के लिये प्रोत्साहित किया, तथा उससे कहा कि वह उसे आत्मा तक पहुँचायेगा। श्री रमण के मतानुसार किसी भी पद्धति का अनुसरण न करने से अपनी पसंद की पद्धति का अनुसरण करना अच्छा है, क्योंकि यह संभावना हमेशा बनी रहती है कि वह आत्मानुसंधान तक ले जायगी।

उन्होंने कई दूसरे साधकों को इन्हीं कारणों से इस प्रकार के उत्तर दिये थे, जिनसे ऐसा सूचित होता है कि आत्मानुसंधान या आत्मसमर्पण से अन्य पद्धतियाँ भी आत्मसाक्षात्कार करा सकती हैं। लेकिन इसे स्वीकार करना ठीक नहीं होगा, क्योंकि वे उन्हीं लोगों को दी गई थीं, जो आत्मानुसंधान के प्रति आकृष्ट नहीं होते थे और अपनी पसंद की पद्धति का ही अनुसरण करना चाहते थे। जिन्हें वे अप्रत्क्ष पद्धतियाँ कहते थे, उनके प्रति आकृष्ट न होनेवाले दूसरे भक्तों के साथ बात करते समय वे प्रायः अहंलक्षी पद्धति को वस्तुतः अनिवार्य बताते थे।

यद्यपि श्री रमण आत्मानुसंधान के आग्रही थे, उन्होंने किसी को भी अपनी मान्यता या अभ्यास पद्धति बदलने के लिये नहीं कहा। यदि उनके भक्त भी आत्मानुसंधान करना नहीं चाहते थे, तो वे उन्हें सहर्ष दूसरी पद्धति के लिये मार्गदर्शन करते थे। इस प्रकरण में मुख्यतया उन भक्तों के साथ हुए वार्तालापों का समावेश है, जो परंपरागत ध्यानपद्धति के लिये मार्गदर्शन पाना चाहते थे। ऐसा मार्गदर्शन करते समय वे सामान्यतया ध्यान की व्याख्या यह कहकर करते थे कि वह अन्य सब विचारों को रोकते हुए, एक विचार पर की गई एकाग्रता है। लेकिन कभी कभी उसकी उच्चतर व्याख्या भी करते थे कि चित्त को आत्मा में स्थिर करना सच्चा ध्यान है।

यह दूसरी पद्धति वस्तुतः आत्मानुसंधान है; उनकी एक प्रारंभिक रचना में वे कहते हैं; "चित्त को हमेशा आत्मा में स्थिर रखना आत्मानुसंधान है, और 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा विचार ध्यान है।" (३)

प्र: *ध्यान एवं विचार में क्या भेद है?*

उ: दोनों का परिणाम एक है। जो विचार के योग्य नहीं हैं, उनको ध्यान करना चाहिये। ध्यान में साधक स्वयं को भूलकर "मैं ब्रह्म हूँ" या "मैं शिव हूँ" ऐसा सोचता है, और इस प्रकार ब्रह्म अथवा शिव पर चित्त एकाग्र करता है, जिसके अंत में ब्रह्म या शिव शेष चैतन्यरूप हैं, ऐसा अनुभव होगा। तब उसे पता चलेगा कि यही शुद्ध सत्ता अर्थात् आत्मा है। जब कि आत्मानुसंधान करनेवाला अपने अहंभाव का सूत्र पकड़कर अभ्यास प्रारंभ करता है, और "मैं कौन हूँ?" ऐसा स्वयं को पूछकर अपने आत्मा को स्पष्ट रूप से जान लेता है। (४)

मानसिक रूप से अपने आपको परम सत्य स्वरूप सच्चिदानंद होने की कल्पना करना ध्यान है, एवं मन को आत्मा में स्थिर करना, जिससे भ्रम का असत्य बीज नष्ट हो, विचार है।

साधक जिस रूप में आत्मा का ध्यान करता है, उसी रूप में उसे प्राप्त करता है। वे शान्त-नम्र भक्त जो किसी भी प्रकार की कल्पना के बिना मौन रहते हैं, कैवल्य की उदात्त, निर्विशेष अवस्था प्राप्त करते हैं, जो आत्मा की निराकार स्थिति है। (५)

प्र: *ध्यान विचार की अपेक्षा अधिक सीधा है, क्योंकि ध्यान में साधक सत्य को पकड़े रहता है, जबकि विचार में उसे असत्य से सत्य को अलग करना पड़ता है।*

उ: प्रारंभ में रूप का अवलंबन लेकर ध्यान करना अधिक सरल एवं रूचिकर है। उसका अभ्यास साधक को आत्मानुसंधान तक ले जाता है, जिसका स्वरूप ही सत्य और असत्य का विवेक करना है। जब आपका चित्त विरोधी भावों से भरा हुआ हो, तब सत्य को पकड़े रहने से क्या लाभ है? आत्मविचार आपको उन अवरोधों को हटाकर – जो आपको ऐसा सोचने के लिये विवश करते हैं कि आत्मा पहले से ही साक्षात् नहीं है – सीधे ही साक्षात्कार करा देता है। (६)

साधक के विकास के स्तर के अनुसार ध्यान भिन्न होता है। यदि साधक इसके योग्य है, तो वह सीधे ही विचार करनेवाले को सूत्ररूप में पकड़े रह सकेगा, और वह अपने आप अपनी मूलभूत शुद्ध चेतना में विलीन हो जायगा।

लेकिन यदि वह सीधे ही विचार करनेवाले को पकड़े नहीं रह सकता, तो उसे अवश्य ईश्वर का ध्यान करना चाहिये, और समय आने पर वही व्यक्ति पर्याप्तरूप से शुद्ध होने पर विचार करनेवाले को पकड़ रख सकेगा एवं पूर्ण सत्ता में विलीन होगा। (७)

अहंकार को बनाये रखकर ही ध्यान संभव है। अहंकार होता है और ध्येय भी होता है। यह पद्धति अप्रत्यक्ष इसलिये है कि वास्तव में आत्मा केवल है – एक है। अहंकार को, अर्थात् उसके जन्मस्थान को ढूँढने पर, वह लुप्त हो जाता है, जो शेष रहता है, वह आत्मा है। यह सीधी पद्धति है। (८)

प्र: *ध्यानरूप साधन से भीतर जाने का मार्ग नहीं मिलता।*

उः इस समय हम सब कहाँ हैं? वह हमारा अस्तित्व ही है।

प्रः *ऐसा होने पर भी हम इस विषय में अज्ञान हैं।*

उः किस विषय में अज्ञान हैं? और किसका अज्ञान हैं? यदि आत्मा का अज्ञान तो क्या दो आत्मा हैं?

प्रः *दो आत्मा नहीं हैं, लेकिन मर्यादा के अस्तित्व का इन्कार नहीं किया जा सकता। मर्यादा के कारण...*

उः मर्यादा सिर्फ मन में है। गाढ़ निद्रा में आप मर्यादा का अनुभव करते हैं? नींद के दौरान आप होते हैं। आपके उस समय के अस्तित्व का आप इन्कार नहीं करते हैं। इस जाग्रत अवस्था में वही आत्मा इस पल तथा इस स्थल में भी है। इस समय आप कहते हैं कि मर्यादा है; वस्तुतः हुआ यह है कि अब इन दो अवस्थाओं में भेद उत्पन्न हुआ है। यह भेद मन के कारण है। नींद में मन नहीं था। अब वह सक्रिय है। आत्मा का अस्तित्व मन के अभाव में भी होता है।

प्रः *यह बात समझ में तो आती है, अनुभव नहीं होता।*

उः ध्यानाभ्यास से धीरे धीरे अनुभव होगा।

प्रः *ध्यान मन से होता है। वह मन का नाश कैसे कर सकता है, जिससे कि आत्मा प्रकट हो?*

उः ध्यान का अर्थ एक विचार को पकड़े रहना है। वह एक विचार दूसरे विचारों को दूर रखता है। चंचलता मन की निर्बलता का चिन्ह है। निरंतर ध्यानाभ्यास से वह प्रबल बनता है, अर्थात् अस्थिर विचारों के स्थान में उनकी स्थिर पृष्ठभूमि आ जाती है जो विचारों से मुक्त है। यह विचाररहित विस्तार आत्मा है। शुद्ध मन आत्मा है। [९]

प्रः *ध्यान क्या है?*

उः अपने आत्मरूप से रहना ध्यान है। अपने वास्तविक स्वरूप से जरा भी विचलित न होना, एवं "मैं ध्यान कर रहा हूँ" ऐसे भाव से मुक्त रहना ध्यान है।

प्रः *ध्यान तथा समाधि में क्या अन्तर है?*

उः सभान मानसिक प्रयत्न से ध्यान होता है; समाधि में ऐसा मनोयत्न नहीं होता।

प्रः *ध्यान के विषय में क्या क्या बातें ख्याल में रखना जरूरी हैं?*

उः आत्मनिष्ठ पुरुष को यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उसे इस समाहित स्थिति से जरा भी च्युत नहीं होना है। अपने सच्चे स्वरूप से विचलित होने पर उसे अपने समक्ष तेजोमंडल, असमान्य ध्वनियाँ, तथा भीतर या बाहर दिखनेवाले देवस्वरूपों को सत्य मान लेने की इच्छा इत्यादि उत्पन्न हो सकते हैं। उसे इन सब बातों से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये और अपने आत्मा का विस्मरण नहीं होने देना चाहिये। [१०]

प्रः *ध्यान का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिये?*

उः ध्यान वस्तुतः आत्मनिष्ठा है। लेकिन साधारणतया जब मन में विचार उत्पन्न हों,

और उनको हटाने का प्रयत्न किया जाय, उसे ध्यान कहा जाता है। आत्मनिष्ठा आपका सच्चा स्वरूप है। आप जैसे हैं, वैसे रहिये, यह लक्ष्य है।

प्र: *विचार आते रहते हैं। हमारा यत्न सिर्फ उनको हटाने के लिये है?*

उ: हाँ, एक विचार पर ध्यान एकाग्र करने से दूसरे विचार दूर होते हैं। विचारों को दूर रखने का लक्ष्य होने की वजह से ध्यान अपनी असर में नकारात्मक है।

प्र: *कहा गया है : "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा", मन को आत्मा में स्थिर करके ध्यान करना चाहिये। लेकिन आत्मा अचिन्त्य है।*

उ: आपको ध्यान करने की इच्छा क्यों होती है? चूँकि आपको ध्यान करने की इच्छा होती है, आपसे "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा" कहा जाता है। क्यों आप बिना ध्यान किये, जैसे हैं वैसे नहीं रहते? वह मन क्या है? सब विचारों का निरसन होने पर मन आत्मसंस्थ होता है।

प्र: *यदि किसी आकार का अवलंबन दिया जाय, तो मैं उसपर ध्यान कर सकता हूँ, और दूसरे विचारों का निरसन होता है। लेकिन आत्मा निराकार है।*

उ: आकार पर या ठोस पदार्थ पर एकाग्रता ध्यान कहा जाता है, जबकि आत्मानुसंधान विचार अर्थात् निदिध्यासन है। [११]

प्र: *इन्द्रियजन्य सुखों से ध्यान में अधिक आनंद है, फिर भी मन ध्यानजन्य सुख के बजाय विषयसुख के पीछे दौड़ता है, ऐसा क्यों?*

उ: सुख, दुःख मन के पहलू हैं। आनंद हमारा स्वभाव है। लेकिन हमने आत्मा को भुला दिया है और कल्पना करते हैं कि शरीर अथवा मन आत्मा है। यह गलत तादात्म्य दुःख का कारण है। क्या किया जा सकता है? मन की यह आदत बहुत पुरानी है, और असंख्य पूर्वजन्मों से चली आई है, इस कारण वह दृढ़ हो गई है। उसे अवश्य नष्ट करना होगा, तभी हमारा सच्चा स्वभाव – आनंद – प्रकट होगा। [१२]

प्र: *ध्यान आँखें खुली रखकर या मूँदकर करना चाहिये?*

उ: दोनों प्रकार से ध्यान किया जा सकता है। मुख्य बात चित्त का अन्तर्मुख होना एवं अपने मूल की तलाश में सक्रिय रूप से लगे रहना है। आँखें मूँदकर ध्यान करने पर सुषुप्त विचार प्रबल वेग से प्रकट होने लगते हैं। तथा आँखें खुली रखकर ध्यान करने से मन को अन्तर्मुख बनाना मुश्किल होता है; ऐसा करने के लिये मन अत्यंत प्रबल होना चाहिये। जब मन विषयों को अपने अंदर प्रविष्ट होने देता है, तो वह दूषित हो जाता है। अन्यथा वह शुद्ध रहता है। ध्यान के लिये मुख्य बात ख्याल में रखनी चाहिये कि बाह्य प्रभावों को भीतर प्रविष्ट न करते हुए, एवं इतर बातों का विचार किये बिना मन को अपने अन्वेषण के कार्य में लगाये रखना चाहिये। [१३]

प्र: *भगवान्, मैं जब भी ध्यान करता हूँ, मस्तक में बहुत गरमी महसूस होती है, फिर भी अगर ध्यान जारी रखता हूँ तो पूरे शरीर में जलन होने लगती है। इसका क्या उपाय है?*

उः यदि मस्तिष्क द्वारा एकाग्रता का प्रयत्न किया जाता है, तो गरमी का अनुभव और सरदर्द भी हो सकता है। एकाग्रता हृदय में करनी चाहिये, जो शीतलता तथा ताजगी देनेवाला है। शिथिल बनिये और आपका ध्यान सरल होगा। मन को स्थिर रखिये तथा उत्पन्न होनेवाले विचारों को धीरे से दूर रखने का यत्न कीजिये, ऐसा करते समय बल-प्रयोग और तनाव बिल्कुल नहीं होना चाहिये। इस प्रकार आप शीघ्र ही सफल होंगे। (१४)

प्रः *ध्यान के दौरान मैं नींद को कैसे रोक सकता हूँ?*

उः ध्यान के दौरान नींद को रोकने का यत्न एक विचार है, जो नहीं होना चाहिये। लेकिन यदि नींद आ ही जाय तो नींद के दौरान तथा नींद के पश्चात् भी ध्यान जारी रहेगा। फिर भी चूँकि नींद विचार है, इसलिये उससे अवश्य मुक्त होना चाहिये। अंतिम सहज अवस्था जाग्रत में एवं सभानतापूर्वक प्राप्त करनी चाहिये, जिसमें विक्षेप करनेवाले सब विचारों का अभाव होना चाहिये। जाग्रत एवं सुषुप्ति सहज, निर्विचार अवस्था के परदे पर आने-जानेवाले चित्र हैं। उनके प्रति लक्ष दिये बिना ही उनको चले जाने देना चाहिये। (१५)

प्रः *ध्यान किस पर किया जाना चाहिये?*

उः आपको पसंद हो ऐसी किसी भी वस्तु पर।

प्रः *शिव, विष्णु और गायत्री समान रूप से प्रभावशाली कहे जाते हैं। मुझे किस पर ध्यान करना चाहिये?*

उः किसी पर जो अपको सबसे अधिक पसंद हो। वे सभी समान रूप से असरकारक हैं। लेकिन आपको किसी एक का ही आश्रय लेना चाहिये।

प्रः *मुझे कैसे ध्यान करना चाहिये?*

उः जो आपको सबसे अधिक अच्छा लगे, उस पर चित्त एकाग्र कीजिये। यदि एक विचार बना रहे, तो दूसरे विचार दूर रक्खे जा सकते हैं, तथा अंत में नष्ट किये जा सकते हैं। विचारों की विविधता जब तक बनी रहती है, बुरे विचार भी होते हैं। यदि हमारी भक्ति का लक्ष्य मन में बना रहे, तो केवल अच्छे विचार ही उत्पन्न होंगे। इसलिये एक विचार पर एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिये। ध्यान सब साधनों में मुख्य है, और ध्यान का अर्थ है युद्ध। जैसे ही आप ध्यान प्रारंभ करते हैं, दूसरे विचार इकट्ठे होकर, प्रबल बनकर, उस एक विचार को स्थिर न रहने देने का यत्न करेंगे, जिसे आप दृढ़ता से पकड़े रहना चाहते हैं। बार-बार के अभ्यास से सद्विचार अवश्य प्रबल बनना चाहिये। उसके प्रबल होने पर दूसरे विचार लुप्त हो जायेंगे। ऐसा प्रचंड युद्ध ध्यान के दौरान चलता रहता है।

मनुष्य दुःख से मुक्ति चाहता है। इसके लिये मन में शान्ति होनी चाहिये, जिसका अर्थ परेशान करनेवाले सब विचारों का अभाव है। केवल ध्यान से मन को शान्ति मिलती है। (१६)

प्रः *भगवान् कहते हैं कि यद्यपि आत्मा का स्थान हृदय है, फिर भी वह किसी भी चक्र में प्रकट हो सकता है। क्या यह संभव नहीं कि भ्रूकुटि के मध्य में एकाग्रता करने से वही आत्मा का स्थान बन जाय?*

उ: यदि आप शरीर में किसी भी स्थान पर लक्ष एकाग्र करें, तो आत्मा के स्थान का विचार केवल सैद्धान्तिक है। आप स्वयं को द्रष्टा और जिस स्थान में लक्ष एकाग्र करते हैं उसे दृश्य मानते हैं। यह केवल भावना है। इससे विरुद्ध जब आप द्रष्टा को ही देखते हैं, तो आत्मा में विलीन होकर, उसके साथ एकरूप हो जाते हैं; वह हृदय है।

प्र: *भ्रूकुटि के मध्य में एकाग्रता का अभ्यास इच्छनीय है?*

उ: किसी भी प्रकार के ध्यानाभ्यास का अंतिम परिणाम यह है कि साधक जिस लक्ष्य पर अपने चित्त को एकाग्र करता है, वह द्रष्टा से अलग नहीं रहता। द्रष्टा और दृश्य दोनों एक आत्मा बन जाते हैं; वह हृदय है।

प्र: *श्री भगवान् हमें किसी विशेष चक्र पर एकाग्रता का अभ्यास करने की सलाह क्यों नहीं देते?*

उ: योगशास्त्र कहता है कि सहस्रार (मस्तक में रहा हुआ चक्र) आत्मा का स्थान है। पुरुष सूक्त हृदय को आत्मा का स्थान बताता है। साधक को संभवित संदेह से बचाने के लिये मैं उसे "मैं" अथवा "मैं हूँ" के सूत्र को पकड़कर उसके मूल तक अनुसरण करने के लिये कहता हूँ। क्योंकि किसी को भी "मैं" के भाव के बारे में कोई संदेह होना संभव नहीं है। दूसरे, साधनरूप से किसी भी वस्तु का स्वीकार किया जाय, अंतिम ध्येय मैंपने के मूल का अनुभव है, जो सबके अनुभव का प्राथमिक तत्त्व है। इसलिये यदि आप आत्मानुसंधान का अभ्यास करें, तो आप हृदय तक पहुँच जायेंगे, जो आत्मा है। (१७)

प्र: *मैं हठयोग का अभ्यास करता हूँ और "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार ध्यान करता हूँ। कुछ क्षणों में शून्य का अनुभव होता है, मस्तिष्क गरम हो जाता है, और मृत्यु का भय लगता है। मुझे क्या करना चाहिये?*

उ: "मैं ब्रह्म हूँ" यह केवल विचार है। ऐसा कौन कहता है? स्वयं ब्रह्म ऐसा नहीं कहता। उसे ऐसा कहने की क्या आवश्यकता है? न तो सच्चा मैं ऐसा कहता है, क्योंकि वह हमेशा ब्रह्मरूप ही रहता है। ऐसा कहना एक विचार है; यह विचार किसका है? सब विचार झूठे "मैं" से अर्थात् अहंकार से उत्पन्न होते हैं। निर्विचार रहिये। जब तक विचार रहेगा, भय भी रहेगा।

प्र: *मैं उसका (ब्रह्म का) विचार जारी रखता हूँ, तो विस्मृति होती है, मस्तिष्क गरम होता है, और मृत्यु का भय लगता है।*

उ: हाँ, चित्त को मस्तिष्क में एकाग्र किया जाता है, इस कारण वहाँ गरमी का अनुभव होता है। इसका मूलकारण अहंविचार है। अहंविचार उत्पन्न होने के साथ मृत्युभय भी उत्पन्न होता है। और जब तक विचार रहेगा, विस्मृति भी रहेगी। प्रथम "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा विचार उत्पन्न होता है, तब विस्मृति होती है। विचार एवं विस्मृति अहंविचार के लिये हैं। उसे सूत्र की तरह पकड़े रहिये, तो वह आभास की तरह लुप्त हो जायगा। तब जो शेष रहता है, वह आत्मा है, सच्चा "मैं" है।

"मैं ब्रह्म हूँ" एकाग्रता का अवलंबन है, क्योंकि वह दूसरे विचारों को दूर रखता है। जब वही एक विचार रहे, तब देखिये कि वह किसका है, तो पता लगेगा कि वह "मैं" से उत्पन्न होता है। यह "मैं" कहाँ से आता है, इसकी तलाश कीजिये, तो यह "मैं" अदृश्य हो जायगा और परम आत्मा अपने आप प्रकाशित होगा। इसके बाद कोई यत्न जरूरी नहीं है।

जब सिर्फ एक सच्चा "मैं" रहेगा, वह "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा नहीं कहेगा। क्या मनुष्य "मैं मनुष्य हूँ" ऐसा बार-बार कहता है? जब तक कोई उसे चुनौति न दे, उसे क्यों अपने आपको मनुष्य कहना पड़े? क्या कोई स्वयं को भूल से पशु मानता है कि उसे "नहीं, मैं पशु नहीं, मनुष्य हूँ" ऐसा कहना पड़े? इसी प्रकार ब्रह्म या मैं एकमात्र सत्य है जिसका अस्तित्व है। वहाँ कोई दूसरा उसे चुनौती देनेवाला नहीं है और इसलिये उसे "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा बार-बार उद्घोषित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। (१८)

प्रः *क्यों मनुष्य को इस अचिन्त्य बिन्दु का चिन्तन करके आत्मसम्मोहन करना चाहिये? क्यों उसे प्रकाश पर त्राटक (अनिमेष दृष्टि से देखना), प्राणायाम, नादश्रवण, आन्तरिक ध्वनि सुनना, पवित्र ओंकार या अन्य मंत्र का जप करना इत्यादि दूसरी पद्धतियों का अनुसरण नहीं करना चाहिये?*

उः प्रकाश पर त्राटक मन को मूढ़ एवं इच्छाशक्ति को थोड़े समय के लिये जड़ एवं निष्क्रिय बनाता है; इससे कोई स्थायी लाभ नहीं होता। प्राणायाम इच्छाशक्ति को कुछ समय के लिये निष्क्रिय कर देता है, लेकिन ऐसी स्थिति स्थायी नहीं होती। यही बात नाद श्रवण के लिये तथा मंत्रजप के लिये भी सच है, यदि मंत्र पवित्र न हो और किसी उच्चतर शक्ति की पावन एवं ऊपर उठानेवाली सहायता प्राप्त न हो। (१९)

प्रः *हमें ललाट में भौहों के बीच एकाग्रता की सलाह दी गई है। क्या वह सही है?*

उः प्रत्येक मनुष्य "मैं हूँ" के बारे में सभान है, उसे छोड़कर वह ईश्वर की तलाश में चारों ओर घूमता रहता है। भौहों के बीच में लक्ष स्थिर करने से क्या लाभ है? ईश्वर भौहों के बीच में विद्यमान है ऐसा मानना मूर्खता है। ऐसी सलाह का हेतु मन को एकाग्र होने में सहायता करना है। यह मन को न बिखरने देने की और उसे बलपूर्वक रोकने की पद्धतियों में से एक है, जिसमें उसे जबरदस्ती एक प्रवाह में बहने के लिये बाध्य किया जाता है। यह एकाग्रता के लिये सहायक है।

लेकिन आत्मानुभव का श्रेष्ठ साधन "मैं कौन हूँ" की तलाश है। वर्तमान परेशानी मन को है; उसे मन से ही हटाया जाना चाहिये। (२०)

प्रः *मैं हमेशा शरीर में केवल एक ही केन्द्र पर एकाग्रता नहीं करता। मुझे कभी एक तो कभी दूसरे केन्द्र पर एकाग्रता करना सरल लगता है। जब मैं किसी एक केन्द्र पर एकाग्रता करता हूँ, तो विचार अपने आप दूसरे केन्द्र पर स्थिर होता है। ऐसा क्यों होता है?*

उः आपकी भूतकालीन अभ्यास पद्धतियाँ इसका कारण हो सकती हैं। लेकिन किसी भी हाल में महत्व की बात यह नहीं कि आप किस केन्द्र पर एकाग्रता करते हैं, क्योंकि

सच्चा हृदय प्रत्येक केन्द्र में तथा शरीर के बाहर भी विद्यमान है। आप शरीर के किसी भी भाग पर या किसी भी बाह्य वस्तु पर एकाग्रता करें, वहाँ हृदय है।

प्र: *क्या हमेशा एक ही केन्द्र पर एकाग्रता करनी चाहिये या अन्य स्थानों पर भी की जा सकती है?*

उ: जैसा मैंने अभी कहा आप किसी भी केन्द्र पर एकाग्रता करें, कोई हानि नहीं है, क्योंकि एकाग्रता विचारों के त्याग का साधन है। किसी भी केन्द्र पर या वस्तु पर एकाग्रता की जाय, एकाग्रता करने वाला हमेशा एक है। (२१)

प्र: *कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि हमें किसी ठोस पदार्थ पर ही एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि मन के नाश का प्रयत्न खतरनाक हो सकता है।*

उ: खतरनाक किसके लिये? आत्मा से भिन्न कोई खतरा हो सकता है? मैं-मैं अनन्त सागर हैं, अहंकार उसपर एक तरंगमात्र है, जिसे जीव या वैयक्तिक आत्मा कहा जाता है। तरंग भी पानी ही है, क्योंकि मिटने पर वह सागर में मिल जाता है। जब वह तरंग होता है, तब भी वह सागर का भाग है। इस सादे सत्य के अज्ञान के कारण अनेक नामवाली असंख्य पद्धतियाँ – योग, भक्ति, कर्म – बताई जाती हैं। इनमें से प्रत्येक के कई भेद हैं, जिनका उपदेश बड़ी चतुरता से, बड़े विस्तार से लोगों के मन को लुभाने और भ्रम में डालने के लिये किया जाता है। विभिन्न धर्म, संप्रदाय तथा वाद भी ऐसे ही हैं। उन सबका प्रयोजन क्या है? केवल आत्मा को जानना। वे आत्मा को जानने के लिये आवश्यक साधन या अभ्यास हैं।

इन्द्रियों से जाने गये पदार्थ प्रत्यक्ष कहे जाते हैं। क्या आत्मा जैसी कोई प्रत्यक्ष वस्तु है, जो हमेशा एवं इन्द्रियों की सहायता के बिना अनुभव की जाती हो? इन्द्रिय प्रत्यक्ष परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यक्ष नहीं। केवल अपनी सभानता ही सीधा या प्रत्यक्ष ज्ञान है, और वह सबके लिये समान है। आपने आत्मा को जानने के लिये कोई सहायता जरूरी नहीं है। (२२)

मंत्र और जप

मंत्र एक शब्द या वाक्यखंड है जिसे गुरु दीक्षाविधि के दौरान शिष्य को देता है। यदि गुरु ने साक्षात्कार अथवा ध्यानाभ्यास से आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त की हो, तो उसका थोड़ा अंश मंत्र में संक्रान्त किया जाता है। यदि शिष्य इस मंत्र का निरंतर जप करता है, तो गुरु की शक्ति उसको आध्यात्मिक मार्ग पर प्रगति करने में सहायता करती है। श्री रमण इस प्रक्रिया की प्रामाणिकता का स्वीकार करते थे, लेकिन स्वयं मंत्र नहीं देते थे, न ही कभी उन्होंने दीक्षा में मंत्रों का उपयोग किया। फिर भी वे ईश्वर के नामजप के अभ्यास को महत्व देते थे, एवं प्रायः इसे एक अवलंबन के रूप में उन भक्तों के लिये निश्चित करते थे जो शरणागति या भक्ति का मार्ग पसंद करते थे।

प्रकरण ७ में कहा गया था कि ईश्वर अर्थात् आत्मा के प्रति आत्मसमर्पण का अभ्यास प्रभावशाली है, तथा साथ में हमेशा ऐसी सभानता बनाई रक्खी जा सकती है कि सोचनेवाला या कर्म करनेवाला कोई व्यक्ति नहीं है, बल्कि एक उच्चतर शक्ति जगत् के सारे कार्यों के लिये जिम्मेवार है। श्री रमण इस दृष्टिकोण के विकास के लिये प्रभावी साधन के रूप में जप की सिफारिश करते थे, क्योंकि इससे व्यक्ति तथा जगत् के विचार के स्थान में उस उच्चतर शक्ति का स्मरण बनाया रक्खा जा सकता है।

प्रारंभ में ईश्वरनामजप एकाग्रता या ध्यान का अभ्यास होता है, लेकिन निरंतर अभ्यास से ऐसी भूमिका आती है जिसमें जप अनायास, अपने आप, सतत चलता रहता है। यह भूमिका सिर्फ एकाग्रता से नहीं, बल्कि जिसका नामजप किया जाता है, उस देव के समक्ष पूर्ण आत्मसमर्पण से प्राप्त होती है : "ईश्वर के नामजप के साथ, पूर्ण भक्ति से उसका आवाहन करके, बिना शर्त के उसके समक्ष अपने आपको समर्पित कर देना चाहिये। इस प्रकार के आत्मसमर्पण के पश्चात् ही प्रभु का नाम हमेशा मनुष्य के साथ रहता है।"[१]

जब श्री रमण जप की इस उच्च भूमिका की बात करते, तो उनके विचारों का

एक रहस्यमय आयाम सामने आता। वे ईश्वरनाम का आत्मा से अभेद बताते थे, और अक्सर यह भी कहते थे कि आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् दिव्यनाम स्वयं अपने आपको हृदय में बिना किसी प्रयत्न के सतत दोहराता रहता है।

यह अंतिम भूमिका तभी प्राप्त होती है जब जप का अभ्यास अहं के प्रति लक्ष बनाये रखने के अभ्यास से जुड़कर उसमें विलीन हो जाता है। श्री रमण चौदहवीं शताब्दि के महाराष्ट्र के संत नामदेव के विधान का उद्धरण देकर इस स्थित्यंतर की आवश्यकता को स्पष्ट करते थे :- "नाम का सर्वव्यापक स्वरूप तभी समझ में आ सकता है, जब मनुष्य अपने 'अहं' नाम का ठीक ठीक परिचय प्राप्त कर ले। जब तक अपना ही नाम नहीं जाना जाता, तो व्यापक नाम को जानना असंभव है"।[२] यह उद्धरण नामदेव के "दिव्यनाम का तत्त्वज्ञान" शीर्षक छोटे-से ग्रंथ से लिया गया है, और पूरा पाठ श्री रमण के प्रत्युत्तरों में इस प्रकरण में आगे दिया गया है। उन्होंने इसे १९३७ में प्राप्त किया था, और उनके जीवन के अंतिम तेरह वर्षों तक इसकी एक प्रति को हमेशा अपनी बैठक के पास छोटे-से बुक-स्टेन्ड में रक्खा था। जब मुलाकाती जप के स्वरूप तथा उपयोगिता के बारे में प्रश्न पूछते, तो वे प्रायः इसको पढ़ते थे। इस विषय में बात करते समय वे इसका अक्सर समर्थन करते थे, इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वे इसकी विषयवस्तु को प्रामाणिक रूप में मान्य करते थे।

प्रः *मैं हमेशा श्वास लेते समय ईश्वर के नाम का तथा उछ्वास के समय सांईबाबा के नाम का जप करता हूँ। इसके साथ मैं बाबा के स्वरूप को भी देखता रहता हूँ। भगवान् में भी मैं बाबा को देखता हूँ। मुझे यह अभ्यास जारी रखना चाहिये या बदलना चाहिये? मेरे भीतर से मुझे कोई कहता है कि यदि मैं नामरूप से ही लगाव रखूँगा तो उनसे पर कभी भी नहीं जा सकूँगा। लेकिन नामरूप को छोड़ने के पश्चात् मुझे क्या करना चाहिये, यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। क्या भगवान् इस विषय में मेरा मार्गदर्शन करेंगे?*

उः आप अपनी वर्तमान पद्धति जारी रख सकते हैं। जब जप अखंड रूप से चलता रहता है, तो दूसरे सब विचार शान्त हो जाते हैं, और मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप में स्थित होता है, जो जप या ध्यान है। हम अपने मन को जगत् के बाह्य पदार्थों के प्रति अभिमुख रखते हैं, इस कारण हम अपने जपरूप सच्चे स्वभाव के बारे में सभान नहीं होते। जब हम जप अथवा ध्यान के सावधान प्रयत्न से अन्य पदार्थों के विचारों को रोकते हैं, तब जो शेष रहता है, वह हमारा जपस्वरूप सच्चा स्वभाव है।

जब तक आप स्वयं को नाम-रूप समझते हैं, तो जप के दौरान भी आप नामरूप से बच नहीं सकते। जब आप जान लेंगे कि आप नामरूप नहीं है, तो वे अपने आप छूट जायेंगे, दूसरे किसी भी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। जप अथवा ध्यान स्वाभाविक तथा अनिवार्यरूप से आपको उस ध्येय तक ले जायगा। वर्तमान में जप साधन है, वह तब ध्येय मालूम पड़ेगा। नाम और ईश्वर भिन्न नहीं हैं। नामदेव के निम्नलिखित उपदेशों में यह बात स्पष्टरूप से कही गई हैं :-

१- नाम घनरूप में आकाश, पृथ्वी एवं पाताल में तथा पूरे विश्व में व्याप्त है। कौन कह सकता है कि वह पातालादि निम्नस्तर के लोकों में किस गहराई तक तथा स्वर्गादि ऊपर के लोकों में किस ऊँचाई तक फैला हुआ है? अज्ञानी लोग पदार्थों के तत्त्व को न जानकर चौरासी लाख जातियों में जन्म लेते रहते हैं। नामदेव कहता है कि नाम अमर है। रूप असंख्य हैं, लेकिन यह सब कुछ नाम है।

२- नाम ही रूप है। नाम और रूप में कोई भेद नहीं है। ईश्वर नामरूप धारण करके प्रकट हुए, इस कारण वेद ने नाम की प्रतिष्ठा की। सावधानी से सुनिये कि नाम से परे कोई मंत्र नहीं है। जो इससे विपरीत बात कहते हैं, वे अज्ञानी हैं। नामदेव कहता है कि नाम ही स्वयं केशव-ईश्वर है। यह रहस्य ईश्वर के प्रेमी भक्त ही जानते हैं।

३- नाम की व्यापकता को वही जान सकता है, जो अपने अहं नाम से परिचित है। जब अपना ही नाम अज्ञात हो, तो कोई सर्वव्यापक नाम को प्राप्त करे यह असंभव है। जब मनुष्य स्वयं को जान लेता है, तो नाम को सर्वत्र व्यापक पाता है। नाम को नामी से भिन्न देखने से भ्रम उत्पन्न होता है। यह सत्य है; नामदेव कहता है कि विश्वास न होता हो तो संतों से पूछिये।

४- कोई भी ज्ञान से, ध्यान से या तप से नाम को नहीं जान सकता। प्रथम गुरुदेव के चरणों में स्वयं को समर्पित करो, और जानो कि "अहम् अस्मि", "मैं हूँ" यही वह नाम है। इस अहं के मूल का अन्वेषण करके अपने व्यक्तित्व को उस स्वयंभू, द्वैतरहित, एकत्व में विलीन कर दो, जो द्वैत से पर है, एवं सर्वत्र व्याप्त है, वह अर्थात् द्वैतातीत नाम तीनों लोकों में निवास करता है। नाम स्वयं परब्रह्म है, जहाँ द्वैत पर आधारित कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। (४)

यही विचार बायबल में भी विद्यमान है : "प्रारंभ में शब्द था, और शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ही ईश्वर था"। (५)

प्र: *तो आत्मानुसंधान से ईश्वर का सच्चा नाम अंत में प्रकट होगा?*

उ: चूँकि आप स्वयं जपरूप हैं, यदि आप स्वयं कौन हैं, इसकी तलाश करके अपना वास्तविक स्वरूप जानें तो नाम प्रकट हो इसमें क्या आश्चर्य है? प्रारंभ में जो जप प्रयत्न से होता था, वह हृदय में अविच्छिन्नरूप से अनायास होने लगेगा। (६)

प्र: *जप कब तक करना चाहिये और साथ साथ ईश्वर के रूप पर एकाग्रता भी करनी आवश्यक है क्या?*

उः रूप देखते रहने से जप का महत्त्व अधिक है। जप स्वाभाविक बन जाय, तब तक उसे जारी रखना चाहिये। उसका आरंभ प्रयत्न से होता है, और तब तक जारी रक्खा जाता है जब तक वह स्वाभाविक हो जाय। जब स्वाभाविक बन जाय, तो उसे साक्षात्कार कहा जाता है।

दूसरे कार्यों में व्यस्त रहने के समय भी जप किया जा सकता है। जो है वह केवल एक सत्य है। सत्य तक पहुँचने के मंत्र, नाम, रूप, विचार एवं सभी प्रकार के प्रयत्न उसी सत्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। अंत में वे सब उस एक सत्य में मिलकर एकरूप हो जाते हैं। भक्ति, विचार एवं जप असत्य को दूर रखने के हमारे प्रयत्न के विभिन्न रूप हैं। वर्तमान समय में असत्य हमारा दुराग्रहमात्र है, जबकि सत्य हमारा स्वभाव है। हम गलती से असत्य से – अर्थात् विचारों तथा सांसारिक कार्यों के प्रति आसक्ति से – चिपके हुए हैं। इसका अंत होने पर सत्य स्वयं प्रकट होगा। हमारे प्रयत्न असत्य को दूर रखने के लिये हैं, और यह कार्य सत्य के सतत चिन्तन से ही सम्पन्न हो सकता है। यद्यपि सत्य हमारा स्वरूप है, फिर भी इन अभ्यासों को करते समय ऐसा लगता है, जैसे हम उसका चिन्तन कर रहें हों। जो हम करते हैं, वह हमारी वास्तविक सत्ता के प्रकट होने के मार्ग में रहे हुए अवरोधों को दूर करने में परिणत होता है।

प्रः *क्या हमारे प्रयत्न अवश्य सफल होंगे?*

उः साक्षात्कार हमारा स्वभाव है। उसमें कुछ नया प्राप्त नहीं करना है। जो नया है, वह नित्य नहीं हो सकता। इसलिये साधक आत्मा को प्राप्त करेगा या उसे खो देगा ऐसे संदेह अनावश्यक हैं। (७)

प्रः *जब हम यह जानते हों कि विचार सच्चा मार्ग है, जप करना अच्छा है?*

उः सब पद्धतियाँ अच्छी हैं, क्योंकि वे धीरे धीरे अंत में साधक को आत्मानुसंधान तक ले आयेंगी। जप हमारा सच्चा स्वभाव है। जब हमें आत्मा का ज्ञान होता है, तब जप अनायास चलता रहता है। एक स्तर पर जो साधन था, वह दूसरे पर साध्य बन जाता है। निरंतर अनायास जप होता रहे, वह साक्षात्कार है। (८)

प्रः *मैंने धर्मग्रंथ नहीं पढ़े हैं, और आत्मानुसंधान पद्धति मुझे बहुत कठिन लगती है। मैं स्त्री हूँ और सात बच्चों की माँ हूँ, अतः गृहस्थी के काम तथा चिन्ताओं के कारण मुझे ध्यान के लिये बहुत कम समय मिलता है। मैं भगवान् से प्रार्थना करती हूँ कि मुझे अधिक सरल और सादी पद्धति बतायें।*

उः जैसे मनुष्य को अपने आपको देखने के लिये दर्पण की आवश्यकता नहीं होती, वैसे आत्मा को जानने के लिये पढ़ाई अथवा धर्मग्रंथों के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। सारा ज्ञान अंत में अनात्मा मानकर त्याग देने के लिये ही प्राप्त किया जाता है। न ही गृहस्थी के कर्त्तव्य एवं बच्चों की देखभाल करना विघ्न है। आप और कुछ न कर सकें, तो कम से कम अपने आपसे मानसिक रूप में "मैं-मैं" कहने का अभ्यास करें, यह पर्याप्त है, जैसा

कि "मैं कौन हूँ" ग्रंथ में बताया गया है। यदि कोई निरंतर मैं मैं सोचता रहे, तो यह उसे आत्मनिष्ठा की अवस्था तक पहुँचा देगा। आप कोई भी कार्य करती हों, उठते-बैठते या चलते समय इसे बार-बार दोहराते रहें। अहं ईश्वर का नाम है, और सब मंत्रों में प्रथम एवं सबसे महान् है। ओंकार भी दूसरे स्थान में है। (९)

प्र: *मन के संयम से लिये अजपाजप या ओंकार जप अच्छा है?*

उ: अजपाजप के बारे में आपका क्या ख्याल है? मुख से "सोहम् सोहम्" रटना अजपा है? वस्तुत: अजपा का अर्थ वह जप है जो मुख से उच्चारित हुए बिना, अनैच्छिकरूप से, अनायास, अपने आप चलता रहता है, उसे जानना। इस वास्तविक अर्थ को जाने बिना लोग यह सोचते हैं कि मुख से "सोहम् सोहम्" जप हजारों-लाखों बार ऊँगली से या माला से गिनकर किया जाना चाहिये।

जप का प्रारंभ करने से पहले प्राणायाम करना चाहिये ऐसा शास्त्रविधान है। अर्थात् पहले प्राणायाम करके पश्चात् जप शुरू करना चाहिये। प्राणायाम के दौरान मुख बंद रखना होता है, है कि नहीं? यदि प्राण की गति रोककर शरीर के पाँच महाभूतों को एक साथ बाँधकर उनका संयम किया जाय, तो शेष सच्चा आत्मा रहता है। स्वयं आत्मा हमेशा अपने आप अहं-अहं दोहराता रहता है, यह अजपा है। इसको जानने के बाद मौखिक जप को अजपा कैसे कहा जा सकता है? सच्चा आत्मा अपने आप अनैच्छिक रूप से, अखंड तैलधारावत्, अंतहीन रूप से जप करता रहता है, उसका दर्शन करना अजपा या गायत्री या सब कुछ है। यदि आप जानें कि जप कौन कर रहा है, तो आप जान लेंगे कि जप क्या है। यदि आप तलाश करें और जानने का यत्न करें कि वह कौन है जो जप कर रहा है, तो वह जप स्वयं आत्मा बन जाता है।

प्र: *मौखिक जपसे कोई लाभ नहीं है?*

उ: किसने कहा कि लाभ नहीं है? ऐसा जप चित्त को शुद्ध करेगा। जैसे जैसे जप निरंतर किया जायगा, यह प्रयत्न जल्दी से या देर से सच्चे मार्ग पर ले आयेगा। अच्छा या बुरा जो भी किया जाता है, वह निष्फल नहीं होता। केवल व्यक्ति के विकास स्तर के अनुसार इनके भेद तथा गुणदोष बनाये जाते हैं। (१०)

प्र: *मौखिक जप से मानसिक जप अधिक अच्छा नहीं है?*

उ: मौखिक जप ध्वनिरूप होता है, ध्वनि विचार से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि विचारों को शब्दों में व्यक्त करने के पूर्व सोचना पड़ता है। मन विचारों से बनता है। इसलिये मानसिक जप मौखिक से अच्छा है।

प्र: *हमें ध्यान के साथ साथ मंत्र को मुख से नहीं बोलना चाहिये?*

उ: जप जब मानसिक बनता है, तो ध्वनि की क्या आवश्यकता है?

मानसिक जप को ही ध्यान कहा जाता है; ध्यान चिन्तन तथा मानसिक जप एक समान हैं। विचार जब उलझे हुए नहीं होते और कई विचारों के स्थान में एक ही विचार

बना रहता है, तो इसे ध्यान कहते हैं। जप अथवा ध्यान का लक्ष्य यह है कि बहुत सारे विचारों को हटाकर केवल एक विचार को बनाये रखना। तब वह एक विचार भी अपने मूल – पूर्ण चैतन्य – में विलीन हो जाता है। मन जप में जुड़ जाता है और तब अपने मूल में समा जाता है।

प्र: *कहते हैं कि मन मस्तिष्क से उत्पन्न होता है?*

उ: मस्तिष्क कहाँ हैं? शरीर में। मैं कहता हूँ कि स्वयं शरीर मन का प्रक्षेपण है। जब आप शरीर के बारे में सोचते हैं, तब मस्तिष्क के विषय में बोलते हैं। मन शरीर को तथा उसमें रहे हुए मस्तिष्क को भी उत्पन्न करता है, और मन ही यह निश्चित करता है कि मस्तिष्क उसका स्थान है।

प्र: *श्री भगवान् ने कहा है कि जप का पता उसके मूल में जाकर लगाना चाहिये। इससे क्या मन की ओर संकेत नहीं किया गया?*

उ: यह सब मन की करतूत है। जप मन को एक विचार पर स्थिर करने में सहायता करता है। प्रथम दूसरे सब विचारों को गौण बनाकर उनको उस एक विचार के आधीन तब तक बनाये रक्खा जाता है, जब तक वे अदृश्य न हो जायँ। जप मानसिक बने तब उसे ध्यान कहते हैं। ध्यान आपका सच्चा स्वभाव है। उसे ध्यान इसलिये कहते हैं कि उसे प्रयत्न से किया जाता है। विचार जब तक अव्यवस्थित एवं बिखरे हुए होते हैं, तब तक प्रयत्न आवश्यक होता है। चूँकि आप अन्य कई विचारों में उलझे रहते हैं, एक विचार को निरंतर बनाये रखने के प्रयत्न को आप ध्यान कहते हैं। यदि वह ध्यान अनायास बन जाय, तब आप जानेंगे कि वह आपका सच्चा स्वभाव है। (११)

प्र: *लोग ईश्वर को कुछ नाम देते हैं, और कहते हैं कि नाम पवित्र है और उसके जप से मनुष्य को लाभ होता है। क्या यह सच हो सकता है?*

उ: क्यों नहीं? आप अपना एक नाम रखते हैं, जिसे बोलने पर आप प्रत्युत्तर देते हैं। लेकिन जन्म के समय आपके शरीर पर यह नाम नहीं लिखा हुआ था, न ही शरीर ने यह किसी से कहा था कि उसका अमुक नाम है। फिर भी आपको एक नाम दिया जाता है और आप उसे सुनकर उत्तर देते हैं, क्योंकि आपने अपना तादात्म्य उस नाम के साथ कर लिया है। इस प्रकार नाम किसी वस्तु का निर्देश करता है, अत: वह कोरी कल्पना नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर का नाम भी असरकारक है। नाम जप का अर्थ उस नाम से जानी जानेवाली वस्तु या व्यक्ति का स्मरण है। इसलिये उसका महत्व है।

प्र: *एक घण्टे या उससे अधिक समय तक जप करने से मेरी निद्रा जैसी अवस्था हो जाती है। जगने पर याद आता है कि मेरे जप में रुकावट हुई है, तब मैं पुन: जप शुरू करता हूँ।*

उ: "निद्रा जैसी अवस्था", यह ठीक है। वह सहज स्थिति है। चूँकि इस समय आप अहंकार के साथ जुड़े हुए हैं, आप सोचते हैं कि वह सहज अवस्था आपके कार्य में

रुकावट करती है। इसलिये आपको यह अनुभव अवश्य बार-बार दोहराना चाहिये, जब तक आप जान लें कि वह आपकी स्वाभाविक, नित्य अवस्था है। तब आप यह भी जानेंगे कि यद्यपि जप बाहरी है, फिर भी वह अपने आप चलता रहता है। आपका यह प्रश्न आपके गलत तादात्म्य – अर्थात् अपने आपका जप करनेवाले मन के साथ तादात्म्य – करने के कारण उत्पन्न हुआ है। जप का अर्थ अन्य विचारों को रोककर एक ही विचार को पकड़े रहना है। यही उसका प्रयोजन है। वह ध्यान तक पहुँचाता है, जिसका अंत आत्मसाक्षात्कार या ज्ञान में होता है।

प्रः *मुझे जप किस तरह करना चाहिये?*

उः मनुष्य को यांत्रिक ढंग से, ऊपर ऊपर से, बिना भक्तिभाव ईश्वर के नाम का उपयोग नहीं करना चाहिये। [१३]

प्रः *तो यांत्रिक जप निष्फल है?*

उः दीर्घकालीन गंभीर रोग केवल औषध के नामजप से नहीं, औषधसेवन से जाता है। इसी प्रकार जन्ममरण के बंधन "शिवोहम्" जैसे महावाक्यों को निरंतर रटने मात्र से नहीं कट सकते। "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा रटते हुए घूमते रहने के बजाय ब्रह्मरूप होकर, स्थिर होकर रहिये। जन्ममरणरूप भवरोग मौखिक रूप से "सोहम्" मंत्र असंख्य बार रटने से नहीं, तद्रूप बनकर रहने से मिटेगा। [१४]

प्रः *आकस्मिक रूप से प्राप्त मंत्र के जप से लाभ होता है या नहीं?*

उः नहीं, मंत्र योग्य गुरु से दीक्षापूर्वक मिला होना चाहिये। यह सत्य मंत्री तथा राजा की इस कहानी से स्पष्ट होता है : एक राजा अपने मंत्री से उसके घर मिलने गया। वहाँ उससे कहा गया कि मंत्रीजी जप कर रहे हैं। राजा उसकी प्रतीक्षा में रुका, और मिलने पर पूछा कि वह मंत्र कौनसा है। मंत्री ने कहा कि वह सबसे पवित्र गायत्री मंत्र है। राजा ने उस मंत्र की दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की, लेकिन मंत्री ने अपनी असमर्थता प्रकट की। तब राजा ने वह मंत्र किसी और से सीखकर, कुछ समय बाद मंत्री से मिलने पर गायत्रीमंत्र बोलकर पूछा कि वह ठीक है या नहीं। मंत्री ने कहा कि मंत्र तो ठीक है, लेकिन उसे इस प्रकार बोलना ठीक नहीं। राजा ने उसका कारण पूछा, तब मंत्री ने पास में खड़े सेवक से राजा को गिरफ्तार करने की आज्ञा दी। आज्ञा का अमल नहीं हुआ। आज्ञा बार-बार दुहराई गई, फिर भी उसका पालन नहीं किया गया। राजा ने क्रुद्ध होकर उसी सेवक से मंत्री को पकड़ लेने की आज्ञा दी, जिसका तुरंत अमल हुआ। मंत्री ने हँसकर कहा कि यह घटना राजा के पूछे हुए कारण को स्पष्ट करती है। राजा ने पूछा : "कैसे?" मंत्री ने उत्तर दिया : "आज्ञा एक-सी थी, अमल करनेवाला भी वही था, लेकिन अधिकारी अलग था। जब मैंने आज्ञा दी, तो वह बेअसर रही; जब आपने आज्ञा दी तो तुरंत असर हुआ। यही बात मंत्र के बारे में भी सच है। [१५]

प्र: *मुझे कहा गया है कि मंत्रजप बहुत शक्तिशाली है।*

उ: आत्मा सबसे महान् मंत्र है – वह अपने आप निरंतर चलता रहता है। यदि आप इस आन्तरिक मंत्र के विषय में सभान नहीं हैं, तो आपको उसे सभानतापूर्वक मंत्रजप के रूप में ग्रहण करना चाहिये, जिसमें दूसरे विचारों को रोकने का प्रयत्न किया जाता है। उसके प्रति निरंतर लक्ष देने से आप कुछ समय बाद आन्तरिक, स्वाभाविक मंत्र के विषय में जागरूक बन जायेंगे, जो साक्षात्कार की अवस्था है, जिसमें कोई आयास नहीं होता। इस सभानता में दृढ़ता से प्रतिष्ठित हो जाने पर, आप कितने ही कार्यों में व्यस्त रहने पर भी इस प्रशान्त प्रवाह में अनायास रह सकेंगे। [१६]

मंत्रजप से मन का नियंत्रण होता है, तब मंत्र मन से तथा प्राण से एकरूप हो जाता है। जब मंत्र के अक्षर प्राण से एकरूप होते हैं, तो उसे ध्यान कहा जाता है। और जब ध्यान गहरा एवं दृढ़ होता है, तो वह सहज समाधि में परिणत होता है। [१७]

प्र: *मुझे एक मंत्र मिला है, वह प्रणव है। लोग मुझे डराते हैं कि यदि मैंने इसका जप किया, तो परिणाम अकल्प्य हो सकते हैं। मैं आपसे मार्गदर्शन चाहता हूँ; क्या मैं इसका जप कर सकता हूँ? मुझे इसमें काफी श्रद्धा है।*

उ: उसे श्रद्धा के साथ अवश्य जपना चाहिये।

प्र: *वह अपना कार्य स्वयं करेगा या आप कृपया मुझे आगे की कुछ सूचना देंगे?*

उ: मंत्रजप का उद्देश्य यह अनुभव करना है कि वह मंत्र आप में पहले से ही अनायास चल रहा है। मौखिक जप मानसिक बनता है, तथा मानसिक जप अंत में अपना नित्यरूप प्रकट करता है। वह मंत्र साधक का सच्चा स्वरूप है, इसे साक्षात्कार कहते हैं।

प्र: *क्या समाधि का आनंद इस तरह प्राप्त होगा?*

उ: जप मानसिक बनकर अंत में अपने आपको आत्मा के रूप में प्रकट करता है; यह समाधि है। [१८]

गृहस्थ जीवन

सन्निष्ठ साधकों के लिये हिन्दू धर्म में सुप्रतिष्ठित परंपरा है, जो उनको अपने जीवन में चार आश्रमों में रहने का आदेश देती है :-

१. ब्रह्मचर्य : संयमपूर्वक अध्ययन का समय, जिसके दौरान विवाह से पूर्व लंबे अरसे तक धर्मग्रंथों का अध्ययन करना होता है। सामान्य रूप से इसमें वेदविद्या की विशेष शिक्षा देनेवाली संस्था में निवास किया जाता है।

२. गृहस्थ : विवाह तथा परिवार। अध्ययनकाल समाप्त होने पर मनुष्य को विवाह करके गृहस्थी के कार्यों को तथा अपने व्यवसाय संबंधी सामाजिक कर्तव्यों को प्रामाणिकता से एवं अनासक्ति से निबाहना चाहिये।

३. वानप्रस्थ : वनवासी यति। पारिवारिक कर्त्तव्य पूरे होने पर अर्थात् संतानों का विवाह हो जाने पर, एकान्त स्थान में, सामान्यतया वन में, निवृत्तिपरायण होकर पूरे समय के लिये ध्यानाभ्यास करना चाहिये।

४. संन्यास : विचरणशील भिक्षु। जीवन के अंतिम भाग में साधक पूर्णरूप से संसार का त्याग करके विचरण करनेवाला यति बनता है। भौतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जिम्मेवारियों को छोड़कर संन्यासी सैद्धान्तिक रूप से उन सब आसक्तियों का त्याग करता है, जो पूर्वजीवन में आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति में विघ्न बनी हुई थीं।

यह समयबद्ध सर्वस्वीकृत जीवन व्यवस्था इस धारणा पर आधारित है कि यदि मनुष्य गंभीरता से अपने आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अनुभव करना चाहता है, तो उसे परिवार का त्याग करके ब्रह्मचारी यति बनकर ध्यानमय जीवन जीना चाहिये। श्री रमण को इस मान्यता के बारे में कई बार पूछा गया था, लेकिन हर बार उन्होंने इसका समर्थन करने से इन्कार कर दिया था। वे कभी भी अपने भक्तों को ध्यानमय जीवन के लिये सांसारिक जिम्मेवारियों के त्याग की अनुमति नहीं देते थे, और निश्चयपूर्वक यह कहते थे कि किसी भी भौतिक परिस्थिति में साक्षात्कार सबके लिये संभव है। भौतिक त्याग के परामर्श के

बदले, वे अपने भक्तों से कहते कि अपने साधारण कर्त्तव्यों तथा जिम्मेवारियों का निर्वाह ऐसी जागरूकता के साथ किया जाय कि शरीर-मन से किये जाने वाले कर्मों का कर्ता या जिम्मेवार कोई वैयक्तिक अहं नहीं है, तो यह आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से अधिक लाभप्रद सिद्ध होगा। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि आध्यात्मिक विकास के लिये भौतिक परिस्थिति से मानसिक दृष्टिकोण का अधिक महत्व है। वे हमेशा सभी मुलाकातियों की इस मान्यता का अस्वीकार करते कि परिस्थिति में थोड़ा भी परिवर्तन या सुधार आध्यात्मिक दृष्टि से लाभप्रद है। उनकी भौतिक परिवर्तन की अनुमति केवल आहारविषयक होती थी। वे इस हिन्दु मान्यता का स्वीकार करते थे कि खाया गया अन्न विचारों की संख्या एवं उनके गुणों को प्रभावित करता है। इसलिये वे उचित मात्रा में शाकाहार लेने का अनुमोदन करते थे, जिससे आध्यात्मिक अभ्यास में सबसे अधिक उपयोगी सहायता मिलती है। जिसे श्री रमण मान्य रखते थे वह हिन्दु आहारनियमन का सिद्धान्त विभिन्न आहारों का वे जिस प्रकार की मानसिक स्थिति उत्पन्न करते हैं, उसके अनुसार वर्गीकरण करता है :-

१. सात्त्विक : शुद्धि एवं संवादिता। दूध की बनी खाद्य चीजें, फल, शाक और विभिन्न प्रकार के धान्य सात्विक आहार है। इन वस्तुओं से बना भोजन साधक को शान्त एवं निश्चल मनःस्थिति बनाये रखने में सहायता करता है।

२. राजसिक : प्रवृत्तिशीलता। मांस, मछली तथा मिर्च, प्याज, लहसुन इत्यादि गरम मसाले राजसिक आहार है, जिसे खाने से मन जरूरत से अधिक चंचल बनता है।

३. तामसिक : प्रमाद एवं अकर्मण्यता। सड़े हुए, बासी एवं खमीर उठाये हुए पदार्थ, जैसे कि आसव, मद्य इत्यादि तामसिक आहार है, जिसे खाने से मन संवेदनाशून्य, सुस्त एवं जड़ जैसा बन जाता है और उसकी स्पष्ट, निर्णयात्मक विचार करने की शक्ति क्षीण हो जाती है।

प्रः *सेवा से निवृत्त होकर श्री भगवान् के साथ हमेशा रहने को मेरा मन करता है।*

उः भगवान् हमेशा आपके साथ है, आपके भीतर है, आपका आत्मा भगवान है। इस सत्य का अनुभव करने के लिये आपको अपने कार्य से निवृत्त होने की या घर से दूर चले जाने की आवश्यकता नहीं है। कपड़े बदल देना, घर-परिवार छोड़ना त्याग नहीं है। इच्छाओं को, ममत्व को, आसक्तियों को छोड़ना त्याग है। आपको अपने सेवाकार्य से निवृत्त होना जरूरी नहीं है, केवल स्वयं को ईश्वर को सौंप दीजिये, जो

वस्तुत: सबके बोझ को वहन करता है। जो मनुष्य ईच्छाओं का त्याग करता है, वह जगत् में विलीन होकर अपने प्रेम को पूरे विश्व में फैलाता है। त्याग के बदले प्रेम एवं करुणा का विस्तार एक सच्चे भगवद्भक्त के लिये अधिक अच्छी बात है, क्योंकि जो निकट के बंधनों को काट देता है, वह वस्तुत: अपने प्रेम का विस्तार सीमा, वर्ग, संप्रदाय तथा जाति की मर्यादाओं को लांघकर संपूर्ण जगत् में करता है। जब संन्यासी अपने वस्त्रों का तथा घर का त्याग करता है, तो वह ऐसा अपने निकट संबंधियों के प्रति नफरत के कारण नहीं करता, बल्कि अपने प्रेम का चारों ओर दिखनेवाले सबके प्रति विस्तार करने के हेतु से करता है। जब प्रेमविस्तार की घटना घटती है, तब मनुष्य घर से भाग रहा हो, ऐसा अनुभव नहीं करता, बल्कि पक्व फल जैसे वृक्ष से अनायास अलग हो जाता है, उस प्रकार घर से अलग हो जाता है। तब तक अपने घर को या कार्य को छोड़ना मूर्खता है। [१]

प्र: *मोक्ष की योजना में गृहस्थी की यात्रा का क्या अंजाम होता है? क्या उसे मोक्ष प्राप्त करने के लिये भिक्षु बनना आवश्यक नहीं है?*

उ: आप गृहस्थ हैं, ऐसा क्यों सोचते है? यदि आप संन्यास लेकर भिक्षु बनकर चल भी दें, तो इसी प्रकार आप एक संन्यासी हैं, ऐसे विचार आपका पीछा नहीं छोड़ेंगे। आप घर में रहें या उसे छोड़कर वन में चले जायँ, आपका मन आपका पीछा नहीं छोड़ता। अहंकार विचारों का मूल है; वह शरीर तथा जगत् की रचना करता है और आपको आप गृहस्थ हैं ऐसा सोचने के लिये विवश करता है। यदि आप त्याग करेंगे, तो वह गृहस्थ के स्थान में संन्यास का विचार रख देगा और घर के वातावरण के बदले जंगल का वातावरण खड़ा कर देगा। इस प्रकार मन के उत्पन्न किये विघ्न हमेशा आपके साथ रहेंगे। नये वातावरण में वे शायद बढ़ भी सकते हैं। वातावरण को बदलने से कोई लाभ नहीं। मन ही एक विघ्न है, और घर में रहकर या वन में रहकर, इसका निग्रह आपको अवश्य करना होगा। यदि आप यह काम वन में रहकर कर सकते है, तो घर में रहकर क्यों नहीं कर सकते? इसलिये वातावरण क्यों बदलना? आप अपने प्रयत्न अभी प्रारंभ कर सकते हैं, वातावरण कैसा भी हो।

प्र: *लौकिक कार्यों में व्यस्त रहकर भी क्या कोई समाधिसुख प्राप्त कर सकता है?*

उ: "मैं करता हूँ" यह भाव अवरोध है। अपने आप से पूछिये: "कौन काम करता है?" तब कर्म बंधन नहीं करेगा, वह अपने आप होने लगेगा। काम करने या न करने का प्रयत्न मत कीजिये; आपका प्रयत्न बंधन है। जो अवश्यंभावी है, वह होकर रहेगा। यदि आपकी नियति काम न करने की है, तो आपके प्रयत्न करने पर भी आपसे काम नहीं होगा। यदि आप कार्य करें ऐसी नियति है, तो आप काम से बच नहीं सकते, विवश होकर आपको काम करना पड़ेगा। इसलिये इसे उच्चतर शक्ति पर छोड़िये। आप अपनी इच्छा से त्याग या ग्रहण नहीं कर सकते।

प्र: *कल भगवान् ने कहा था कि भक्त "आन्तरिक रूप से" ईश्वर की तलाश में लगा रहे, तो "बाह्यकर्म" अपने आप होता रहेगा। श्री चैतन्य के विषय में ऐसा कहा जाता है कि जब वे छात्रों को पढ़ाते थे, वे वस्तुत: भीतर कृष्ण को ढूँढ रहे थे और अपने शरीरभान को भूलकर कृष्ण के बारे में बोलने लगते थे। इस कारण यह संदेह होता है कि काम को अपने आप पर छोड़ा जा सकता है या नहीं। क्या साधक को अपने लक्ष का एक भाग काम के लिये बचाकर रखना चाहिये?*

उ: आत्मा सब कुछ है। क्या आप आत्मा से अलग हैं। अथवा क्या काम आत्मा के बिना हो सकता है? आत्मा विश्वात्मा है, अत: सब काम आपके उनमें जुड़ने या न जुड़ने के प्रयत्न के बिना भी अपने आप होते रहेंगे। इसलिये कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि उसे कौरवों को मारने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे ईश्वर के द्वारा पहले ही मारे जा चुके थे। कर्म का निश्चय करना या उसके बारे में चिंता करना अर्जुन का काम नहीं था, बल्कि अपनी प्रकृति के द्वारा उच्चतर शक्ति की इच्छा को पूर्ण होने देना ही उसका कर्त्तव्य था।

प्र: *लेकिन मैं सावधानी न बरतुं तो काम बिगड़ सकता है।*

उ: आत्मा के प्रति लक्ष रखने का अर्थ काम के प्रति लक्ष रखना है। चूँकि आप अपने आत्मा को शरीर से एकरूप मानते हैं, आप ऐसा सोचते हैं कि आप काम करते हैं। लेकिन शरीर एवं उसकी चेष्टाएँ, जिनमें सारे कर्म भी शामिल हैं, आत्मा से अलग नहीं हैं। काम में आप लक्ष रक्खें या न रक्खें उससे क्या फर्क पड़ता है? जब आप एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिये चलते हैं, तब आप अपने प्रत्येक कदम पर लक्ष नहीं देते, तो भी अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाते हैं या नहीं? आप यह अनुभव करते हैं कि चलने का काम आपके लक्ष के बिना भी चलता रहता है। इसी प्रकार अन्य कार्य भी हो सकते हैं। [२]

प्र: *यदि मनुष्य आत्मा की स्मृति बनाये रक्खे, तो क्या उसके कार्य हमेशा सही होंगे?*

उ: उनको होना ही चाहिये। लेकिन ऐसा मनुष्य अपने कर्मों के अच्छे-बुरेपन की चिन्ता नहीं करता। उसके कर्म ईश्वर के हैं, और इसलिये अच्छे ही हैं।

प्र: *यदि मुझे मेरे मन का उपयोग अन्य लोगों से अधिक मात्रा में करना पड़े, तो वह शान्त कैसे रह सकता है? मैं मेरे मुख्य शिक्षक के कार्य को छोड़कर एकान्त में चला जाना चाहता हूँ।*

उ: नहीं। आप जहाँ हैं वहीं रह सकते हैं और अपना कार्य जारी रख सकते हैं। वह आन्तर प्रवाह क्या है जो मन को चेतना एवं कार्य करने की शक्ति देता है? वह आत्मा है। तो आपके कार्यों का सच्चा मूल वही है। काम के समय उसके बारे में सभान रहिये एवं उसका विस्मरण मत होने दीजिये। कार्य करते समय भी अपने मन की पृष्ठभूमि में आत्मा का ध्यान जारी रखिये। ऐसा करने के लिये जल्दबाजी मत कीजिये, अपना समय लीजिये।

काम करते वक्त भी अपने वास्तविक स्वरूप की स्मृति बनाये रखिये और विस्मरण करानेवाली जल्दबाजी टालिये। हमेशा सजग-सतर्क रहिये। मन को शान्त बनाने के लिये ध्यान कीजिये, एवं उसके आश्रयभूत आत्मा के साथ उसके संबंध के बारे में उसे सतत सावधान रखिये। ऐसी कल्पना मत कीजिये कि आप काम कर रहे हैं।

समझिये कि जो बुनियादी आन्तर प्रवाह है, वह कार्य करता है। उस प्रवाह से अपना तादात्म्य स्थापित कीजिये। यदि आप धैर्य से, सजगता से कार्य करेंगे, तो वह कार्य या सेवा आपके मार्ग में अवरोध नहीं बनेंगे। [३]

प्रः *साधना की प्रारंभिक भूमिका में मनुष्य के लिये बाह्यकर्मत्याग एवं एकान्तसेवन सहायरूप नहीं बनेंगे?*

उः त्याग हमेशा मन से होता है, अपने कर्त्तव्यों को छोड़ने से, वन में या एकान्त में जाने से त्याग सिद्ध नहीं होता। मुख्य बात यह देखना है कि मन बाहर की ओर नहीं, भीतर की ओर मुड़े। यह मनुष्य के हाथ की बात नहीं है कि वह यहाँ या वहाँ जाय, अथवा वह अपने कर्त्तव्यों का त्याग करे या न करे। ये सब घटनाएँ नियति के नियमानुसार घटती हैं। शरीरजन्म के समय, वह कौन-से कर्म करेगा, इस बात का निर्णय हो जाता है। उनका स्वीकार या त्याग आपके हाथ में नहीं है। जो एकमात्र स्वतंत्रता आपको प्राप्त है, वह यह कि आप मन को अंदर की ओर मोड़ें एवं वहाँ कर्मत्याग करें।

प्रः *लेकिन क्या, विशेषतया नये साधक के लिये ये बातें उसकी थोड़ी सहायता करें यह संभव नहीं, जैसे छोटे वृक्ष की रक्षा के लिये बाड़ की जाती है? क्या हमारे धर्मग्रंथ नहीं कहते कि पवित्र स्थानों की यात्रा और सत्संग से सहायता मिलती है।*

उः किसने कहा कि इनसे सहायता नहीं मिलती? केवल ऐसी बातें आपके हाथ में नहीं हैं, जब कि मन को अन्तर्मुख करना आपके हाथ में है। बहुत से लोग यात्रा या सत्संग करना चाहते हैं, जिसके बारे में आप बात कर रहे हैं, लेकिन क्या सब ऐसा कर सकते हैं?

प्रः *ऐसा क्यों है कि सिर्फ अन्तर्मुख बनने में ही हम स्वतंत्र हैं, और किसी बात के लिये नहीं?*

उः यदि आप प्रश्न के मूल तक जाना चाहते हैं, तो आपको आप कौन हैं, इसकी तलाश अवश्य करनी चाहिये और यह ढूँढ निकालना चाहिये कि नियति का बंधन और स्वतंत्रता किसके लिये हैं, आप कौन हैं एवं आपको मर्यादाओंवाला शरीर क्यों दिया गया है। [४]

प्रः *विचार के लिये एकान्त आवश्यक है?*

उः एकान्त सर्वत्र है। मनुष्य हमेशा अकेला होता है। उसका कर्त्तव्य एकान्त को अपने भीतर ढूँढना है, बाहर नहीं। [५]

एकान्त मनुष्य के मन में है। वह जगत् के व्यवहार में लगा रहकर भी मन की प्रशान्त स्थिति बनाये रख सकता है; ऐसा मनुष्य हमेशा एकान्त में है। दूसरा मनुष्य वन में रह

करके भी अपने मन को यदि संयम में नहीं रख सकता, तो वह एकान्त में रहता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। एकान्त मन का कार्य है। इच्छाओं के साथ आसक्तिवाला मनुष्य जहाँ कहीं भी रहे, एकान्त नहीं पा सकता, जबकि अनासक्त मनुष्य सदा एकान्त में है।

प्रः *तो मनुष्य काम में लगा रह कर भी इच्छाओं से मुक्त रह सकता है, एवं एकान्त बनाये रख सकता है। क्या यह ठीक है?*

उः हाँ, आसक्ति से किया गया कर्म बंधन है, और अनासक्त भाव से किया गया कर्म कर्ता पर कोई प्रभाव नहीं डालता। जो इस प्रकार कर्म करता है, वह काम करते हुए भी एकान्त में है। (६)

प्रः *हमारा दैनंदिन जीवन इस प्रकार के प्रयत्न के लिये अनुकूल नहीं है।*

उः आप क्यों सोचते हैं कि आप सक्रिय हैं? आपके यहाँ आने का ठोस उदाहरण लीजिये। घर छोड़कर आप बैलगाड़ी में बैठे, ट्रेन में बैठे और यहाँ रेल्वे स्टेशन पर उतरकर पुनः बैलगाड़ी में बैठे और इस आश्रम में आ गये। पूछने पर आप उत्तर देते हैं कि आपने नगर से यहाँ तक यात्रा की। क्या यह सच है? क्या यह तथ्य नहीं कि आप जैसे थे वैसे ही रहे और पूरे मार्ग पर वाहनों की गति हुई? जैसे यानों की गति का भ्रम से आप अपने आप पर आरोप करते हैं, यही स्थिति अन्य कार्यों की भी है। सब कार्य आपके अपने नहीं, बल्कि ईश्वर के हैं। (७)

प्रः *निरंतर सक्रिय रहना जिसमें आवश्यक हो, ऐसे गृहस्थ के कर्त्तव्यों के बीच निवृत्ति और मानसिक शान्ति कैसे प्राप्त की जा सकती हैं?*

उः चूँकि ज्ञानी की प्रवृत्ति अपनी दृष्टि में नहीं, केवल दूसरे की दृष्टि में होती है, वह चाहे कितने ही बड़े कार्यों में व्यस्त हो, वस्तुतः कुछ नहीं करता। इसलिये उसके कर्म निवृत्ति की निष्क्रियता एवं मन की शान्ति में मार्ग में अवरोध रूप नहीं बनते, क्योंकि वह इस सत्य को अच्छी तरह जानता है कि सारी क्रियाएँ केवल उसके सान्निध्य में होती रहती हैं, और स्वयं वह कुछ भी नहीं करता। इस कारण वह होनेवाली सब क्रियाओं का मौन साक्षी बनकर रहता है। (८)

प्रः *क्या पश्चिम के लोगों के लिये अन्तर्मुख होना अधिक मुश्किल है?*

उः हाँ, वे राजसिक – मन से आवश्यकता से अधिक सक्रिय – हैं, अतः उनकी शक्ति बाहर की ओर प्रवाहित होती है। हमें आन्तरिक रूप से मौन रहकर, आत्मा को भुलाये बिना, बाह्य क्रियाओं में प्रवृत्त होना चाहिये। क्या एक अभिनेता जो रंगमंच पर स्त्री का पाठ करता है, यह भूल जाता है कि वह पुरुष है? इसी प्रकार हमें भी जीवन के नाटक में अपने अपने पाठ का अभिनय करते समय इन पाठों से एकरूप नहीं हो जाना चाहिये।

प्रः *मनुष्य दूसरों के आध्यात्मिक प्रमाद को कैसे दूर कर सकता है?*

उः आपने अपने आध्यात्मिक प्रमाद को दूर किया है? आप अपनी तलाश को भीतर आत्मा की ओर मोड़िये। आपके भीतर क्रियाशील हुई शक्ति दूसरों में भी कार्य करेगी। (९)

प्रः *लेकिन मैं दूसरे को उसकी परेशानी और प्रश्नों में सहायता कैसे कर सकता हूँ?*

उः यह दूसरे की बात कहाँ से आई? सिर्फ वह एक ही है। मैं, तुम, वह इत्यादि नहीं हैं, केवल एक आत्मा है जो सर्वरूप है, ऐसा अनुभव करने का यत्न कीजिये। यदि आप दूसरे के प्रश्न में विश्वास करते हैं, तो आत्मा से बाहर किसी वस्तु में विश्वास करते हैं। बाह्य कर्म के बजाय आप सबकी एकता का अनुभव करके उसकी सर्वोत्तम सहायता कर सकते हैं। [१०]

प्रः *क्या आप ब्रह्मचर्य का समर्थन करते हैं?*

उः जो ब्रह्म में निवास – विचरण – करता है, वह सच्चा ब्रह्मचारी है। तब इच्छाओं का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

प्रः *श्री अरविन्द के आश्रम में यह कठोर नियम है कि विवाहित दंपती साथ रह सकते हैं, लेकिन जातीय संभोग नहीं कर सकते।*

उः उसका क्या अर्थ है? यदि मन में उस इच्छा का अस्तित्व हो, तो लोगों को जबरदस्ती उससे दूर रहने के लिये कहने से क्या लाभ है?

प्रः *आध्यात्मिक विकास के मार्ग में विवाह अवरोधरूप है?*

उः गृहस्थजीवन अवरोधरूप नहीं है, लेकिन गृहस्थ को आत्मसंयम का अभ्यास हर संभव उपाय से अवश्य करना चाहिये। यदि मनुष्य को उच्चतर पवित्र जीवन की तीव्र इच्छा हो, तो जातीय उत्तेजना शान्त हो जायगी। मनोनाश होने के साथ सब इच्छाओं का भी नाश हो जाता है। [११]

प्रः *मैंने ब्रह्मचर्यभंग का पाप किया है।*

उः यदि आपने किया हो, तो भी बाद में उसके बारे में न सोचें तो कोई हानि नहीं है। आत्मा किसी भी पाप के बारे में सभान नहीं है, और जातीय उत्तेजना का त्याग आन्तरिक है, अकेले शरीर से नहीं।

प्रः *मैं अपने पड़ोस में रहनेवाली एक जवान लड़की के स्तनों को देखकर आत्मसंयम खो बैठता हूँ, तथा अक्सर उसके साथ व्यभिचार करने की लालच होती है। मैं क्या करूँ?*

उः आप नित्यशुद्ध हैं। आपकी इन्द्रियाँ और शरीर आपको ललचाते हैं, जिन्हें आप अपना सच्चा आत्मा समझने की गलती करते हैं। इसलिये सबसे पहले यह जानने का यत्न कीजिये कि लालच किसे होती है, और ललचानेवाला कौन है। लेकिन फिर भी यदि आप व्यभिचार करें तो बाद में उसके बारे में विचार न करें, क्योंकि आप नित्यशुद्ध हैं, पापी नहीं। अशुद्धि, पाप, लालच एवं निर्बलता आपके विचारों तथा आदतों में है, स्वयं आपमें नहीं; स्वभाव से तो आप निष्पाप, शुद्ध एवं बलवान् हैं। [१२]

प्रः *हम जातीय विचार का उन्मूलन कैसे कर सकते हैं?*

उः शरीर को आत्मा मानने के गलत विचार का उन्मूलन करके। आत्मा में कोई जाति–लिंग नहीं है। आत्मा बने रहिये, तो जातीय उत्तेजना की परेशानी आपको नहीं होगी।

प्र: *क्या अनशन जातीय उत्तेजना मिटा सकता है?*

उ: हाँ, लेकिन यह अस्थायी है। मानसिक अनशन सच्ची सहायता है। अनशन स्वयं ध्येय नहीं है, साथ साथ आध्यात्मिक विकास भी होना चाहिये। पूर्ण अनशन मन को बहुत दुर्बल बना देता है। अनशन के दौरान आत्मा की तलाश भी जारी रहनी चाहिये, यदि उसे आध्यात्मिक दृष्टि से लाभदायी बनाना हो। [१३]

प्र: *कोई अनशन से आध्यात्मिक विकास कर सकता है?*

उ: अनशन मुख्यतया मानसिक (निर्विचार स्थिति) होना चाहिये। सिर्फ अन्न न खाने से कोई लाभ नहीं है; संभवत: मन क्षुब्ध होगा। आहारनियमन से आध्यात्मिक विकास किया जा सकता है। एक महिने तक अनशन के साथ निरंतर आध्यात्मिक तलाश जारी रक्खी जाय, और ठीक ढंग से भोजन लेना शुरू किया जाय, तथा विवेकपूर्वक आहार लेना जारी रक्खा जाय, तो अनशनव्रत छोड़ने के दस दिन पश्चात् मन स्थिर तथा शुद्ध होगा एवं हमेशा ऐसा ही रहेगा। [१४]

यहाँ आकर प्रारंभिक समय के दौरान मैं आँखें बंद रखता था, और इतने गहरे ध्यान में निमग्न रहता था कि दिन है या रात इसका भी मुझे विशेष ख्याल नहीं रहता था। मैं बिल्कुल भोजन और नींद नहीं लेता था। यदि शरीर गतिशील रहता है तो आपको भोजन की आवश्यकता होती है। यदि आप भोजन लेते हैं, तो आपको नींद की भी जरूरत होती है। यदि गतिशीलता न हो तो नींद की आवश्यकता नहीं होती। जीवन बनाये रखने के लिये बहुत कम आहार पर्याप्त होता है। उन दिनों मेरा ऐसा अनुभव हुआ करता था। जब मैं आँखें खोलता था तो कोई न कोई मुझे कटोराभर प्रवाही आहार देता था। केवल उतना ही मेरा आहार था। लेकिन एक बात याद रखिये : जब मनुष्य उस अवस्था में नहीं होता जिसमें चित्त बिल्कुल निष्पन्द होता है, तब पूर्णरूप से आहार तथा निद्रा का त्याग संभव नहीं है। जब शरीर-मन जीवन की साधारण प्रवृत्ति में जुड़े होते हैं, तब अन्न एवं निद्रा का त्याग करने से शरीर इतना अस्वस्थ हो जाता है कि खड़ा भी नहीं रह सकता।

साधक को कितने आहार एवं निद्रा की आवश्यकता होती है, इस विषय में कई मत हैं। कुछ लोग कहते हैं कि रात के दस बजे से दो बजे तक सोना पर्याप्त है, अर्थात् चार घंटे की नींद पर्याप्त है। कुछ लोग चार नहीं, छह घंटे की नींद पर्याप्त मानते हैं। इसका अर्थ है : आहार तथा निद्रा का अतिरेक नहीं होना चाहिये। यदि आप इन दो में से किसी एक को पूर्णतया छोड़ना चाहते हैं, तो आपका मन निरंतर उसके प्रति उन्मुख रहेगा। इसलिये साधक को सब बातों में मध्यम मार्ग स्वीकार करना चाहिये। [१५]

दिन में तीन-चार बार भोजन करने में कोई नुकसान नहीं। लेकिन मुझे किसी विशेष प्रकार का ही भोजन मिलना चाहिये, इत्यादि आग्रह मत कीजिये। दूसरी बात यह ध्यान में रखने योग्य है कि केवल निष्क्रियता मुक्ति के प्रति नहीं ले जाती, क्योंकि जाग्रत अवस्था

के दौरान आप भोजन करते हैं, नींद के दौरान नहीं, तो क्या नींद आपको मुक्ति के प्रति ले जाती है? (१६)

प्र: *आहार के विषय में कौन-सी बात ध्यान में रखने योग्य है?*

उ: आहार मन को प्रभावित करता है, अत: किसी भी प्रकार के आध्यात्मिक अभ्यास के लिये शाकाहार अनिवार्यरूप से जरूरी है, क्योंकि उससे मन सात्विक – शुद्ध, संतुलित – बनता है।

प्र: *क्या मांसाहार करनेवाला मनुष्य आध्यात्मिक प्रकाश पा सकता है?*

उ: हाँ, लेकिन क्रमश: उसे छोड़कर सात्विक आहार की आदत डालनी चाहिये। एक बार आपने प्रकाश प्राप्त कर लिया, तब आहार से विशेष फर्क नहीं पड़ेगा, जैसे प्रबल अग्नि में कौनसा ईंधन डाला जाता है, इसका महत्व नहीं होता। (१७)

प्र: *हम युरोप के लोगों को विशेष प्रकार के आहार की आदत पड़ गई है। और उसमें परिवर्तन करने से हमारे स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है, तथा मन दुर्बल होता है। साधक को शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रखना जरूरी नहीं है?*

उ: बिल्कुल आवश्यक है। शरीर दुर्बल होने के साथ मन प्रबल बनता है।

प्र: *हमारे साधारण आहार के बिना हमारा स्वास्थ्य बिगड़ता है, और मन की शक्ति क्षीण होती है।*

उ: मन की शक्ति से आपका क्या मतलब है?

प्र: *सांसारिक असक्तियों को छोड़ने की शक्ति।*

उ: आहार के गुण मन को प्रभावित करते हैं। खाये गये अन्न से मन बनता है और पोषण प्राप्त करता है।

प्र: *क्या यह सच है? तो युरोपियन लोग केवल सात्विक आहार के साथ अपना अनुकूलन कैसे कर सकते हैं?*

उ: आदत परिस्थिति के साथ किया गया अनुकूलन है। मन सबसे मुख्य बात है। सच यह है कि कुछ आहार स्वादिष्ट एवं अच्छे हैं, ऐसा मानने की मन को शिक्षा दी गई है। शाकाहार तथा मांसाहार दोनों में शरीर के लिये आवश्यक पोषकतत्व समानरूप से मौजूद हैं। लेकिन मन ऐसे आहार की इच्छा रखता है, जिसे सुस्वादु मानने की उसे आदत हो गई है।

प्र: *सिद्ध पुरुष के लिये आहार संबंधित नियंत्रण आवश्यक है क्या?*

उ: नहीं, वह स्थिर बन गया है और आहार से अप्रभावित रहता है।

प्र: *मांसाहार के लिये पशुहिंसा पाप नहीं है?*

उ: योगियों की आचारसंहिता में अहिंसा सर्वोपरि है।

प्र: *वनस्पति में भी जीवन है।*

उ: आप बैठे हैं उस शिला में भी जीवन है।

प्र: *क्या हमें धीरे धीरे शाकाहार की आदत डालनी चाहिये?*

उ: हाँ, वही सच्चा मार्ग है। [१८]

प्र: *क्या धूम्रपान जारी रखना अच्छा है?*

उ: नहीं, क्योंकि तम्बाकू जहर है। धूम्रपान न करना अच्छा है। आपने धूम्रपान छोड़कर अच्छा ही किया। तम्बाकू मनुष्य को पराधीन बनाती है, तब वह उसे छोड़ नहीं सकता। वह थोड़े समय के लिये उत्तेजना उत्पन्न करती है, जिसकी प्रतिक्रिया अवश्य होती है, जो और अधिक उपयोग की तीव्र इच्छा पैदा करती है। यह ध्यानाभ्यास के लिये अच्छा नहीं है।

प्र: *मांस तथा मद्य के त्याग की आप सलाह देते हैं?*

उ: उनको छोड़ना इच्छनीय है, क्योंकि नये साधकों को इस त्याग से अच्छी और जरूरी सहायता मिलती है। सामाजिक रस्म एवं आदत के कारण उनका त्याग मुश्किल लगता है, इसलिये नहीं कि वे वस्तुत: आवश्यक हैं।

प्र: *साधारणतया आचार के किन नियमों का साधक को पालन करना चाहिये?*

उ: आहार, निद्रा तथा वाणी में मध्यम मार्ग का अनुसरण।

योग

विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा आत्मा के साथ संयोग – एकता – सिद्ध करना योग का अभ्यास करने वाले साधकों का लक्ष्य है, (योग संयोगवाचक संस्कृत शब्द है)। करीब दो हजार साल पहले लिखे गये पतञ्जलि के योगसूत्रों में इनमें से अधिकतर प्रक्रियाओं का मूल ढूँढा जा सकता है। इसे राजयोग कहा जाता है तथा इसमें योगाभ्यास के आठ अंगों का – स्तरों का – विवरण है :-

१. यम : इसमें दूसरों के साथ जीवन व्यवहार करते समय हिंसा, असत्य, चोरी, इन्द्रियलोलुपता, तथा लोभ का वर्जन निहित है।

२. नियम : निजव्यवहार में पवित्रता, शान्ति, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरभक्ति का समावेश है।

३. आसन : अंगों को खींचना, झुकाना, संतुलन में रखना तथा स्थिरतापूर्वक बैठना इसमें सम्मिलित हैं। आजकल सामूहिकरूप से इसे हठयोग कहा जाता है।

४. प्राणायाम : श्वास का व्यायाम, जिसका लक्ष्य मन का संयम है।

५. प्रत्याहार : शरीर एवं इन्द्रियों से लक्ष की निवृत्ति।

६. धारणा : चित्त की एकाग्रता।

७. ध्यान : आत्मा में चित्त का लय।

८. समाधि : सत्यविषयक निरंतर अंतर्दृष्टि।

दूसरी आध्यात्मिक पद्धतियों में योग के कुछ अंग पाये जाते हैं। हठयोग और प्राणायाम इनमें अपवाद रूप हैं, क्योंकि ये दो राजयोग के विशिष्ट लक्षण हैं। जब मुलाकाती श्री रमण से इनके अभ्यास के बारे में पूछते, तो वे साधारणतया हठयोग की – उसके शरीर से अविवेकी लगाव के कारण – आलोचना करते। उनके उपदेशों का मूलाधार यह था कि आध्यात्मिक प्रश्नों का समाधान मनोनिग्रह से ही हो सकता है, इसलिये वे उन आध्यात्मिक अनुशासनों के अभ्यास का कभी भी समर्थन नहीं करते थे जिनका प्राथमिक – मुख्य – लक्ष्य शरीर की स्वस्थता था। प्राणायाम के बारे में उनका ऊँचा अभिप्राय था। वे कहते कि जो लोग दूसरे

किसी भी तरीके से मनोनिग्रह नहीं कर सकते, उनके लिये वह बड़ा उपादेय साधन है। समग्र दृष्टि से देखा जाय, तो वे इसे नये साधक के लिये ही जरूरी अभ्यास मानते थे। राजयोग के नैतिकता, ध्यान, समाधि जैसे दूसरे अंगों के विषय में उनके विचारों का संग्रह अलग प्रकरणों में किया गया है।

राजयोग के अलावा कुंडलिनीयोग भी एक प्रसिद्ध योगपद्धति है। इसके अभ्यासी शरीर में रहे हुए विभिन्न चेतसिक चक्रों पर एकाग्रता करते हैं, जिससे कुंडलिनी नाम की आध्यात्मिक शक्ति का उत्थान होता है। इस अभ्यास का लक्ष्य कुंडलिनी शक्ति को मूलाधार से सहस्रार तक फैली हुई सुषुम्णा नाडी के मार्ग से बलपूर्वक ऊपर उठाना है। कुंडलिनी योगी मानते हैं कि जब यह शक्ति मूर्धा में स्थित सहस्रारचक्र में पहुँचती है, तब आत्मसाक्षात्कार होता है।

श्री रमण अपने भक्तों को कुंडलिनी योग का अभ्यास करने की अनुमति कभी भी नहीं देते थे, क्योंकि उनके मत में यह खतरनाक तथा अनावश्यक है। वे कुंडलिनीशक्ति एवं चेतसिक चक्रों के अस्तित्व का स्वीकार करते थे, लेकिन साथ साथ कहते थे कि यदि कुंडलिनी सहस्रार में पहुँच जाय, तब भी आत्मानुभव नहीं होगा। अंतिम साक्षात्कार के लिये कुंडलिनी को सहस्रार से भी आगे नीचे की ओर जानेवाली सुषुम्णा के अग्रिमभागरूप परानाडी, जीवनाडी ऐसे दूसरे नामोंवाली अमृतानाडी के द्वारा छाती के दक्षिण भाग में स्थित हृदयकेन्द्र में अवश्य पहुँचाना चाहिये। वे हमेशा कहा करते थे कि आत्मानुसंधान अपने आप कुंडलिनी को हृदयकेन्द्र में पहुँचाता है, इसलिये दूसरे किसी भी प्रकार के योगाभ्यास की आवश्यकता नहीं है।

अहंकार के मूल की तलाश करने से तथा हृदय की गहराई में निमग्न होने से आत्मा तक पहुँचा जाता है। यह आत्मसाक्षात्कार की सीधी पद्धति है। जो साधक इस पर चलता है, उसे सहस्रार, सुषुम्णा, परा नाडी, कुंडलिनी, प्राणायाम या छह चक्रों की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। [१]

ऊपर जिनकी रूपरेखा दी गई है उन अभ्यास-पद्धतियों के अलावा हिन्दू धर्म में कर्मयोग (कर्म द्वारा योग) को भी प्रामाणिक योगमार्ग के रूप में मान्यता दी गई है। इस मार्ग के अनुयायियों का लक्ष्य निःस्वार्थभाव से दूसरों की सेवा-सहायता करके आध्यात्मिक विकास करना है। यद्यपि भगवद्गीता में इसे बहुत महत्व दिया गया है, श्री रमण अपने भक्तों को इसके अनुसरण के लिये प्रोत्साहित नहीं करते थे, क्योंकि इसमें अच्छे कर्म करने वाले "मैं" तथा सहायता की अपेक्षा रखनेवाले "दूसरे लोगों" की पूर्वधारणा गृहीत है। यदि उन्हें लगता कि कुछ साधक ज्ञान, भक्ति अथवा राजयोग के मार्ग पर चलने में असमर्थ हैं, तभी उनको इस पर चलने की अनुमति देते थे।

"यदि कोई साधक स्वभाव से ज्ञान अथवा भक्ति के मार्ग पर चलने के योग्य नहीं है, और वृद्धत्व के कारण योगमार्ग पर चलने में अक्षम है, तो उसे अवश्य कर्मयोग का अनुसरण करना चाहिये। इससे उसकी उदात्त भावनाएँ प्रकट होती हैं, और अपने व्यक्तित्व से पर होने में आनंद आता है। समय आने पर वह उक्त तीन में से किसी एक मार्ग पर चलने की योग्यता प्राप्त करता है"। (२)

श्री रमण भारपूर्वक कहते थे कि कर्ममार्ग से सफलता पाने के लिये साधक को वह दूसरों की सहायता कर रहा है, ऐसे विचार से मुक्त रहना चाहिये तथा अपने कर्मों के परिणामों के प्रति अनासक्त रहना चाहिये। यद्यपि वे कर्ममार्ग को कम महत्व देते थे, फिर भी प्रायः कहते कि "मैं कर्ता हूँ" ऐसा विचार न हो तो उक्त दो शर्तों का पालन सरलता से हो सकेगा।

प्रः *योग का अर्थ संयोग है। मेरी समझ में नहीं आता कि किसका किसके साथ संयोग?*

उः बिल्कुल ठीक। योग पहले विभाजन और बाद में एक का दूसरे से संयोग सूचित करता है। लेकिन किसका किसके साथ संयोग करना है? आप साधक हैं, और किसी के साथ संयोग करना चाहते हैं। यदि आप इस स्थिति को मान्यता देते हैं, तो वह "कुछ" अवश्य आपसे अलग होना चाहिये। लेकिन आत्मा आपके निकट है, और आप हमेशा उसके विषय में सभान हैं; उसे ढूँढिये और उससे तन्मय हो जाइये, तो वह अनंत है ऐसा अनुभव होगा तथा योग का सवाल नहीं रहेगा। वियोग किसे हुआ है? (३)

प्रः *मैं नहीं जानता। क्या वस्तुतः वियोग हुआ है?*

उः यह ढूँढना चाहिये कि वियोग किसे हुआ है, बस यही योग है। योग सब पद्धतियों में निहित है। आप आत्मा से अर्थात् सत्य से भिन्न हैं, ऐसे विचार से मुक्त होना योग है। कर्म, ज्ञान, भक्ति तथा राजयोग विभिन्न स्वभाव के तथा विकास के विभिन्न स्तरों पर रहे हुए लोगों के लिये अनुकूल होने के कारण बताये जाते हैं। उन सबका ध्येय लोगों को वे आत्मा से भिन्न हैं, ऐसी दीर्घकालीन, दृढ़ मान्यता से मुक्त करना है। कहीं जाकर, कहीं रहे हुए, हमसे भिन्न किसी से संयोग करने के अर्थ में योग अथवा ऐक्य का सवाल ही नहीं है, क्योंकि आप कभी भी आत्मा से भिन्न नहीं थे, नहीं हो सकते। (४)

प्रः *योग और आत्मानुसंधान में क्या भेद है?*

उः योग चित्तवृत्तिनिरोध का उपदेश करता है, (५) जब कि मैं आत्मान्वेषण के लिये कहता हूँ। यह दूसरी पद्धति अधिक व्यवहार्य है। निद्रा में, मूर्च्छा में एवं अनशन के प्रभाव से चित्त स्वतः निरूद्ध हो जाता है, लेकिन निरोध का कारण निवृत्त होते ही चित्त पुनः

जीवित होता है और विचार पहले की तरह प्रवाहित होने लगते हैं। वस्तुत: मनोनिग्रह के दो ही मार्ग हैं : मन के मूल की तलाश कीजिये अथवा उसे नष्ट करने के लिये सर्वोच्च शक्ति के समक्ष उसे समर्पित कर दीजिये। शरणागति का अर्थ है उच्चतर नियमन करने वाली शक्ति को ठीक से पहचानना। यदि मन अपने मूल की तलाश में सहयोग नहीं देता, तो उसे जाने दीजिये, तथा उसके वापस आने की राह देखिये और तब उसे भीतर की ओर मोड़िये। कोई भी धैर्य से दीर्घकाल तक अभ्यास किये बिना सफल नहीं होता। [६]

प्र: *प्राण का नियमन आवश्यक है?*

उ: प्राणायाम अपने भीतर की गहराई में जाने में सहायता करता है। मन के नियंत्रण के द्वारा यह काम किया जा सकता है। मनोनिग्रह होने पर प्राण का संयम अपने आप हो जाता है। ऐसे साधक को प्राणायाम करने की आवश्यकता नहीं है, मन का संयम पर्याप्त है। जो लोग सीधे ही अपने मन को वश नहीं कर सकते, उनको प्राणायाम की सलाह दी जाती है। [७]

प्र: *साधक को प्राणायाम कब करना चाहिये, तथा वह क्यों असरकारक है?*

उ: आत्मानुसंधान एवं भक्ति की क्षमता न हो तब साधक को स्वाभाविक रूप से चित्त को शान्त करने वाले प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। इसे योगमार्ग कहा जाता है। जब जीवन खतरे में पड़ जाता है, तो उसे बचाने के लिये एक बिन्दु पर पूरा लक्ष एकाग्र हो जाता है। यदि प्राण को स्थिर किया जाय, तो मन अपने प्रिय बाह्य विषयों की ओर दौड़ नहीं सकता। इस प्रकार प्राण के स्थिर रहने तक मन को विश्रान्ति मिलती है। प्राण के नियमन पर ध्यान केन्द्रित करने से अन्य सारे रस छूट जाते हैं। [८]

प्राण तथा मन का जन्म स्थान एक है, इस कारण, इन दोनों में से किसी एक के संयम से अनायास ही दूसरे का संयम होता है।

प्र: *चक्रों पर एकाग्रता करने से मन शान्त होता है?*

उ: सहस्रार चक्र जैसे चेतसिक केन्द्रों पर मन को स्थिर करके योगी देहभान भूलकर चाहे जितने लंबे समय तक शान्त बने रहते हैं। जब तक ऐसी अवस्था रहती है, तब तक वे एक प्रकार के आनंद में निमग्न रहते हैं, लेकिन समाहित मन व्युत्थित होकर सक्रिय बनता है, तो पुन: विचार-प्रवाह शुरू हो जाता है। इसलिये मन जब भी बहिर्मुख बने, तब ध्यान की सहायता से उसे इस प्रकार शिक्षित करना चाहिये कि वह हमेशा स्थिर रहे। तब मन उस अवस्था को प्राप्त करेगा जिसमें न समाधि है, न व्युत्थान। [९]

प्र: *प्राणायाम से सिद्ध हुआ मनोनिग्रह अस्थायी होता है?*

उ: प्राण स्थिर रहे तब तक ही शान्ति बनी रहती है, अत: वह अस्थायी है। प्राणायाम लक्ष्य नहीं है। उसके पश्चात् प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि की आवश्यकता होती है। ये भूमिकाएँ मनोनिग्रह सिद्ध करती हैं। जिस साधक ने पहले प्राणायाम का अभ्यास किया हो, उसके लिये इस प्रकार से मनोनिग्रह सरल होता है। प्राणायाम साधक को आगे

की प्रत्याहार इत्यादि भूमिकाओं के लिये योग्य बनाता है, ये आगेवाली ऊँची भूमिकाएँ मनोनिग्रह सिद्ध करने के लिये हैं, अतः हम कह सकते हैं कि योग का अंतिम लक्ष्य मनोनिग्रह है। लेकिन आगे बढ़ा हुआ साधक स्वाभाविक रूप से प्राणायाम के अभ्यास में अपने समय का दुर्व्यय न करके सीधे ही मनोनिग्रह करेगा। (१०)

प्रः *प्राणायाम की पूरक, कुंभक, रेचक तीन प्रक्रियायें हैं, इनमें प्राण को रोकने इत्यादि के क्या नियम हैं?*

उः शरीर के साथ तादात्म्य का त्याग रेचक है, "मैं कौन हूँ?" की तलाश करने के साथ अंदर लीन होना पूरक है, तथा "मैं वह हूँ" इस प्रकार एक सत्य के रूप में स्थिति करना कुंभक है। यह सच्चा प्राणायाम है। (११)

प्रः *"महायोग" में लिखा है कि ध्यान के प्रारंभ में साधक श्वासोच्छ्वास की गति के निरीक्षण से मन की थोड़ी निश्चलता प्राप्त करके मन के मूल का अन्वेषण करते हुए हृदय में लीन हो सकता है। मुझे इस प्रकार के व्यावहारिक मार्गदर्शन की सख्त आवश्यकता है। मैं इसका अनुसरण कर सकता हूँ? क्या यह सही पद्धति है?*

उः किसी भी पद्धति से मन का नाश करना मुख्य बात है। जिन लोगों में आत्मानुसंधान पद्धति का अनुसरण करने की क्षमता नहीं है, उन्हें मनोनिग्रह के लिये प्राणायाम की सलाह दी जाती है। प्राणायाम दो प्रकार से हो सकता है : प्राण को रोककर उसका नियमन करना अथवा प्राण की गति का सिर्फ निरीक्षण करके उसका नियमन करना। (१२)

प्रः *प्राणायाम में पूरक, कुंभक तथा रेचक के लिये १ः ४ः २ का नाप श्रेष्ठ है?*

उः इस प्रकार के नापों में संख्या से गिनकर नहीं, बल्कि मंत्रोच्चार के साथ प्राणायाम करने से मनोनिग्रह में सहायता मिलती है, बस इतना ही। प्राणगति का निरीक्षण भी एक प्रकार का प्राणायाम है। पूरक, कुंभक, रेचक की पद्धति अधिक उग्र है, और प्रत्येक स्तर पर योग्य गुरु अथवा मार्गदर्शक के अभाव में हानिकारक सिद्ध हो सकती है। लेकिन केवल प्राणगतिनिरीक्षण सरल एवं निर्दोष है। (१३)

प्रः *कुंडलिनी शक्ति का उत्थान योगमार्ग से शक्ति - सिद्धि - प्राप्त करने की इच्छावाले साधकों के लिये ही संभव है या प्रेम-भक्ति के मार्ग पर चलने वाले भक्तों के लिये भी संभव है?*

उः कुंडलिनीशक्ति किसमें नहीं है? जब उसका सच्चा स्वरूप समझ लिया जाता है, तो उसे अखंडाकार वृत्ति अथवा अहंस्फुरण कहते हैं। सभी मार्गों पर चलनेवाले साधकों में कुंडलिनीशक्ति होती है; केवल नामभेद होता है।

प्रः *कहा जाता है कि शक्ति पाँच, दस, सौ और हजार रूपों में प्रकट होती है; इसमें सच क्या है?*

उः शक्ति का केवल एक रूप होता है। यदि वह कई रूपों में प्रकट होती है, ऐसा कहा जाता है, तो यह सिर्फ कहने का ढंग है, वस्तुतः शक्ति एक है।

प्रः *ज्ञानी केवल उसी के मार्ग का अनुसरण करनेवाले साधकों की सहायता कर सकता है अथवा योग जैसे अन्य मार्गों का अनुसरण करनेवालों की भी सहायता कर सकता है?*

उः निस्संदेह वह किसी भी मार्ग पर चलनेवालों की सहायता कर सकता है। यह कुछ इस प्रकार है। मान लीजिये कि एक पर्वत है। उसके शिखर पर पहुँचने के कई मार्ग हो सकते हैं। यदि लोगों को वह स्वयं जिस मार्ग से चढ़ा था, उसी से चढ़ने का आग्रह करे, तो कुछ लोग उसे पसंद करेंगे और कुछ नहीं करेंगे। जो लोग उस मार्ग को पसंद नहीं करते, उनको भी बस उसी मार्ग से चलने का आग्रह किया जाय, तो वे ऊपर नहीं पहुँच पायेंगे। इसलिये ज्ञानी सभी मार्गों पर चलानेवालों की सहायता करता है। जो लोग पर्वत के मध्यभाग तक पहुँचे हैं, वे दूसरे मार्गों के गुणदोष नहीं जान सकते, लेकिन जो शिखर तक पहुँच गया है, और वहाँ बैठकर दूसरे ऊपर आनेवालों को देख रहा है, वह सभी मार्गों को देख सकता है। इसलिये वह ऊपर आनेवालों को कह सकता है कि उन्हें थोड़ा इधर या उधर हटकर चलना चाहिये, इस या उस गड्ढे से बचना चाहिये। सबका लक्ष्य एक है। (१४)

प्रः *साधक प्राणशक्ति को सुषुम्णामार्ग में कैसे ले जा सकता है, जिससे वह "श्री रमणगीता" में कही हुई चिज्जडग्रंथि का भेदन कर सके?*

उः "मैं कौन हूँ?" की तलाश करके। योगी कुंडलिनी का उत्थान करके अवश्य उसे सुषुम्णामार्ग में ले जाना चाहेगा। ज्ञानी का यह लक्ष्य नहीं है। लेकिन दोनों एक परिणाम प्राप्त करते हैं, अर्थात् प्राणशक्ति को सुषुम्णा में ले जाकर चिज्जडग्रंथि का भेदन करते हैं। कुंडलिनी आत्मा अथवा शक्ति का दूसरा नाम है। चूँकि हम स्वयं को शरीर से मर्यादित मानते हैं, हम उसके शरीर में रहने की बात कहते हैं। वस्तुतः वह बाहर-भीतर दोनों जगह है, क्योंकि वह आत्मा या आत्मशक्ति से भिन्न नहीं है।

प्रः *सुषुम्णापथ से कुंडलिनी को ऊपर उठाने के लिये नाडी मंथन कैसे किया जाय?*

उः इसे सिद्ध करने में योगी के लिये प्राणायाम साधन हो सकता है, ज्ञानी की पद्धति सिर्फ आत्मान्वेषण है। जब इस पद्धति से चित्त आत्मा में विलीन होता है, तो आत्मा से अभिन्न शक्ति या कुंडलिनी अपने आप ऊपर उठती है। (१५)

योगी कुंडलिनी को मस्तिष्क में स्थित हजार दलवाले कमल – सहस्रार – में पहुँचाने को सबसे अधिक महत्व देते हैं। वे जीवनशक्ति ब्रह्मरंध्र से शरीर में प्रवेश करती है ऐसे धर्मग्रंथों के उल्लेख का निर्देश करके यह तर्क देते हैं कि जिस मार्ग से वियोग हुआ है उससे उलटे मार्ग से योग होना जरूरी है। वे कहते हैं कि इसी कारण हमें योगाभ्यास से प्राणशक्ति को एकत्र करके योग – ऐक्य – की सिद्धि के लिये ब्रह्मरंध्र में अवश्य प्रवेश करना चाहिये। इसके विपरीत ज्ञानी यह तर्क देते हैं कि योगी शरीर के अस्तित्व को सच्चा मान लेते हैं, तथा उसको आत्मा से भिन्न भी मानते हैं। यदि इस भेद पर आधारित दृष्टिबिन्दु का स्वीकार कर लिया जाय, तभी योगी पुनः संयोग के लिये योगाभ्यास की सलाह दे सकते हैं।

लेकिन सच यह है कि मस्तिष्क में स्थित मन में शरीर विद्यमान है। योगी अपने ब्रह्मरंध्रवाले सिद्धान्त से यह स्वीकार करते हैं कि मस्तिष्क दूसरे स्रोत से प्राप्त किये गये प्रकाश से कार्य करता है। ज्ञानी आगे का तर्क देते हैं कि यदि यह प्रकाश किसी दूसरे स्थान से आया है, तो वह अपने मूल स्रोत से ही आना चाहिये। सीधे मूल स्रोत में पहुँच जाइये, उधार लिये गये प्रकाश पर निर्भर मत रहिये। वह मूलस्रोत हृदय अर्थात् आत्मा है। (१६)

आत्मा किसी दूसरे स्थान से आकर मस्तक में रहे हुए ब्रह्मरंध्र से शरीर में प्रवेश नहीं करता। वह जैसा है वैसा है। वह नित्य प्रकाशमय, नित्य स्थिर, अचल तथा अविकार है। मनुष्य अपने आपको परिवर्तनशील शरीर अथवा मन की मर्यादाओं में बाँध लेता है, जो अपना अस्तित्व शाश्वत आत्मा से प्राप्त करते हैं। जो करना आवश्यक है वह केवल इतना कि इस गलत तादात्म्य का त्याग किया जाय; ऐसा करने पर नित्य प्रकाशमय आत्मा एक, अद्वितीय सत्य के रूप में प्रकट होगा।

यदि कोई सहस्रार पर एकाग्रता करता है, तो निस्संदेह समाधि का आनंद उत्पन्न होता है, लेकिन इससे हृदयस्थित वासनाओं का नाश नहीं होता। इसलिये योगी का समाधि से व्युत्थान अवश्य होगा, क्योंकि बंधन से मुक्ति नहीं हुई है। उसे अपने भीतर छुपी हुई वासनाओं का उन्मूलन आगे के विशेष प्रयत्न से अवश्य करना होगा, जिससे वे उसकी समाधि की शान्ति का भंग न कर सकें। इसलिये उसे सहस्रार से सुषुम्णा के आगे के हिस्से जैसी जीवनाडी से हृदय में उतरना होगा। इस तरह सुषुम्णा झुकी हुई रेखा जैसी है। वह मूलाधार से प्रारंभ होकर करोड़ रज्जू से ऊपर उठकर सहस्रार तक पहुँचती है, और वहाँ से नीचे झुककर हृदय में समाप्त होती है। जब योगी हृदय में पहुँचता है, तब समाधि स्थायी बनती है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि हृदय अंतिम केन्द्र है। (१७)

प्र: *हठयोग की प्रक्रियाएँ असरकारक रूप से रोग मिटाती हैं। इसलिये ज्ञानयोग की पूर्वभूमि के रूप में उनका निर्देश किया जाता है।*

उ: जो सलाह देते हैं, वे उसका उपयोग करें। यहाँ का वह अनुभव नहीं है। निरंतर आत्मानुसंधान से सब रोग अवश्य नष्ट होते हैं। (१८) यदि आप इस मान्यता को लेकर चलते हैं कि मन की स्वस्थता के लिये शरीर का स्वास्थ्य आवश्यक है, तो शरीर की देखभाल की चिंता का कभी भी अंत नहीं होगा। (१९)

प्र: *आत्मानुसंधान के लिये हठयोग आवश्यक नहीं है?*

उ: प्रत्येक साधक को अपने पूर्व संस्कारों के कारण कोई एक पद्धति अधिक अनुकूल लगती है।

प्र: *क्या मेरी उम्र का साधक हठयोग का अनुसरण कर सकता है?*

उ: आप इन सब बातों को क्यों सोचते हैं? चूँकि आपको आत्मा बाहर रहा हुआ लगता है, आपको उसे पाने की इच्छा होती है और इसके लिये प्रयत्न होता है। लेकिन क्या

आपका अस्तित्व हमेशा नहीं होता है? आप अपने अन्तरात्मा को छोड़कर, क्यों किसी बाहरी वस्तु के पीछे दौड़ते हैं?

प्र: *"अपरोक्षानुभूति" में कहा है कि हठयोग आत्मानुसंधान के लिये आवश्यक सहायता प्रदान करना है।*

उ: हठयोगी कहते हैं कि शरीर को स्वस्थ तथा दृढ़ रखना चाहिये, जिससे आत्मविचार निर्विघ्न रूप से चलता रहे। वे ऐसा भी कहते हैं कि आयु को दीर्घ बनाना चाहिये, जिससे आत्मान्वेषण को उसके सफल अंत तक जारी रक्खा जा सके। कुछ ऐसे भी हैं जो इसी हेतु से कायाकल्प के लिये औषधप्रयोग करते हैं। उनका साधारण तर्क यह है कि चित्रकार्य शुरू करने से पूर्व पट्ट पूरा और मजबूत होना चाहिये। हाँ, लेकिन पट्ट क्या है, तथा चित्र कौन-सा है? उनके मत में शरीर पट्ट है और आत्मविचार चित्र है। लेकिन क्या शरीर आत्मा के परदे पर एक चित्र नहीं है?

प्र: *लेकिन हठयोग को सहायक के रूप में बहुत महत्त्व दिया जाता है।*

उ: हाँ, वेदान्त पढ़े हुए बड़े पंडित भी इसका अभ्यास करते हैं। अन्यथा उनका मन शान्त नहीं होता। इसलिये आप कह सकते हैं कि जो लोग दूसरे किसी तरीके से मन को निश्चल नहीं रख सकते, उनके लिये वह उपयोगी है। [२०]

प्र: *आसन क्या हैं? क्या वे आवश्यक हैं?*

उ: योगशास्त्र में कई आसन उनके परिणामों के साथ कहे गये हैं। बैठने के लिये व्याघ्रचर्म, दर्भ इत्यादि अच्छे हैं, ऐसा कहा जाता है। आसनों में पद्मासन, सुखासन इत्यादि का उल्लेख है। केवल आत्मा को अर्थात् स्वयं को जानने के लिये इन सब की क्या आवश्यकता है। सच यह है कि आत्मा से अहंकार उत्पन्न होकर स्वयं को शरीर से अभिन्न मानने की गलती करता है और जगत् को सत्य मानता है, और तब मद से उन्मत्त होकर निरंकुश रूप से सोचता है एवं आसनों को ढूँढता है। ऐसा भ्रान्त मनुष्य यह नहीं जान सकता कि वह स्वयं सबका केन्द्र है, सबका आश्रय है। आसन उसकी स्थिरता के लिये है; अपनी सहज सच्ची अवस्था को छोड़कर वह और कौन-से स्थान में दृढ़ता से रह सकता है? यह सच्चा आसन है। [२१]

चिदाकाश अर्थात् शुद्धज्ञानाकाशरूप तथा प्रसिद्ध अधिष्ठानरूप आत्मा ही वह आधार-आसन है, जिसपर संपूर्ण विश्व आश्रित है, ऐसे ज्ञान से विचलित न होने की दृढ़ता प्राप्त करना ही स्थिर तथा निश्चल सुखासन है, जिसमें बैठने से सर्वोच्च समाधि लगती है। [२२]

प्र: *भगवान् साधारणतया किस आसन में बैठते हैं?*

उ: किस आसन में? हृदय के आसन में। जिसमें सुख का अनुभव हो, वही योग आसन है। इसे सुखासन कहते हैं। हृदय का आसन शान्तिपूर्ण एवं सुखप्रद है। जो लोग इस आसन में बैठते हैं, उन्हें किसी दूसरे आसन की आवश्यकता नहीं है। [२३]

प्र: *ऐसा लगता है कि गीता कर्मयोग का आग्रह करती है, क्योंकि अर्जुन को युद्ध करने के लिये समझाया जाता है, एवं स्वयं श्रीकृष्ण भी अपने सक्रिय जीवन में अनेक पराक्रम करके द्रष्टान्त स्थापित करते हैं।*

उ: गीता का प्रारंभ यह कह कर किया गया है कि तुम शरीर नहीं हो, और इसलिये कर्ता भी नहीं हो।

प्र: *इसका क्या मतलब है?*

उ: मतलब यह कि मनुष्य को वह कर्ता है ऐसा सोचे बिना ही कार्य करना चाहिये। निरहंकार अवस्था में भी कर्म होते रहते हैं। प्रत्येक मनुष्य किसी विशेष हेतु को पूर्ण करने के लिये प्रकट होता है और वह हेतु स्वयं को कर्ता समझने पर या न समझने पर भी पूर्ण होकर रहता है।

प्र: *कर्मयोग क्या है? कर्मों के प्रति या उनके फल के प्रति अनासक्ति?*

उ: कर्मयोग वह योग है, जिसमें मनुष्य स्वयं कर्ता होने का अभिमान नहीं करता। सब काम अपने आप होते रहते हैं।

प्र: *कर्मफल में अनासक्ति कर्मयोग नहीं है?*

उ: यह प्रश्न तभी होगा जब कोई कर्ता हो। सब धर्मग्रंथ कहते कि आप स्वयं को कर्ता न मानें।

प्र: *तो कर्तृत्वबुद्धिरहित कर्म कर्मयोग है?*

उ: हाँ, बिल्कुल ठीक।

प्र: *गीता उपदेश देती है कि मनुष्य को आदि से अंत तक सक्रिय रहना चाहिये।*

उ: हाँ, कर्तारहित कर्म। [२४]

प्र: *मनुष्य यदि शान्त रहे, तो कर्म कैसे होंगे, और तब कर्मयोग भी कैसे होगा?*

उ: सबसे पहले कर्म क्या है? किसका है? और कर्त्ता कौन है? इसे समझना चाहिये। इनका विश्लेषणात्मक विचार करके इनके सत्य की शोध करने पर मनुष्य को आत्मरूप से शान्ति में रहने के लिये बाध्य होना पड़ेगा। फिर भी उस अवस्था में कर्म होते रहेंगे।

प्र: *मैं कर्म न करूँ, तो वे कैसे होते रहेंगे?*

उ: यह सवाल कौन पूछता है? आत्मा या कोई दूसरा? क्या आत्मा कर्म से संबद्ध है?

प्र: *नहीं, आत्मा नहीं पूछता, कोई दूसरा पूछता है।*

उ: तो यह स्पष्ट है कि आत्मा का कर्म से कोई संबंध नहीं है, इस कारण यह सवाल पैदा नहीं होता।

प्र: *मैं कर्मयोग इसलिये करना चाहता हूँ कि दूसरों की सहायता कर सकूँ।*

उ: जिसकी सहायता आप करें ऐसा कौन है? यह "मैं" कौन है जो दूसरों की सहायता करेगा? प्रथम इसकी स्पष्टता कीजिये, तो सब कुछ ठीक हो जायगा। [२६]

प्रः *इसका मतलब आत्मा को जानना हुआ। क्या मेरा आत्मसाक्षात्कार दूसरों की सहायता कर सकता है?*

उः हाँ, यह सबसे श्रेष्ठ सहायता है जो आप दूसरों को दे सकते हैं। लेकिन जिन्हें सहायता दी जाय ऐसे दूसरे नहीं हैं, क्योंकि जैसे सुनार सोने के गहनों के मूल्य को निश्चित करते समय केवल सोना ही देखता है, ऐसे ज्ञानी पुरुष केवल आत्मा को देखता है। जब आप अपने आपका शरीर से तादात्म्य करते हैं, तो नामरूप दिखते हैं। लेकिन जब आप शारीरिक चेतना से पर होते हैं, तो दूसरे भी अदृश्य हो जाते हैं। ज्ञानी जगत् को अपने से भिन्न नहीं देखता।

प्रः *संत पुरुष दूसरों को मदद करने के लिये उनके साथ घुलमिल जायँ, तो अच्छा नहीं होगा?*

उः घुलने-मिलने के लिये दूसरे नहीं हैं। एकमात्र आत्मा सत्य है। [२७]

ज्ञानी सत्यस्वरूप आत्मा बने रहने मात्र से जगत् को सहायता करता है। जगत् की श्रेष्ठ सेवा निरहंकार स्थिति प्राप्त करने से होती है। यदि आप जगत् को सहायता करने के लिये उत्सुक हैं, और ऐसा सोचते हैं कि निरहंकार स्थिति प्राप्त करके आप ऐसा नहीं कर सकेंगे, जो जगत् के तथा आपके सारे प्रश्न ईश्वर को सौंप दीजिये। [२८]

प्रः *क्या मुझे दुःखी जगत् को मदद नहीं करनी चाहिये?*

उः जिस शक्ति ने आपको उत्पन्न किया है उसी ने जगत् को भी उत्पन्न किया है। यदि वह आपकी देखभाल कर सकता है तो जगत् की भी कर सकता है। यदि ईश्वर ने जगत् को रचा है, तो उसका ख्याल रखना उसकी जिम्मेवारी है, आपकी नहीं। [२९]

प्रः *क्या स्वराज्य की इच्छा सही है?*

उः निस्संदेह ऐसी इच्छा स्वार्थ के विचार से प्रारंभ होती है। लेकिन व्यवहार में देश के लिये कार्य करने से दृष्टिकोण क्रमशः विशाल से विशालतर होता जाता है। इस प्रकार आदमी देश में व्यक्तित्व को विलीन करता है। व्यक्तित्व का ऐसा विलय इच्छनीय है और उससे जुड़ा हुआ कर्म निष्काम सेवा है।

प्रः *दीर्घ संघर्ष एवं महान् त्याग के पश्चात् स्वराज्य प्राप्त होता है, तो व्यक्ति को खुशी तथा गर्व का अनुभव करना उचित है?*

उः अपने कार्यकाल में जिसने उच्चतर शक्ति के समक्ष आत्मसमर्पण किया हो, तथा निरंतर उस शक्ति का स्मरण करते हुए अपने अहंकार का विलय किया हो, वह गर्व का अनुभव कैसे कर सकता है? वह तो अपने कर्मों के फल की भी चिन्ता नहीं करेगा, तभी उसके कर्म निःस्वार्थ कहे जायेंगे। [३०]

अनुभव

सत्य में स्तर नहीं होते, साधक के अनुभव में स्तर होते हैं। अनुभव कई प्रकार के हो सकते हैं, अनुभव करनेवाला एक ही होता है। [१]

आत्मा निश्चित रूप से सबके अनुभव का विषय है। लेकिन वह अनुभव हमारी कल्पना के मुताबिक नहीं है। वह केवल जैसा है वैसा ही है। [२]

प्रकरण १४

समाधि

पूर्व के आध्यात्मिक साहित्य में समाधि शब्द बहुतायत से प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ ध्यान की वह उच्च भूमिका है जिसमें आत्मा का सभानतापूर्वक अनुभव होता है अथवा ध्येय पदार्थ में निर्विचार, निर्विघ्न, गंभीर तन्मयता होती है। तत्त्वचिन्तन की विभिन्न प्रणालियों में तथा धर्मों में समाधि के कई स्तरों तथा भेदों का वर्णन उपलब्ध होता है, तथा सबकी अलग अलग पारिभाषिक शब्दावलि एवं तत्त्वसमूह होता है।

श्री रमण सामान्यतया समाधि को इन तीन वर्गों में विभाजित करते थे :-

१. **सहज निर्विकल्प समाधि** : यह ज्ञानी की अवस्था है जिसने अहंकार का अंतिम तथा अनिवर्त्य रूप से उन्मूलन कर दिया है। सहज का अर्थ है स्वाभाविक एवं निर्विकल्प का अर्थ है भेदरहित। इस अवस्था में प्रतिष्ठित ज्ञानी जगत् में अन्य साधारण लोगों की तरह व्यवहार करता है। चूँकि उसे ज्ञान होता है कि वह आत्मा है, सहज ज्ञानी अपने और दूसरों के बीच तथा अपने और जगत् के बीच कोई भेद नहीं देखता। ऐसे पुरुष के लिये सब कुछ अविभाज्य आत्मा की अभिव्यक्ति है।

२. **केवल निर्विकल्प समाधि** : यह आत्मसाक्षात्कार से नीचे का स्तर है। इसमें अनायास किन्तु अस्थायी आत्मानुभव होता है, फिर भी अहंकार का अंतिम उन्मूलन नहीं हुआ होता है। शरीरभाव का अभाव इसका लक्षण है। यद्यपि इस अवस्था में अस्थायी आत्मभाव होता है, लेकिन साधक इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण नहीं कर सकता एवं जगत् में व्यवहार नहीं कर सकता। जब देहभाव वापस आता है, अहंकार भी पैदा हो जाता है।

३. **सविकल्प समाधि** : इसमें निरंतर प्रयत्न से आत्मभाव बनाये रक्खा जाता है। समाधि का अवधि पूर्णतया उसे बनाये रखने के प्रयत्न पर निर्भर रहता है। जब आत्मलक्ष में विक्षेप उत्पन्न होता है, तब आत्मभाव धुंधला हो जाता है।

श्री रमण द्वारा बताये हुए ये समाधि के लक्षण, इस विषय से अपरिचित मनुष्य को इसके पारिभाषिक शब्दजाल से बचा सकते हैं :-

१. सत्य के सूत्र को पकड़े रहना समाधि है।

२. सत्यसूत्र को प्रयत्नपूर्वक पकड़े रहना सविकल्प समाधि है।

३. सत्य में लीन रहना तथा जगत् के विषय में सभान न रहना निर्विकल्प समाधि है।

४. अज्ञान में लीन रहना तथा जगत् के विषय में सभान न रहना निद्रा है।

५. अनायास ही मूल, शुद्ध स्वरूप में स्थिति सहज समाधि है। [१]

प्र: *समाधि क्या है?*

उ: निश्चल चित्त से सत्-चित् का अखंड अनुभव समाधि है। ऐसा निश्चल मन जो अनंत परम आत्मा के अनुभव से विभूषित है, ईश्वर का सत्य है। [२] जब मन अंधकार में आत्मा के साथ संयुक्त होता है उसे निद्रा कहते हैं, अर्थात् मन का अज्ञान में विलय। सभान जाग्रत अवस्था में ऐसा सभान संयोग समाधि है। जाग्रत अवस्था में निरंतर आत्मा में स्थिति करना समाधि है। निद्रा भी आत्मा में स्थिति है, किन्तु अभान अवस्था में। सहज समाधि में योग अखंड होता है।

प्र: *केवल निर्विकल्प और सहज निर्विकल्प समाधि क्या हैं?*

उ: नष्ट न हुए मन का आत्मा में विलय केवल निर्विकल्प समाधि है। इस अवस्था में मनुष्य वासनाओं से मुक्त नहीं होता। अतः उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता। वासनाओं के विनाश के बाद ही मोक्षप्राप्ति संभव है।

प्र: *सहज समाधि का अभ्यास कब करना चाहिये?*

उ: प्रारंभ से ही। साधक केवल निर्विकल्प समाधि का अभ्यास कई वर्षों तक करता रहे, फिर भी यदि उसने वासनाओं का उन्मूलन नहीं किया तो उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होगा। [३]

प्र: *कृपया सविकल्प तथा निर्विकल्प का भेद स्पष्ट कीजिये।*

उ: उच्चतम अवस्था में रहना समाधि है। मन के विक्षेपों के कारण जब वह प्रयत्न के साथ होती है, तो सविकल्प है, तथा जब ये विक्षेप नहीं होते, तो निर्विकल्प है। अनायास, हमेशा मूल स्थिति में रहना सहज समाधि है। [४]

प्र: *सहज के पूर्व निर्विकल्प प्राप्त करना अनिवार्य है?*

उ: सविकल्प या निर्विकल्प समाधियों में से किसी में भी स्थायी रूप से रहना सहज स्थिति है। देहभान क्या है? जड़ शरीर तथा चेतना। ये दोनों अन्य पूर्ण, शुद्ध तथा अपरिवर्तनशील चेतना में रहते हैं, जिसमें देहभान हो या न हो। यदि मनुष्य शुद्ध चेतना को निरंतर बनाये रखता है, तो देहभान रहे चाहे जाय, उससे क्या फर्क पड़ता है? देहभान का

पूर्ण अभाव समाधि को अधिक गहरी बनाता है, लेकिन इससे परम सत्य के ज्ञान में कोई फर्क नहीं पड़ता। (५)

प्रः *समाधि और तुरीय एक हैं?*

उः समाधि, तुरीय, निर्विकल्प – इन सबका एक ही अर्थ है : आत्मा के विषय में सभानता। तुरीय का अर्थ परम चेतना की चौथी अवस्था है, जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति की तीन अवस्थाओं से भिन्न है। चौथी अवस्था शाश्वत है, जिसमें उक्त तीन अवस्थाएँ आती जाती रहती हैं। तुरीय में यह भान अविच्छिन्न रूप से बना रहता है कि मन अपने जन्मस्थान – हृदय – में विलीन हो गया है, और वहाँ शान्त हो गया है, यद्यपि कुछ विचार अब भी आते रहते हैं, एवं इन्द्रियाँ अब भी थोड़ी बहुत सक्रिय होती हैं। निर्विकल्प में इन्द्रियाँ पूर्णरूप से निष्क्रिय होती हैं, एवं विचारों का भी पूर्ण अभाव होता है। इसलिये इस अवस्था में शुद्ध चैतन्य का अनुभव तीव्र तथा आनंदमय होता है। सविकल्प समाधि में तुरीय अवस्था हो सकती है। (६)

प्रः *नींद तथा तुरीय में अनुभव किये गये आनंद में क्या फर्क है?*

उः आनन्द भिन्न नहीं होते। आनन्द एक ही है; इसमें ब्रह्मा से लेकर निम्न स्तर के पशु तक के सभी प्रकार के जीव जिनका अनुभव करते हैं, उन सभी आनंदों का समावेश है। वह आत्मा का आनंद है। जिस आनंद का अनुभव नींद में अभान अवस्था में होता है, उसी का अनुभव तुरीय में सभान अवस्था में होता है, बस, इतना ही फर्क है। जाग्रत अवस्था में जिसका अनुभव होता है, वह सोपाधिक आनंद है। (७)

प्रः *राजयोग का आठवाँ अंग समाधि है, क्या वह आप कहते हैं वही है?*

उः योग में समाधि का अर्थ एक प्रकार का भानरहित ध्यान है, और समाधियाँ कई प्रकार की हैं, लेकिन मैं जिसकी बात करता हूँ, वह समाधि भिन्न है। इसमें आपके मन में समाधान होता है, और आप जब सक्रिय हों, तब भी शान्त और संतुलित रहते हैं। आप अनुभव करते हैं कि आप आन्तरिक सच्चे आत्मा से प्रेरित होकर गतिशील हो रहे हैं। आप सब चिन्ताओं से, उलझनों से, व्यग्रता से मुक्त होते हैं, क्योंकि आप जानते हैं कि यहाँ आपका कुछ भी नहीं है। आप यह भी जानते हैं कि सब कुछ उस परम शक्ति द्वारा हो रहा है, जिससे आप सभानतापूर्वक एकरूप हैं।

प्रः *यदि यह सहज समाधि ही सर्वश्रेष्ठ है, तो निर्विकल्प समाधि आवश्यक नहीं है?*

उः राजयोग की निर्विकल्प समाधि के कुछ उपयोग हो सकते हैं। लेकिन ज्ञानयोग में यह सहज-स्थिति, सहज निष्ठा ही स्वयं निर्विकल्प स्थिति है। इस स्वाभाविक नित्य अवस्था में मन संशयों से मुक्त रहता है, उसे संभावनाओं तथा शक्यताओं के बीच वैकल्पिक रूप से झूलते रहने की आवश्यकता नहीं होती। वह किसी भी प्रकार के विकल्पों का अनुभव नहीं करता। वह सत्य के बारे में आश्वस्त है, क्योंकि उसे उसके अस्तित्व का निरंतर अनुभव होता है। जब वह सक्रिय होता है तब भी जानता है कि वह

सत्य में, आत्मा में, परम सत्ता में सक्रिय है। (८)

प्र: *गाढ़ निद्रा, लय तथा समाधि में क्या फर्क है?*

उ: गाढ़ निद्रा में मन का लय होता है, नाश नहीं। जो लीन होता है, वह फिर से प्रकट होता है। ऐसा लय ध्यान में भी हो सकता है। लेकिन मन का नाश होने पर वह फिर से प्रकट नहीं होता। इसलिये योगी का ध्येय मनोनाश होना चाहिये, मनोलय नहीं। ध्यान की शान्ति में कभी कभी मनोलय होता है, लेकिन वह पर्याप्त नहीं है। उसके बाद भी मन के नाश के लिये दूसरे उपायों का अभ्यास अवश्य जारी रखना चाहिये। कुछ लोग मन में एक तुच्छ विचार के साथ योगसमाधि जैसी लय की अवस्था में बहुत लंबे अरसे तक रहते हैं। जिसके दौरान कई पीढ़ियाँ बीत चुकी होती हैं, लेकिन व्युत्थान होते ही उसी तुच्छ विचार के साथ जाग्रत होते हैं। ऐसे योगी ने चित्त का नाश नहीं किया होता है। आत्मा से अलग मन के अस्तित्व का अस्वीकार ही उसका अंतिम, सच्चा नाश है। इस समय भी मन नहीं है, इस सत्य का अनुभव कीजिये। अपने आप होनेवाले दैनंदिन व्यवहारों के सिवा इस सत्य का अनुभव अन्य किस प्रकार से किया जा सकता है? जानिये कि इन व्यवहारों को चलानेवाला मन सत्य नहीं है, बल्कि आत्मा से प्रकट हुआ एक असत्य आभासमात्र है। इस तरह मनोनाश किया जाता है। (९)

प्र: *निर्विकल्प समाधिस्थित योगी पर भौतिक उपद्रवों का प्रभाव पड़ता है? मेरा एवं मेरे मित्र का इस बारे में मतभेद है।*

उ: आप दोनों सही हैं। आप में से एक केवल समाधि का तथा दूसरा सहज समाधि का उल्लेख करता है। दोनों प्रकारों में मन आत्मा के आनंद में मग्न होता है। केवल के दौरान भौतिक सक्रियता ध्यान करनेवाले के लिये उपद्रव कर सकती है, क्योंकि मन का नाश नहीं हुआ; वह अभी जीवित है, और गहरी नींद जैसी अवस्था से किसी भी क्षण फिर से सक्रिय हो सकता है। उसकी तुलना कुँए के पानी में पूर्णतया डूबी हुई बाल्टी के साथ की जाती है, जिसे उसके साथ बंधी हुई रस्सी से वापस खींचा जा सकता है। सहज में मन पानी में रस्सी के साथ पूरी तरह डूबी हुई बाल्टी के समान आत्मा में हमेशा के लिये विलीन हो गया होता है। सहज में मन को जगत् की ओर खींचनेवाला कुछ नहीं बचा होता है। तब उसकी क्रियाएँ उस बच्चे के समान होती हैं, जो नींद में माता का दूध पीता है, लेकिन उसके बारे में सभान नहीं होता। (१०)

प्र: *ऐसी अवस्था में मनुष्य जगत् में कार्य कैसे कर सकता है?*

उ: जिसने स्वयं को स्वाभाविक रूप से ध्यान की स्थिति में रखने की आदत दृढ़ बना ली है, तथा समाधि के आनंद का सतत अनुभव करता है, वह कोई भी कार्य करते हुए तथा किसी भी प्रकार के विचार करते हुए समाधि अवस्था से च्युत नहीं होता। यह सहज निर्विकल्प समाधि है। (११) सहज निर्विकल्प मनोनाश है, जबकि केवल निर्विकल्प अस्थायी मनोलयमात्र है। जो लयसमाधि की अवस्था में होते हैं, उन्हें समय समय पर मन

का निग्रह करना पड़ता है। लेकिन यदि मन सहज समाधि की तरह नष्ट हो गया हो, तो वह फिर से कभी भी अंकुरित नहीं होगा। ऐसे पुरुषों द्वारा जो भी किया जाता है, वह सिर्फ प्रासंगिक होता है। वे कभी भी अपनी ऊँची अवस्था से च्युत नहीं होते।

जो लोग केवल निर्विकल्प अवस्था में होते हैं, वे साधक हैं, सिद्ध नहीं। जो सहज निर्विकल्प अवस्था में हैं, वे वायुरहित स्थान में रहे हुए दीपक के समान हैं, अथवा निस्तरंग सागर की तरह होते हैं : अर्थात् उनमें कोई गति-चलन नहीं है। वे किसी भी वस्तु को अपने आत्मा से भिन्न नहीं देखते हैं। इस अवस्था को प्राप्त न करनेवालों को सब कुछ अपने आपसे अलग लगता है। [१२]

प्र: *केवल निर्विकल्प से तथा सहज से योगी सापेक्ष जगत् के अनुभव के स्तर पर नीचे उतरता है, तब दोनों का अनुभव समान नहीं हुआ?*

उ: नीचे आना या ऊपर जाना होता ही नहीं। जो ऊपर नीचे आता-जाता है, वह सत्य नहीं है। केवल निर्विकल्प में मन की बाल्टी पानी में अस्तित्व रखती है, अत: उसे किसी भी क्षण बाहर निकाला जा सकता है। सहज उस नदी की तरह है जो समुद्र में मिल चुकी है, और इसलिये उसे वापस नहीं लाया जा सकता। आप ये सारे प्रश्न क्यों पूछते हैं? अभ्यास तब तक जारी रखिये जब तक आप स्वयं इस अवस्था का अनुभव न कर लें। [१३]

प्र: *समाधि का क्या उपयोग है? उसमें विचार जीवित रहता है?*

उ: समाधि ही सत्य को प्रकट कर सकती है। विचार सत्य पर परदा डाल देते हैं। इसलिये समाधि से भिन्न किसी भी अन्य अवस्था में सत्य का अनुभव नहीं होता।

समाधि में केवल "मैं हूँ" का अनुभव रहता है, कोई भी विचार नहीं। "मैं हूँ" अनुभव निश्चलता का अनुभव है।

प्र: *यहाँ रहने पर मुझे जिस समाधि अर्थात् निश्चलता का अनुभव होता है, उसे मैं कैसे दोहरा सकता हूँ?*

उ: आपका वर्तमान अनुभव वर्तमान परिस्थिति के प्रभाव के कारण है। इस वातावरण से बाहर आप इसे प्राप्त कर सकते हैं? यह अनुभव रुक रुक कर होनेवाला है। वह स्थायी न बने तब तक अभ्यास आवश्यक है। [१४]

प्र: *समाधि का अनुभव शान्ति का या निश्चलता का अनुभव है?*

उ: वह शान्त स्वच्छता जो मन की चंचलता से रहित है, उसे समाधि कहते हैं; वह मोक्ष का दृढ़ आधार है। भ्रम में डालनेवाली इस चंचलता का नाश करने के सन्निष्ठ प्रयत्न से उस समाधि का अनुभव कीजिये, जो शान्त चेतना तथा आन्तरिक स्वच्छता है। [१५]

प्र: *आन्तरिक और बाह्य समाधि में क्या फर्क है?*

उ: जगत् को देखते हुए सत्य को पकड़े रहना, एवं अंदर से कोई प्रतिक्रिया न होने देना बाह्य समाधि है। यह तरंगरहित सागर जैसी अवस्था है। आन्तरिक समाधि में देहभान लुप्त हो जाता है।

प्रः *मन क्षणभर के लिये भी उस अवस्था में डूबता नहीं है।*

उः इसके लिये मैं चित्त एवं चित्त से देखे जाने वाले दृश्यरूप जगत् से पर रहा हुआ आत्मा हूँ, ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिये।

प्रः *फिर भी मन कभी न हटनेवाला विघ्न है, जो समाधि के मार्ग में हमेशा खड़ा हो जाता है, तथा आत्मा में डूबने की हर कोशिश को निष्फल बनाता है।*

उः मन सक्रिय हो तो क्या हर्ज है? वह आत्मा के अधिष्ठान पर सक्रिय है। मन की सक्रियता के समय भी आत्मा को पकड़े रहिये।

प्रः *रोमाँ रोलाँ द्वारा श्री रामकृष्ण परमहंस के बारे में लिखे गये ग्रंथ में मैंने पढ़ा कि निर्विकल्प समाधि भयंकर अनुभव है। क्या निर्विकल्प स्थिति भयंकर है? क्या हम ये सारे श्रमसाध्य संयम, विशुद्धि, ध्यान इत्यादि प्रयत्न इसलिये करते हैं कि अंत में भयंकर स्थिति प्राप्त करें? क्या हमें जीवित शव के रूप में परिवर्तित होना पड़ेगा?*

उः निर्विकल्प के बारे में लोगों की तरह तरह की धारणाएँ हैं। रोमाँ रोलाँ की बात क्या है, हमारे वेदान्त एवं उपनिषदों की ज्ञानराशि के भंडार समान विद्वान् भी यदि निर्विकल्प के बारे में विचित्र खयालात रखते हों, तो एक पाश्चात्य को ऐसी धारणा के लिये दोष कैसे दिया जा सकता है? कुछ योगी प्राणायाम के विशेष अभ्यास से तनमन को शून्य कर देनेवाली नींद से भी अधिक गहरी अवस्था में चले जाते हैं, जिससे उन्हें बिल्कुल भान नहीं होता और वे निर्विकल्प के नाम से इसकी महत्ता घोषित करते हैं। कुछ दूसरे लोग सोचते हैं कि एक बार निर्विकल्प में डूबकी लगाने पर मनुष्य कोई दूसरा प्राणी बन जाता है। कुछ अन्य लोग मूर्च्छा जैसी जगत्भान रहित अवस्था में से गुजरने के पश्चात् ही निर्विकल्प अवस्था प्राप्त होती है ऐसा मानते हैं। यह सब इसलिये होता है कि वे इसे बुद्धि की दृष्टि से देखते हैं।

निर्विकल्प अनायास, निराकार चेतना है, इसमें भय कहाँ है, और अपने आप बने रहने में रहस्य भी क्या है? जो भूतकाल में दीर्घ अभ्यास के कारण पक्व-चित्त हो गये है, ऐसे कुछ लोगों के लिये निर्विकल्प स्थिति बाढ़ की तरह अकस्मात् आती है, लेकिन दूसरों के लिये वह आध्यात्मिक अभ्यास के दौरान धीरे धीरे आती है; यह अभ्यास अवरोध करनेवाले विचारों का क्रमशः क्षय करता है, और अहं-अहं के शुद्ध परदे को प्रकट कर देता है। और भी अधिक अभ्यास इस परदे को स्थायी रूप से निरावरण बनाकर पूर्णतया स्पष्ट कर देता है। इसे आत्मसाक्षात्कार, मुक्ति, सहज समाधि कहते हैं, जो हमारी स्वाभाविक, अनायास स्थिति है।[१७] बाह्य भेदों का न दिखना ही स्थायी निर्विकल्प का लक्षण नहीं है। ऐसा समझना चाहिये कि नष्ट हुए मन में विकल्पों का न उठना ही सच्ची निर्विकल्प अवस्था है।

प्रः *जब मन आत्मा में विलीन होने लगता है, तो अक्सर भय लगता है।*

उः समाधि में प्रवेश करते समय भय का अनुभव तथा शरीर कंपन शेष बची हुई

अहं-चेतना के कारण होते हैं। लेकिन जब यह सीमित चेतना पूर्णतया क्षीण होकर नष्ट हो जाती है, तब मनुष्य चैतन्य का अनंत आकाश बनकर रहता है, जिसमें केवल आनंद होता है और भय और कंपन समाप्त हो जाते हैं। [१८]

प्र: *क्या समाधि आनंदमय या अतिशय सुख की अवस्था है?*

उ: खुद समाधि में केवल पूर्ण शान्ति होती है। समाधि के अंत में चित्त जब पुनर्जीवित होता है, तब समाधि की शान्ति की स्मृति के साथ आनंद उत्पन्न होता है। भक्ति में यह आनंद शुरू में होता है, जो अश्रु, रोमांच, गद्‌गद् कंठ होने के रूप में प्रकट होता है। अंत में जब अहंकार नष्ट होता है, और सहज स्थिति प्राप्त होती है, तब भावावेश के ये चिन्ह तथा आनंद समाप्त हो जाते हैं। [१६]

प्र: *समाधि लगने पर मनुष्य को सिद्धियाँ भी मिलती हैं या नहीं?*

उ: सिद्धियों के प्रदर्शन के लिये उन्हें देखनेवाले दूसरे अवश्य होने चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि जो सिद्धि प्रदर्शन करता है उसमें ज्ञान नहीं है। इसलिये सिद्धियों के बारे में विचार करना ठीक नहीं है। ज्ञानप्राप्ति को ही लक्ष्य मानकर उसे प्राप्त करना चाहिये। [२०]

प्र: *मुंडकोपनिषद् में कहा है कि योग की अंतिम, आठवीं भूमिका समाधि प्राप्त न हो, तब तक मुक्ति नहीं मिलती, चाहे कोई कितना ही ध्यान या तप करे। क्या यह सच है?*

उ: ठीक से समझा जाय तो ये सब एक हैं। आप उसे ध्यान, तप, समाधि या और कुछ कह लीजिये, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। जो तैलधारावत् निरंतर तथा स्थिर हो, वह तप, ध्यान, समाधि है। अपना आत्मा बने रहना समाधि है।

प्र: *लेकिन मुंडकोपनिषद् में कहा है कि मुक्ति से पूर्व समाधि आवश्यक है।*

उ: कौन कहता है कि ऐसा नहीं है? केवल मुंडकोपनिषद् में ही नहीं, सभी प्राचीन ग्रंथों में भी ऐसा लिखा है। लेकिन सच्ची समाधि वही है, जिसमें आप अपने आत्मा को जानते हैं। जड़ पदार्थ की तरह स्थिर होकर कुछ समय बैठे रहने से क्या लाभ है? मान लीजिये कि आपके हाथ में फोड़ा हुआ है और उसे आपको बेहोश बनाकर शल्यकर्म से निकालना है। उस समय आपको पीड़ा का अनुभव नहीं होता; तो क्या इसका यह अर्थ हुआ कि आप समाधि में थे? यही बात इस समाधि की भी है। मनुष्य को जानना चाहिये कि समाधि क्या है? और आप उसे अपने आत्मा को जाने बिना कैसे जान सकते हैं? यदि आत्मा को जाना जाय, तो समाधि भी अपने आप जान ली जायगी। [२१]

समाधि मनुष्य की स्वाभाविक अवस्था है। वह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति – इन तीन अवस्थाओं के दौरान निरंतर बहनेवाला आन्तर प्रवाह है। इन तीन अवस्थाओं में आत्मा नहीं है, ये तीन अवस्थाएँ आत्मा में हैं। यदि हम जाग्रत अवस्था में समाधि प्राप्त करें, तो वह गहरी नींद में भी बनी रहेगी। चेतना और अचेतना का भेद मन के क्षेत्र में होता है; आत्मा की सच्ची अवस्था मन से पर है। [२२]

प्रः *तो मनुष्य को चाहिये कि वह हमेशा समाधि प्राप्त करने का यत्न करे?*

उः ज्ञानी कहते हैं कि संतुलन की निरहंकार स्थिति मौन समाधि है, तथा ज्ञान की पराकाष्ठा है। जब तक मनुष्य जिसमें स्वयं निरहंकार सत्य स्वरूप होता है ऐसी मौनसमाधि प्राप्त न कर ले, तब तक उसे अहंकार के नाश को अपना लक्ष्य बनाना चाहिये। (२३)

सिद्धियाँ और दर्शन

ध्यान के कुछ अद्‌भुत प्रभाव भी होते हैं। देवों के दर्शन, दूरदर्शन, मन से संदेश भेजना इत्यादि अतिप्राकृतिक शक्तियों की प्राप्ति हो सकती है। इन दोनों को स्वेच्छा से उत्पन्न किया जा सकता है। इष्ट देवता की मनोमय आकृति पर भक्ति से तथा उनके दर्शन की इच्छा से एकाग्रता की जाय तो दर्शन हो सकता है। योग के विशेष अभ्यासों से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। पतंजलि की प्रशिष्ट कृति "योगसूत्र" में कुछ अभ्यासों की सूची दी गई है, जिनसे आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जिनमें अदृश्य होने से लेकर पानी पर चलने तक की सिद्धियाँ शामिल हैं।

श्री रमण अपने भक्तों को दर्शन या सिद्धि के लिये प्रयत्न करने की सलाह नहीं देते थे। वे कहते कि ये सब मन की उपज है, और आत्मसाक्षात्कार में विघ्नरूप है, सहायक नहीं। वे इस बात का स्वीकार करते थे कि यदि दर्शन अपने आप होने लगे, तो प्रगति का लक्षण है, लेकिन साथ साथ यह भी कह देते थे कि वे केवल अस्थायी मानसिक अनुभव हैं, आत्मानुभव से निम्न कक्षा के हैं। [१]

यदि सिद्धियाँ अपने आप प्रकट होने लगें, तो भी उनमें आसक्त होने से उत्पन्न होनेवाले भयों का ब्यौरा देकर वे कहते कि ये शक्तियाँ अहंकार के उन्मूलन के बजाय उसे और भी पुष्ट करती हैं। वे ऐसा भी कहते कि सिद्धियों की इच्छा और आत्मदर्शन की इच्छा परस्पर विरुद्ध हैं।

"आत्मा सबसे अधिक निकट हैं, एवं शाश्वत सत्ता है, जबकि सिद्धियाँ बाहरी हैं। सिद्धियाँ प्रयत्न से प्राप्त होती हैं, आत्मा नहीं। मन को जीवित रखकर सिद्धियाँ प्राप्त की जाती हैं; आत्मा मनोनाश होने पर प्राप्त होता है। अहंकार के रहते ही सिद्धियाँ प्रकट होती हैं; आत्मा अहंकार से पर है और अहंकार के उन्मूलन के पश्चात् ही अनुभवगोचर होता है।" [२]

प्र: *मैंने कुछ समय पूर्व श्री भगवान् से कहा था कि जब मैंने हिन्दु धर्म स्वीकार किया, उस समय के दौरान मुझे शिव का दर्शन हुआ था। कूर्तालम् में इस प्रकार का अनुभव फिर से हुआ। ये दर्शन क्षणिक होने पर भी आनंददायक होते हैं। मैं यह जानना चाहती हूँ कि उनको कैसे स्थायी बनाया जाय। शिव के बिना चारों ओर जो भी दिखता है, उसमें जीवन नहीं है। उनके स्मरण से मुझे बहुत आनंद मिलता है। कृपया बताइये कि मेरे लिये ऐसा दर्शन शाश्वत कैसे बन सकता है।*

उ: आप शिवदर्शन की बात कहती हैं। दर्शन हमेशा किसी वस्तु का होता है, जिससे उसे देखनेवाले का अस्तित्व सूचित होता है। दर्शन का मूल्य उसके द्रष्टा के समान है, अर्थात् दर्शन का स्वरूप द्रष्टा के स्तर पर होता है। दर्शन से अदर्शन भी सूचित होता है। जो कुछ दिखता है वह अवश्य अदृश्य भी हो जाता है। कोई दर्शन शाश्वत नहीं हो सकता, जबकि शिव शाश्वत हैं।

दर्शन द्रष्टा को सूचित करता है; द्रष्टा आत्मा के अस्तित्व का इन्कार नहीं कर सकता। एक भी क्षण ऐसा नहीं है, जब चेतन आत्मा का अस्तित्व न हो, और द्रष्टा चेतना से अलग नहीं रह सकता। यह चेतना शाश्वत सत्ता है – केवल सत्ता है। द्रष्टा अपने आपको देख नहीं सकता। वह दर्शन की तरह अपनी आँखों से अपने आपको नहीं देख सकता इस कारण क्या अपने अस्तित्व का इन्कार करता है? नहीं। इसलिये प्रत्यक्ष का अर्थ देखना नहीं, होना है, और होने का अर्थ अनुभव करना है। अत: "मैं-हूँ-वह-मैं-हूँ"। "मैं हूँ" शिव है। उसके बिना कुछ भी नहीं हो सकता। सबका अस्तित्व शिव में और शिव के कारण है।

इसलिये अनुसंधान कीजिये : "मैं कौन हूँ?" अंदर गहराई में निमग्न बनिये और आत्मा बनकर रहिये। शिव सद्वस्तु है, उसके दर्शन बार-बार हों ऐसी अपेक्षा मत रखिये। आप जिन वस्तुओं को देखती हैं, उनमें और शिव में क्या अन्तर है? शिव द्रष्टा-दृश्य दोनों हैं। आप शिव से अलग नहीं हो सकती हैं, क्योंकि हर स्थल और पल में शिव मौजूद हैं, अत: अभी और यहाँ भी हैं, और अनुभवगोचर हैं। यदि आप सोचती हैं कि आपको शिव का अनुभव नहीं है, तो आप गलत सोचती हैं। शिव के अनुभव में यही विघ्न है। इस विचार का भी त्याग कीजिये और साक्षात्कार हाजिर है।

प्र: *हाँ, लेकिन मैं ऐसा कैसे यथा संभव जल्दी कर सकती हूँ?*

उ: यह साक्षात्कार में विघ्न है। क्या कोई व्यक्ति शिव से अलग हो सकता है? इस समय भी वे आप हैं। समय का सवाल ही नहीं है। यदि असाक्षात्कार का एक भी क्षण हो, तो साक्षात्कार का प्रश्न उत्पन्न हो सकता है। लेकिन सत्य यह है कि आप शिव से अलग नहीं हो सकतीं। शिव पहले से ही साक्षात् हैं, हमेशा प्रत्यक्ष हैं, कभी भी अप्रत्यक्ष नहीं। [३]

प्र: *मैं श्रीकृष्ण का साक्षात्कार करना चाहता हूँ। इसके लिये मुझे क्या करना चाहिये?*

उ: श्रीकृष्ण के बारे में आपका क्या ख्याल है, और साक्षात्कार से आप क्या समझते हैं?

प्र: *श्रीकृष्ण से मेरा मतलब वृन्दावन में रहनेवाले से है, और मैं गोपियों की तरह उनको देखना चाहता हूँ।*

उ: आप समझते हैं कि वे एक मनुष्य थे अथवा मनुष्य की आकृति के साथ एकरूप थे, अमुक के पुत्र थे, जब कि स्वयं उन्होंने कहा है : "मैं सब प्राणियों के हृदय में रहता हूँ, तथा सबका आदि, मध्य और अंत हूँ"। वे जैसे सब में हैं, वैसे आपमें भी अवश्य होने चाहिये। वे आपके आत्मा अर्थात् आत्मा के आत्मा हैं। अत: यदि आप इस आत्मा का साक्षात्कार करें तो आपको श्रीकृष्ण का साक्षात्कार होगा। आत्मा का तथा श्रीकृष्ण का सीधा साक्षात्कार भिन्न नहीं हो सकता। फिर भी आपकी बात मान्य भी रक्खें, तो आपको कृष्ण के समक्ष पूर्ण आत्मसमर्पण करना चाहिये, और साक्षात् दर्शन देने की बात उन पर छोड़ देनी चाहिये। (४)

प्र: *श्री रामकृष्ण परमहंस की तरह ईश्वर से बात करना संभव है?*

उ: जब हम एक दूसरे से बात कर सकते हैं, तो उसी तरह ईश्वर से बात क्यों नहीं कर सकते?

प्र: *तो हम क्यों ऐसा नहीं कर सकते?*

उ: इसके लिये विशुद्धि मनोबल तथा ध्यानाभ्यास आवश्यक हैं।

प्र: *क्या इन शर्तों को पूरा करने पर ईश्वर प्रकट होता है?*

उ: ऐसा प्रकटीकरण आप की सत्यता के समकक्ष हैं। दूसरे शब्दों में, जब आप जाग्रत अवस्था में अपने आपको स्थूल शरीर के साथ एकरूप मानते हैं, तो ठोस पदार्थ देखते हैं। स्वप्न में सूक्ष्मशरीर के साथ तादात्म्य करके मानसिक स्तर पर होते हैं, तब आप उतने ही सूक्ष्म पदार्थों को देखते हैं। नींद में तादात्म्य नहीं होता, तब आप कुछ नहीं देखते। देखे जानेवाले पदार्थ देखने वाले की अवस्था से संबंधित होते हैं। ईश्वर दर्शन के विषय में भी यह सत्य है।

लंबे अरसे के अभ्यास से जिस रूप में ईश्वर का ध्यान किया गया होता है, वह रूप पहले स्वप्न में एवं बाद में जाग्रत में भी देखा जा सकता है। (५)

प्र: *यहाँ के कई मुलाकाती मुझसे कहते हैं कि उन्हें आपकी ओर से दर्शन तथा विचार-प्रवाह प्राप्त होते हैं। मैं डेढ़ महिने से यहाँ हूँ, लेकिन मुझे किसी प्रकार का जरा भी अनुभव नहीं हुआ। क्या मैं आपकी कृपा का पात्र नहीं हूँ?*

उ: दर्शन और विचारप्रवाह साधक के मन की अवस्था अनुसार प्राप्त होते हैं। यह व्यक्ति पर निर्भर है, विश्वव्यापक सत्ता पर नहीं। लेकिन इनका कोई महत्व नहीं; मन की शान्ति मुख्य बात है। (६)

साक्षात्कार क्या है? शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए ईश्वर का दर्शन है? यदि इस रूप में ईश्वर का दर्शन हो भी जाय, तो भक्त का अज्ञान कैसे नष्ट होगा? शाश्वत अनुभव ही सत्य होना चाहिये। प्रत्यक्ष दर्शन नित्यप्राप्त अनुभव है। प्रत्यक्ष होने पर ही स्वयं ईश्वर

जाना जा सकता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह किसी विशेष आकार में ही भक्त के समक्ष दिखाई दे। अनुभव जब तक शाश्वत न हो, उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। क्या चतुर्भुज ईश्वर का दर्शन शाश्वत अनुभव है? वह नश्वर और भ्रामक है। द्रष्टा अवश्य होना चाहिये। यह द्रष्टा ही शाश्वत एवं सत्य है।

ईश्वर चाहे करोड़ों सूर्यों के प्रकाश-सा दिखे, क्या यह प्रत्यक्ष है? ऐसे ईश्वरदर्शन के लिये मन तथा नेत्र चाहिये। यह अप्रत्यक्ष ज्ञान है, जबकि द्रष्टा सीधा अनुभव है – द्रष्टा ही प्रत्यक्ष है। (७)

प्र: *लोग वैकुंठ, कैलाश, इन्द्रलोक, चन्द्रलोक आदि स्वर्गों की बातें करते हैं। क्या वस्तुत: इनका अस्तित्व है?*

उ: अवश्य। आप आश्वस्त रह सकते हैं कि उनका अस्तित्व है। वहाँ भी मेरे जैसा कोच पर बैठा हुआ स्वामी और उसके सम्मुख शिष्य बैठे होंगे। वे कुछ पूछेंगे और वह कुछ जवाब देगा। सब कुछ कम या अधिक इस तरह का ही होगा। लेकिन इससे क्या? यदि कोई चन्द्रलोक देखता है तो इन्द्रलोक देखना चाहेगा, उसके बाद वैकुंठ तथा उसके पश्चात् कैलाश देखना चाहेगा, और इस तरह चित्त घूमता ही रहेगा। शान्ति कहाँ है? यदि शान्ति चाहिये, तो उसे पाने का सही मार्ग आत्मानुसंधान है। आत्मानुसंधान से आत्मसाक्षात्कार किया जा सकता है। यदि मनुष्य आत्मानुभव कर ले, तो वह इन सब लोकों को अपने आत्मा में देख सकता है। अपना आत्मा सबका मूल है, अत: यदि मनुष्य आत्मा को जाने तो उसे आत्मा से भिन्न कुछ नहीं दिखेगा। तब ऐसे प्रश्न नहीं होंगे। वैकुंठ और कैलाश हों चाहें न हों, इस समय आप यहाँ हैं, यह हकीकत है। है कि नहीं? आप यहाँ कैसे हैं, कहाँ है? इन बातों का निर्णय करने के पश्चात् उन सब लोकों के बारे में सोच सकते हैं। (८)

प्र: *पतंजलि के सूत्रों में उल्लिखित सिद्धियाँ सच्ची हैं, या केवल उनका स्वप्न है?*

उ: जो ब्रह्म या आत्मा है, उसके लिये इन सिद्धियों का कोई मूल्य नहीं है। स्वयं पतंजलि कहते हैं कि उनका प्रयोग केवल मन से होता है, और वे आत्मसाक्षात्कार के लिये विघ्न हैं।

प्र: *तथाकथित अतिमनस् की शक्तियों के बारे में सचाई क्या है?*

उ: शक्तियाँ ऊँची या नीची हों, मन की हों या अतिमनस् की, उनका अस्तित्व शक्तिमान् के संदर्भ में होता है; तलाश कीजिये वह कौन है? (९)

प्र: *अध्यात्ममार्ग पर चलने से सिद्धियाँ मिलती हैं, या वे मुक्ति की विरोधी हैं?*

उ: आत्मसाक्षात्कार सर्वोच्च सिद्धि है। एक बार सत्य का अनुभव होने पर आप अज्ञानमार्ग के प्रति आकृष्ट नहीं होंगे।

प्र: *तो सिद्धियों का उपयोग क्या है?*

उ: सिद्धियाँ दो प्रकार की होती हैं। उनमें से एक प्रकार की सिद्धियाँ आत्मसाक्षात्कार के मार्ग में अवरोध सिद्ध हो सकती हैं। कहा जाता है कि मंत्र से, रहस्यमय शक्तिवाले

औषध से, उग्र तप से और विशेष प्रकार की समाधि से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, लेकिन वे आत्मज्ञान के साधन नहीं हैं, क्योंकि उनको प्राप्त करके भी आप अज्ञान में डूबे रहते हैं।

प्र: *दूसरा प्रकार कौन-सा है?*

उ: वे ऐसी सिद्धियाँ हैं, जो आत्मशक्ति का या ज्ञान का प्रकटीकरण है; वे आत्मनिष्ठ रहनेवाले पुरुष के सहज, स्वाभाविक तप का फल है। वे ईश्वर की देन हैं और अपने आप प्रकट होती हैं। वे मनुष्य के प्रारब्धानुसार आती हैं। लेकिन वे आयें या न आयें, परम शान्ति में प्रतिष्ठित ज्ञानी जरा भी विचलित नहीं होता, क्योंकि वह आत्मा को जानता है, जो कि अकम्प्य सिद्धि है। ये सिद्धियाँ प्रयत्न से नहीं मिलतीं। जब आप आत्मनिष्ठ होंगे तब जानेंगे कि ये सिद्धियाँ क्या हैं। [१०]

प्र: *ज्ञानी दूसरों को आत्मसाक्षात्कार कराने के लिये सिद्धियों का प्रयोग करता है, या उसका आत्मनिष्ठ होनामात्र पर्याप्त है?*

उ: अन्य सब सिद्धियों की तुलना में उसकी आत्मनिष्ठा का प्रभाव कहीं अधिक शक्तिशाली है। [११] यद्यपि सिद्धियाँ कई प्रकार की होती हैं, उन सबमें ज्ञान सर्वोपरि है, क्योंकि दूसरी सिद्धियाँ जिन्होंने प्राप्त की हैं, वे भी ज्ञान की इच्छा रखते हैं। जिसने ज्ञान प्राप्त किया है, वह अन्य सिद्धियों की कामना नहीं करेगा। अत: मनुष्य को केवल ज्ञान की अभीप्सा रखनी चाहिये। [१२]

यद्यपि ये सिद्धियाँ, वे जिनके पास नहीं हैं, उनको बड़ी आश्चर्यकारक लगती हैं, फिर भी वे अस्थायी हैं। अनित्य की कामना करना निरर्थक है। ये सारे आश्चर्य एक अविकारी आत्मा में सदा उपस्थित रहते हैं। [१३]

स्वेच्छा से अपने आपको देने के लिये तैयार तथा सर्वरूप ईश्वर से सिद्धियों की याचना करना ऐसा है, जैसे कोई सब कुछ देने के लिये उद्यत उदार पुरुष से कांजी की याचना करे। परा भक्ति की प्रज्वलित ज्वाला से प्रदीप्त हृदय में सभी सिद्धियाँ एकत्रित हो जाती हैं। परमात्मा के पवित्र चरणों के दास बन चुके हृदय से भक्त कभी भी सिद्धियाँ की कामना नहीं करेगा। जानना चाहिये कि मोक्षमार्ग का अनुसरण करनेवाले साधक सिद्धियों की इच्छा को यदि हृदय में स्थान देते हैं, तो उनका बंधन और भी दृढ़ हो जाता है, और अहंकार बलवत्तर हो जाता है।

आत्मसिद्धि पूर्णता है, मुक्ति की तेजस्विता है, सत्यज्ञान की प्राप्ति है, जबकि अणिमादि सारी सिद्धियाँ मूढ मनकी भ्रान्त कल्पनाएँ हैं। [१४]

लोग तथाकथित सिद्धियों से भी अधिक चमत्कारिक घटनाएँ देखते हैं, फिर भी उन्हें सिर्फ इसलिये आश्चर्य नहीं होता कि वे हर रोज घटती हैं। मनुष्य का जन्म होता है, तब वह इस बिजली के बल्ब से अधिक बड़ा नहीं होता, लेकिन वह बढ़कर एक बड़ा कुश्तीबाज पहलवान, विश्वप्रसिद्ध कलाकार, वक्ता, राजनेता, संत या ज्ञानी बनता है। लोग इसे चमत्कार नहीं मानते, लेकिन यदि कोई मुर्दे से कुछ बुलवाये, तो वे आश्चर्यचकित हो जाते हैं। [१५]

प्रः *मैं अध्यात्ममार्ग में पिछले बीस सालों से रस ले रहा हूँ, लेकिन मैंने दूसरों की तरह कोई नया अनुभव प्राप्त नहीं किया। मैंने दूरदर्शन, दूरश्रवण इत्यादि शक्तियाँ प्राप्त नहीं कीं। मुझे ऐसा लगता है जैसे मैं इस शरीर-कारागार में बंद कर दिया गया हूँ, इससे अधिक कुछ नहीं।*

उः यह ठीक है। सत्य केवल एक है और वह आत्मा है। दूसरा सब कुछ उसमें, उसके द्वारा, तथा उसी का प्रकटीकरण है। द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन सब कुछ केवल आत्मा है। आत्मा को अलग रख कर कोई देख या सुन सकता है? किसी को निकट से या दूर से देखने या सुनने से क्या फर्क पड़ता है? दोनों में देखने तथा सुनने के अंग तथा मन की आवश्यकता होती है। दोनों में इनमें से एक भी यदि न हो तो काम नहीं चलता। एक या दूसरे प्रकार की पराधीनता है, तब दूरदर्शन और दूरश्रवण के लिये इतना मोह क्यों होना चाहिये? और जो प्राप्त किया गया है, वह नष्ट भी होगा; वह स्थायी नहीं हो सकता। (१६)

प्रः *मन से संदेश भेजने जैसी शक्तियाँ पाना अच्छा नहीं है?*

उः मनुष्य को दूर से देखने और सुनने के लिये रेडियो और टेलीपथी समर्थ बनाते हैं। ये एक हैं – देखना या सुनना। सुननेवाले के लिये दूरसे या निकट से सुनने में कोई फर्क नहीं पड़ता। मुख्य श्रोता-कर्ता है। श्रोता या कर्ता के बिना देखना-सुनना शक्य नहीं। ये मन के कार्य हैं। इसलिये सिद्धियाँ केवल मन में हैं। वे आत्मा का स्वभाव नहीं। जो स्वाभाविक नहीं बल्कि प्राप्त किया गया है, वह स्थायी नहीं हो सकता, और इस लिये प्रयत्न के काबिल नहीं है।

सिद्धियों का अर्थ विस्तारित शक्तियाँ है। सीमित शक्तिवाला मनुष्य दुःखी है, अतः वह शक्तियों को विस्तारित करना चाहता है, जिससे वह सुखी हो। लेकिन सोचिये क्या ऐसा होगा? यदि सीमित दर्शनशक्ति से वह दुःखी है, तो इस शक्ति को विस्तारित करने से वह उतनी मात्रा में अधिक दुःखी नहीं होगा? सिद्धियाँ किसी के भी लिये सुखप्रद नहीं होंगी, बल्कि अधिक दुःखप्रद होंगी।

और ये सिद्धियाँ किसलिये हैं? सिद्ध पुरुष इन सिद्धियों का प्रदर्शन करना चाहता है, जिससे दूसरे उसकी कद्र करें। वह माननीय बनना चाहता है; यदि ऐसा नहीं हुआ, तो वह दुःखी हो जायगा। उसकी कद्र करनेवाले दूसरे चाहिये। और संभवतः उससे अधिक ऊँची शक्तियों वाला कोई दूसरा सिद्ध उसे मिल सकता है। इससे द्वेष उत्पन्न होगा, जो दुःखदायी बनेगा। एक सिद्ध अपने से अधिक सिद्धिवाले से मिल सकता है, और ऐसा संभवित क्रम तब तक चल सकता है जब एक सिद्ध ऐसा आयेगा जो पलभर में सब कुछ उड़ा देगा। ऐसा सर्वोच्च सिद्ध ईश्वर या आत्मा है।

सच्ची सिद्धि कौन-सी है? ऐश्वर्य बढ़ना या शान्ति बढ़ना? जो शान्ति में परिणत हो वह सर्वोच्च सिद्धि है। (१७)

समस्याएँ और अनुभव

आध्यात्मिक साधनाओं के गौण परिणाम के रूप में शारीरिक पीड़ा, अस्वस्थता या बेचैनी, मानसिक उलझन, भावनात्मक अस्थिरता एवं बीच बीच में आनंदप्रद शान्ति के मध्यान्तर प्रायः अनुभव में आते हैं। ये अनुभव पूर्व के दो प्रकरणों में वर्णित अनुभव जितने ध्यानाकर्षक नहीं हैं, फिर भी इनका अनुभव करनेवालों के लिये बड़े महत्व के हैं। आत्मानुभव के मार्ग में ये साधारणतया प्रगतिचिन्ह अथवा अवरोध माने जाते हैं, और दो में से किसी एक के रूप में उनके विशेष अर्थघटन के कारण इनको बढ़ावा देने के या हटाने के प्रयत्न किये जाते हैं।

श्री रमण प्रायः ऐसे अनुभवों को महत्व नहीं देते थे, और यदि उनके समक्ष इनका बयान किया जाता, तो वे कहते कि अनुभव करने वाले के प्रति ध्यान रखना अधिक महत्व का है, इनका रस लेना या विश्लेषण करना नहीं। कभी कभी वे इनके कारणों की चर्चा करते, और लाभप्रद या अवरोधरूप बताते, लेकिन आत्मानुसंधान करने वाले सन्निष्ठ साधकों को इनमें रस लेने के लिये प्रोत्साहन नहीं देते थे।

यदि भक्त ध्यान के दौरान खड़े होने वाले प्रश्नों के बारे में पूछते तो वे अधिक तत्परता से जवाब देते। वे धैर्य से उनकी फरियाद सुनते, एवं प्रश्न का रचनात्मक समाधान देते और ठीक लगने पर यह समझाने का प्रयत्न करते कि आत्मा के दृष्टिकोण से इन सारी समस्याओं का अस्तित्व नहीं है।

प्रः *कभी कभी किसी को सामान्यतया आत्मा माने जानेवाले केन्द्र के बाहर से चेतना की सर्वग्राही झलक मिलती है। तत्त्वचिन्तन के शास्त्रीय सिद्धान्तों में उलझे बिना श्री भगवान् इन झलकों को पाने, स्थिर बनाने तथा विस्तृत बनाने के उपायों का सुझाव देंगे? ऐसे अनुभवों के लिये किये जानेवाले अभ्यास के लिये निवृत्ति आवश्यक है?*

उ: आप कहते हैं बाहर से। यह बाहर या अंदर किसके लिये है? द्रष्टा तथा दृश्य के विद्यमान रहने तक ही ऐसे अनुभव हो सकते हैं। ये दो किसके लिये हैं? इसका अन्वेषण करने पर आपको मालूम होगा कि वे एक द्रष्टा में विलीन होते हैं। यह द्रष्टा कौन है? इसकी तलाश कीजिये, और यह तलाश आपको द्रष्टा से पर शुद्ध चैतन्य की ओर ले जायगी।

आप कहते हैं सामान्य आत्मा। यह सामान्य आत्मा मन है। मन मर्यादित है, लेकिन शुद्ध चैतन्य मर्यादाओं से पर है, और "मैं" के भीतर गवेषणा करने से प्राप्त होता है।

आप कहते हैं पाने के लिये। आत्मा नित्यप्राप्त है, आपको मात्र इस आत्मा के प्रकट होने में अवरोध करने वाले परदे को हटाना है।

आप कहते हैं स्थिर बनाना। एक बार आप आत्मा का अनुभव कर लें, तो वह आपका सीधा और सबसे निकट का अनुभव बन जाता है और कभी नष्ट नहीं होता।

आप कहते हैं विस्तृत बनाना। आत्मा का विस्तार नहीं होता। वह जैसा है वैसा ही – संकुचित या विस्तृत हुए बिना हमेशा रहता है।

आप कहते हैं निवृत्ति। आत्मा में रहना निवृत्ति है, एकान्त है, क्योंकि आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है। निवृत्ति का अर्थ एक स्थान या स्थिति से दूसरे स्थान या दूसरी अवस्था में जाना है, लेकिन आत्मा से भिन्न यह या वह स्थान या स्थिति नहीं है। सब कुछ आत्मा होने की वजह से निवृत्ति असंभव है और अचिन्त्य है।

आप कहते हैं अभ्यास। सहज शान्ति के अवरोधों को हटाना अभ्यास है। अभ्यास करें या न करें, आप हमेशा अपनी सहज अवस्था में हैं। किसी भी प्रश्न या संदेह के बिना आप जैसे हैं वैसे रहना आपकी सहज अवस्था है। (१)

प्र: *कुछ समय ऐसे होते हैं, जब मनुष्य तथा प्राणी एक स्वप्न जैसी धुंधली पारदर्शिता धारण करते हैं। उन्हें बाहर से नहीं देखा जाता, बल्कि अपने आपके बारे में सक्रियरूप से सभान न रहकर, उनके अस्तित्व के विषय में शान्तभाव से सभान बनना होता है। मन में गहरी शान्ति होती है। ऐसे समय में क्या चित्त आत्मा में लीन होने के लिये तैयार होता है? या ऐसी स्थिति अस्वाभाविक है, और आत्मसंमोहन से उत्पन्न हुई है? अस्थायी शान्ति के अनुभव के लिये इसे प्रोत्साहन देना चाहिये?*

उ: मन में गहरी शान्ति के साथ सभानता होती है। ठीक ऐसी स्थिति प्राप्त करना हमारा लक्ष्य होना चाहिये। इस विषय में प्रश्न पूछना इस बात का संकेत है कि यही आत्मा है ऐसा तथ्य समझा नहीं गया है, और इसलिये यह स्थिति स्थायी नहीं, बल्कि आकस्मिक है।

आत्मा में लीन होने की बात तभी उपयुक्त हो सकती है, जब मनुष्य मन की बहिर्मुखता की आदत से विक्षिप्त हुआ हो, एवं उससे बचने के लिये उसे अन्तर्मुख बनना आवश्यक हो। लेकिन जब गहरी शान्ति चेतना को अवरुद्ध किये बिना अनुभवगोचर होती हो तब लीन होने की आवश्यकता कहाँ है? (२)

प्र: *ध्यान के दौरान कभी कभी मैं एक प्रकार के आनंद का अनुभव करता हूँ। ऐसे प्रसंग में क्या मुझे स्वयं को पूछना चाहिये कि आनंद का अनुभव कौन कर रहा है?*

उ: यदि वह आत्मा की सच्ची शान्ति का अनुभव होता, अर्थात् मन वस्तुतः आत्मा में लीन हुआ होता, तो ऐसा संदेह नहीं होता। यह प्रश्न सूचित करता है कि सच्चा आनंद प्राप्त नहीं हुआ।

सभी संदेह तब मिट जायेंगे जब संदेह करनेवाले को तथा उसके मूल को जान लिया जायगा। एक के बाद एक संदेह दूर करना निरर्थक है। यदि हम एक संदेह दूर करें, तो दूसरा उत्पन्न होगा, और इनका कोई अंत नहीं होगा। लेकिन संदेह करनेवाले के मूल की तलाश करके, उसका अस्तित्व ही नहीं है, ऐसा जान लिया जाय, तो सब संदेह मिट जायेंगे।

प्र: *कभी कभी मुझे आन्तरिक ध्वनि सुनाई पड़ती है। जब इस प्रकार के अनुभव हों, तब क्या करना चाहिये?*

उ: कुछ भी हो, यह पूछते हुए कि ध्वनि सुननेवाला कौन है, आत्मानुसंधान तब तक जारी रखना चाहिये जब तक सत्य प्राप्त हो जाय। [३]

प्र: *ध्यान में कभी कभी मुझे आनंद का अनुभव होता है, और मेरी आँखों में आँसू आते हैं। दूसरे समय ऐसा कुछ नहीं होता। ऐसा क्यों होता है?*

उ: आनंद नित्यप्राप्त है, वह आने-जानेवाली चीज नहीं है। जो चीज आती-जाती है, वह मन का सर्जन है, अतः आप उसकी चिन्ता न करें।

प्र: *आनंद शरीर में कंपन उत्पन्न करता है, लेकिन जब वह अदृश्य होता है तो मुझे बड़ी ग्लानि होती है, और उस अनुभव को पुनः प्राप्त करना चाहता हूँ। ऐसा क्यों होता है?*

उ: आप स्वीकार करते हैं कि आनंदानुभव होता है तब और वह अदृश्य होता है तब भी "आप" होते हैं। यदि उस "आप" को ठीक से जान लिया जाय, तो ये अनुभव महत्वहीन हो जायेंगे।

प्र: *उस आनंद का अनुभव करने के लिये, उसे पकड़ रख सके ऐसी कोई वस्तु होनी चाहिये कि नहीं?*

उ: यदि आप किसी भिन्न वस्तु को पकड़ना चाहते हैं, तो द्वैत होना अनिवार्य है, जब कि जो है वह केवल एक आत्मा है, दूसरा कुछ भी नहीं है। इसलिये कौन किसे पकड़े? और वह वस्तु क्या है जिसे पकड़ी जाय? [४]

प्र: *जब मैं अपनी साधना में निर्विचार अवस्था प्राप्त करता हूँ, तब मुझे एक प्रकार का आनंद आता है, लेकिन कभी कभी एक अस्पष्ट भय भी होता है, जिसका वर्णन मैं ठीक से नहीं कर सकता।*

उ: आप किसी भी प्रकार का अनुभव करें, आपको उसी से संतुष्ट होकर रुकना नहीं चाहिये। आप आनंद का या भय का अनुभव करें, तब अपने आपसे पूछिये कि किसे

आनंद या भय होता है, और तब तक इस प्रकार की साधना जारी रखिये जब तक आप इन दोनों से पर हो जायँ, सारा द्वैत समाप्त हो जाय, और केवल एक सत्य ही शेष रह जाय।

ऐसे अनुभव होने में कोई हानि नहीं है, लेकिन आपको वहीं रुकना नहीं चाहिये। उदाहरण के तौर पर आपको विचारों के शान्त होने पर लय के सुख से संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये, बल्कि द्वैत मिट जाय तब तक साधना जारी रखनी चाहिये। (५)

प्र: *मनुष्य भय से कैसे मुक्त हो सकता है?*

उ: भय क्या है? वह सिर्फ एक विचार है। यदि आत्मा के अलावा और कोई हो, तब भय का कारण है। कौन वस्तुओं को आत्मा से भिन्न देखता है? प्रथम अहंकार उत्पन्न होता है, और पदार्थों को बाहर देखता है। यदि अहंकार उत्पन्न न हो, तो केवल आत्मा होता है, और कोई पदार्थ बाहर नहीं होता। स्वयं से बाहर किसी पदार्थ का होना, अंदर द्रष्टा का अस्तित्व सूचित करता है, उसे वहाँ ढूँढने से संदेह तथा भय नष्ट होते हैं। न केवल भय, बल्कि अहंकार से जुड़े हुए सब विचार एवं भाव उसके साथ ही नष्ट हो जाते हैं। (६)

प्र: *मृत्यु के तीव्र भय से कैसे बचा जा सकता है?*

उ: भय आपको कब होता है? गहरी नींद में जब आप आपके शरीर को नहीं देखते, तब भय होता है क्या? वह आपके पीछे तब लग जाता है जब आप पूरी तरह जाग्रत होकर शरीर एवं जगत् को देखते हैं। यदि आप गहरी नींद की तरह शुद्ध आत्मरूप से रहें और इनको न देखें, तो भय आपका स्पर्श ही नहीं कर सकता।

यदि आप तलाश करें कि किस चीज के नाश की आशंका से भय होता है, तो मालूम होगा कि वह चीज शरीर नहीं बल्कि उसमें रहकर कार्य करनेवाला मन है। कई लोग इस रोगायतन और सब समस्याओं तथा असुविधाओं के जनक शरीर से मुक्त रहना पसंद करेंगे, यदि वे निरन्तर बनी रहनेवाली चेतना की सुरक्षा के बारे में आश्वस्त हों। मनुष्य शरीरनाश से नहीं, चेतना के नाश से भयभीत होता है। लोग अस्तित्व को पसंद करते हैं, क्योंकि वह शाश्वत चैतन्य है जो उनकी अपनी आत्मा है। तो क्यों न हम अभी से, शरीर में रहते हुए ही शुद्ध चैतन्य का अवलंबन करके सब भयों से मुक्त हो जायँ? (७)

प्र: *मैं जब निर्विचार रहना चाहता हूँ, तो नींद आती है। नींद से बचने के लिये मुझे क्या करना चाहिये?*

उ: एक बार नींद में चले जायँ, तो आप कुछ नहीं कर सकते। लेकिन जब तक आप जाग्रत अवस्था में हैं, तब तक विचारों से मुक्त रहने का प्रयत्न कीजिये। आप नींद के बारे में क्यों सोचते हैं? वह भी एक विचार है, है कि नहीं? यदि जाग्रत स्थिति में निर्विचार रह सकें तो पर्याप्त है। नींद के पूर्व आप जिस स्थिति में होते हैं, जगने पर वही जारी रहती है। आप जगने पर वहीं से प्रारंभ करते हैं, जहाँ नींद में जाने से पहले आपने छोड़ा था। जब तक कुछ करने के विचार रहेंगे, तब तक नींद भी रहेगी। विचार और नींद एक ही स्थिति के दो पहलू हैं।

न हमें अधिक सोना चाहिये, न ही जगना चाहिये, उचित मात्रा में नींद लेनी चाहिये। अधिक नींद से बचने के लिये हमें विचारों से मुक्त – चित्तस्पन्द से मुक्त – रहना चाहिये। केवल सात्विक आहार उचित मात्रा में लेना चाहिये, तथा अधिक शारीरिक गतिशीलता से बचना चाहिये। जितना अधिक हम विचार, सक्रियता और आहार का नियमन करेंगे, उतना ही अधिक नींद पर प्रभुत्व प्राप्त कर सकेंगे। गीता में समझाया गया है, वैसे मध्यममार्ग हमारा नियम होना चाहिये। सब ग्रंथों में नींद को साधक का प्रथम विघ्न बताया गया है। विक्षेप उत्पन्न करने वाले इन्द्रियों के विषय दूसरा विघ्न है। कषाय अर्थात् पूर्वानुभवजन्य विषयों के संस्कार तीसरा विघ्न है। और आनंद का अनुभव चौथा विघ्न है, क्योंकि उस अवस्था में आनंद के मूल से अपनी भिन्नता का भाव होता है, जो अनुभव करनेवालो को यह कहने के लिये समर्थ बनाता है कि मैं आनंद का अनुभव कर रहा हूँ। इस पर भी विजय पाना आवश्यक है। इस प्रकार समाधि की अंतिम भूमिका प्राप्त करनी चाहिये, जिसमें साधक आनंद या सत्य से एकरूप हो जाता है। इस अवस्था में आत्मा अर्थात् सच्चिदानंद के असीम समुद्र में भोक्ता-भोग्यरूप द्वैत समाप्त हो जाता है। [८]

प्र: *तो साधक को आनंददायक अवस्था को जारी रखने का यत्न नहीं करना चाहिये?*

उ: आनंदानुभव समाधि का अंतिम विघ्न है। आप बड़े सुख का अनुभव करते हैं, और उस आनंद में ही रहना चाहते हैं। इसके वश में नहीं होना चाहिये, और परम शान्ति की अगली भूमिका के प्रति आगे बढ़ना चाहिये। शान्ति आनंद से उच्चतर है, जो समाधि में लीन हो जाती है। सफल समाधि जाग्रत्सुषुप्त अवस्था लाती है। उस अवस्था में आप जानते हैं कि आप हमेशा चेतन हैं, क्योंकि चैतन्य आपका स्वरूप है। वस्तुत: मनुष्य हमेशा समाधि में होता है, लेकिन वह ऐसा जानता नहीं है, इसे जानने के लिये आपको सिर्फ अवरोधों को हटाना है। [९]

प्र: *काव्य, संगीत, जप, कीर्तन, भजन, सुंदर दृश्य देखना और आध्यात्मिक रहस्यवाली पंक्तियों को पढ़ना इत्यादि से कभी कभी मनुष्य को व्यापक एकत्व का अहसास होता है। क्या यह गहरी आनंदपूर्ण शान्ति का अनुभव, जिसमें वैयक्तिक अहं का स्थान नहीं होता, श्री भगवान् कहते हैं ऐसा हृदय-प्रवेश का अनुभव है? क्या ऐसे साधनों से गहरी समाधि लग सकती है और सत्य का पूर्ण दर्शन हो सकता है?*

उ: मन के समक्ष उसे पसंद आनेवाली चीजें रक्खी जायें, तो उसे आनंद होता है। यह आनंद आत्मा का ही है, क्योंकि दूसरा कोई आनंद नहीं है, और वह हमसे दूर या भिन्न नहीं है। ऐसे आनंददायक प्रसंगों में आप आत्मा में निमज्जन करते हैं, जो स्वयंभू आनंद में परिणत होता है, लेकिन विचारों के संबंध के कारण इस आनंद का आरोप दूसरी वस्तुओं पर या घटनाओं पर किया जाता है, जबकि वस्तुत: आनंद आप में ही है। ऐसे प्रसंगों पर आप अनजाने में ही आत्मा में निमज्जित होते हैं। यदि आप पूर्ण सभानता से कि वस्तुत: आप आनंदमात्र तथा एक अद्वितीय सत्यस्वरूप आत्मा से अभिन्न हैं, ऐसे निश्चय के साथ

आत्मा में निमज्जन करें, तो उसे आत्मसाक्षात्कार कहते हैं। मैं चाहता हूँ कि आप पूरी सभानता से हृदयरूप आत्मा में डूबें। [१०]

प्र: *मैं करीब बीस साल से साधना कर रहा हूँ, लेकिन मुझे प्रगति होती दिखती नहीं है। मुझे क्या करना चाहिये? हर रोज सुबह करीब पाँच बजे से मैं केवल एक आत्मा ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है, इस विचार पर एकाग्रता का अभ्यास करता हूँ। बीस वर्षों से ऐसा करते रहने पर भी मैं दो-तीन मिनट से अधिक निर्विचार नहीं रह पाता। मैं क्या करूँ?*

उ: हर बार मन बर्हिमुख बने, तब उसे वापस लाकर आत्मा में स्थिर करने के अलावा सफलता का अन्य कोई उपाय नहीं है। ध्यान, मंत्र, या ऐसी किसी भी चीज की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये हमारा वास्तविक स्वरूप हैं। जो आवश्यक है वह सिर्फ इतना कि आत्मा से भिन्न किसी वस्तु का विचार न किया जाय। ध्यान आत्मविषयक विचार नहीं है, अनात्मविषयक विचारों का त्याग है। जब आप बाह्य पदार्थों के विचारों को त्यागकर तथा मन को अन्तर्मुख बनाकर आत्मा में स्थिर करके, उसे बहिर्मुख बनने से रोकें, तो आत्मा ही शेष रहेगा।

प्र: *इन विचारों तथा इच्छाओं के खींचाव से बचने के लिये मुझे क्या करना चाहिये? विचारों पर नियंत्रण रखने के लिये मुझे कौन-से नियमों का पालन करना चाहिये?*

उ: जैसे जैसे अधिक आप आत्मा में स्थिर होते जायेंगे, वैसे वैसे अन्य सब विचार अपने आप छूट जायेंगे। मन विचारसमूह के अलावा ओर कुछ नहीं है, और उन सबका मूल अहंविचार है। जब आप देखेंगे कि यह अहं कौन है, और यह ढूँढ निकालेंगे कि वह कहाँ से उत्पन्न होता है, तो सब विचार आत्मा में लुप्त हो जायेंगे। जीवन का नियमन, निश्चित समय पर जगना, स्नान करना, मंत्र जप करना, धार्मिक विधि करना इत्यादि उन लोगों के लिये आवश्यक हैं, जो आत्मानुसंधान के प्रति आकृष्ट नहीं होते या जो इसके लिये समर्थ नहीं हैं। इस पद्धति के अनुसार अभ्यास करनेवालों के लिये सब नियम एवं अनुशासन अनावश्यक हैं। [११]

प्र: *बार बार प्रयत्न करने पर भी मन क्यों अन्तर्मुख नहीं होता?*

उ: यह काम अभ्यास और वैराग्य से होता है, एवं केवल धीरे धीरे होता है। मन दूसरों के खेत में चोरी से घास चरने की आदतवाली गाय के समान है, जिसे सरलता से अपनी गोशाला में नहीं रक्खा जा सकता। उसका मालिक कितनी ही हरी घास से और अन्य अच्छे खुराक से उसे ललचाये, पहले तो वह उसका स्वीकार ही नहीं करती। कुछ समय बाद वह थोड़ी हरी घास स्वीकार करके ठहरती है, लेकिन उसकी भटकने की पुरानी आदत फिर से अपना बल दिखाती है, और वह भाग खड़ी होती है। मालिक के बार बार ललचाने पर धीरे धीरे वह अपनी शाला में रहने की आदी बन जाती है, और आखिर उसे स्वतंत्र छोड़ने पर भी भटकती नहीं है। मन के बारे में भी यह सच है। यदि एक बार उसे अंदर के सुख का पता चल जाय, तो वह बाहर नहीं भटकेगा।

प्रः *परिस्थितिवशात् ध्यान में उतार-चढ़ाव होता है क्या?*

उः हाँ, होता है। कभी कभी प्रकाश अधिक होता है और ध्यान सरल होता है। दूसरे समय बार बार प्रयत्न करने पर भी ध्यान करना असंभव होता है। ऐसा सत्त्व, रजस् एवं तमस्, इन तीन गुणों की प्रवृत्ति के कारण होता है।

प्रः *क्या व्यक्ति के कार्य एवं परिस्थिति का भी प्रभाव ध्यान पर पड़ता है?*

उः नहीं, इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कर्तृत्वभाव विघ्न है। [१२]

प्रः *मेरा मन दो तीन दिन स्वच्छ रहता है, तथा दूसरे दो तीन दिन मूढ़-सा हो जाता है, इस प्रकार बदलाव होता रहता है, ऐसा क्यों?*

उः यह बिल्कुल स्वाभाविक है। सत्त्व की शुद्धि, रजस् की प्रवृत्ति, तथा तमस् की मूढ़ता इसका कारण है। तमोगुण प्रवृत्त हो, तब खिन्न मत बनिये, लेकिन सत्त्व के प्रवृत्त होने पर उसका पूरा लाभ उठाइये। [१३]

प्रः *मनुष्य को कभी कभी लगता है कि भौतिक शरीर उसे स्थिरतापूर्वक ध्यान नहीं करने देता। इस कारण शरीर को शिक्षित करने के लिये योग का अभ्यास करना चाहिये?*

उः यह सब मनुष्य के पूर्व संस्कारों पर निर्भर है। एक मनुष्य शरीर के रोगों को मिटाने के लिये हठयोग का अभ्यास करेगा, दूसरा श्रद्धा से प्रभुप्रार्थना करेगा, तीसरा अपनी इच्छाशक्ति का प्रयोग करेगा और चौथा इनके प्रति बिल्कुल उदासीन रहेगा। लेकिन ये सभी ध्यान जारी रक्खेंगे। आत्मान्वेषण महत्व की बात है, शेष सब गौण है। [१४]

प्रः *मेरे एकाग्रता के प्रयत्न हृदय की धड़कन बढ़ जाने से तथा जल्दी चलनेवाली कष्टदायक साँसों से निष्फल हो जाते हैं। तब विचार भी बलपूर्वक बाहर आने लगते हैं, मन अनियंत्रित बन जाता है। स्वास्थ्य अच्छा हो तो मैं अधिक सफल होता हूँ, और गहरे ध्यान के समय साँस रुक जाती है। मैं श्री भगवान् की सन्निधि का लाभ उठाने और ध्यान में सफल बनने के लिये बहुत समय से उत्सुक था, और काफी प्रयत्न करके यहाँ आया हूँ। यहाँ आकर मैं बीमार हो गया। मैं ध्यान नहीं कर पाता था एवं निरुत्साह हो गया था। जल्दी चलनेवाली साँसों से परेशान होने पर भी मैंने मन को एकाग्र करने का दृढ़ प्रयत्न किया, और आंशिक रूप से सफल भी हुआ, फिर भी मैं इतने से संतुष्ट नहीं हूँ। इस स्थान को छोड़ने का समय निकट आ रहा है। यहाँ से जाने के विचार से मैं और भी उदासीन हो जाता हूँ। मैं देखता हूँ कि इस खंड में ध्यान करके लोग शान्ति का अनुभव करते हैं, जबकि ऐसी शान्ति मुझे नसीब नहीं हुई। इससे मेरी उदासी और भी बढ़ती है।*

उः "मैं एकाग्रता नहीं कर सकता" ऐसा विचार स्वयं विघ्न है। ऐसा विचार क्यों उत्पन्न होना चाहिये?

प्रः *मनुष्य दिन के चौबीस घण्टे निर्विचार रह सकता है? क्या मुझे बिना ध्यान किये ही रहना चाहिये?*

उ: चौबीस घण्टे क्या हैं? एक ख्याल है। आपका प्रत्येक प्रश्न विचार से प्रेरित है। जब भी कोई विचार उत्पन्न हो, तो उसके साथ मत दौड़िये। आत्मा को भूलने पर ही मनुष्य शरीर के बारे में विचार करता है। लेकिन क्या आप आत्मा को भूल सकते है? आत्मा होकर आत्मा को कैसे भुलाया जा सकता है? एक दूसरे को भूला सके इसके लिये अवश्य दो आत्मा होने चाहिये, यह असंगत बात है। इसलिये न तो आत्मा निरुत्साह होता है, न ही वह अपूर्ण है। वह हमेशा सुखी रहता है। इससे विरुद्ध के सब भाव विचार हैं, और दुर्बल हैं। विचारमुक्त रहिये। किसी को भी ध्यान का प्रयत्न क्यों करना चाहिये। आत्मा होने के नाते मनुष्य हमेशा मुक्त है। आपको केवल निर्विचार रहना है।

आप कहते हैं कि आपका स्वास्थ्य आपको ध्यान नहीं करने देता। इस उदासी को उसके उद्गमस्थान तक ढूँढना चाहिये। आत्मा का शरीर के साथ गलत तादात्म्य इसका मूल है। रोग शरीर का है, आत्मा का नहीं, लेकिन शरीर आपको नहीं कहता कि वह रोगग्रस्त है, आप ऐसा कहते हैं। क्यों? क्योंकि आप अपने आपका शरीर से तादात्म्य करते हैं। स्वयं शरीर एक विचार है। आप वस्तुत: जो हैं वह रहिये। तब उदासी का या निराशा का कोई कारण नहीं है। (१५)

प्र: *मान लीजिये ध्यान के दौरान मच्छर काटने जैसी परेशानियाँ होती हैं। उन्हें सहन करके या उनकी अवगणना करके ध्यान जारी रखना चाहिये, या मच्छर को भगाकर पुन: ध्यान शुरू करना चाहिये?*

उ: आपको जो सबसे अधिक अनुकूल लगे वह करना चाहिये। आपको मच्छर भगाने से मुक्ति नहीं मिलनेवाली है। मुख्य बात एकाग्र होकर मनोनाश करने की है, इसे चाहे आप मच्छर के दंश को सहन करके कीजिये या उन्हें भगाकर कीजिये, यह आप पर निर्भर है। यदि आप ध्यान में पूर्णतया निमग्न हों, तो आपको मच्छर काटने का ख्याल नहीं रहेगा। जब तक आप उस अवस्था तक नहीं पहुँचे, तो मच्छरों को भगाने में क्या हर्ज है? (१६)

प्र: *कहा जाता है कि ध्यान करनेवालों को नये रोग हो जाते हैं। कुछ भी हो, मुझे छाती में तथा पीठ पर पीड़ा का अनुभव होता है। लोग कहते हैं कि ईश्वर परीक्षा कर रहा है। क्या भगवान् इस विषय में स्पष्टता करेंगे?*

उ: आपसे बाहर कोई भगवान् नहीं है, इसलिये परीक्षा नहीं होती। आप जिसे ध्यान-जन्य रोग या परीक्षा समझते हैं, वह वास्तव में आपके ज्ञानतंतु या इन्द्रियों का तनाव है। अब तक मन ज्ञानेन्द्रियों से जुड़कर नाडियों के माध्यम से बाह्यपदार्थों को जानता था। अब उसे इस संबंध से मुक्त होने के कार्य में लगाया जा रहा है, जिससे स्वाभाविक रूप से पीडायुक्त तनाव पैदा होता है, जिसे कुछ लोग रोग या ईश्वर की परीक्षा कहते हैं। यदि आप विचारशक्ति का उपयोग केवल अपने आपको जानने के लिये अर्थात् आत्मसाक्षात्कार के लिये करते हुए ध्यान जारी रक्खें, तो ये सारी पीड़ाएँ मिट जायेंगी। आत्मा अर्थात् ईश्वर से

योग या एकता से बढ़कर और कोई इलाज नहीं है। इतने लंबे अरसे से आपका साथ निभानेवाली वासनाओं के त्याग के परिणामस्वरूप पीड़ा होना अनिवार्य है। (१७)

प्र: *इच्छाओं और वासनाओं से मुक्त होने का कौन-सा अच्छा मार्ग है, उनको तृप्त करना या दबा देना?*

उ: यदि किसी इच्छा को तृप्त करने से उससे मुक्ति मिल जाती, तो उसे तृप्त करने में कोई हानि नहीं है। लेकिन साधारणतया तृप्त करने से इच्छाओं का नाश नहीं होता। इस तरह उनके उन्मूलन का यत्न ऐसा है, जैसे ज्वलनशील वस्तुओं को डालकर आग को शान्त करने का प्रयत्न करना। साथ ही, बलपूर्वक उनको दबा देना भी योग्य उपाय नहीं है, क्योंकि इस प्रकार दबाने से तुरंत या विलंब से प्रतिक्रिया होना एवं और भी बलपूर्वक उनका प्रकट होना तथा अनिष्ट परिणाम होना अनिवार्य है। इच्छा से मुक्त होने का सही उपाय वह किसे होती है? उसका मूल क्या है? यह ढूँढ निकालना है। इसे जान लेने पर इच्छा का उन्मूलन हो जाता है, और वह फिर से कभी भी प्रकट या विकसित नहीं होती। छोटी छोटी निर्दोष इच्छाएँ, जैसे खाने, पीने, सोने की या कुदरती वेगों से मुक्त होने की इच्छाएँ निर्भयता से पूरी की जा सकती हैं, यद्यपि ये भी इच्छा के ही वर्ग में आती हैं। ये आपके मन में वासना या संस्कार नहीं उत्पन्न करेंगी, जिससे कि आपको पुनर्जन्म लेना पड़े। ये क्रियाएँ जीवन धारण के लिये आवश्यक हैं, और अपने पीछे वासना या वृत्ति को नहीं छोड़तीं, न ही उन्हें विकसित करती हैं। इसलिये सामान्य नियम यह है कि जो इच्छाएँ मन में संस्कारनिर्माण द्वारा नई इच्छाओं को जन्म नहीं देतीं, उन्हें तृप्त करने में कोई हानि नहीं है। (१८)

प्र: *ध्यानाभ्यास के दौरान ऐसे आत्मगत अनुभवरूप चिन्ह हैं, जो साधक के आत्मसाक्षात्कार के मार्ग में प्रगति के निशान माने जा सकते हैं?*

उ: अनिष्ट विचारों से मुक्ति की एवं एक ही सद्‌विचार पर एकाग्रता की शक्ति की मात्रा से विकास नापा जा सकता है। (१९)

सिद्धान्त

सब आध्यात्मिक चर्चाएँ निष्फल हैं, जब तक वे हमें अपने भीतर सत्यरूप में अवस्थित आत्मा को जानने की गवेषणा के लिये प्रेरित नहीं करतीं। सृष्टिविषयक वाद, विश्व का स्वरूप, उत्क्रान्ति, ईश्वर का हेतु इत्यादि विवाद निरर्थक हैं। ये हमें सच्चे सुख के प्रति नहीं ले जाते। लोग प्रथम "मैं कौन हूँ" के सत्य को जानने के प्रयत्न के बदले अपने से बाहर रहे हुए पदार्थों के सत्य को जानने का यत्न करते हैं। केवल स्वयं को जानने से ही आनंद प्राप्त हो सकता है।

सृष्टिविषयक वाद और जगत् का सत्य

श्री रमण को आध्यात्मिकता के सैद्धान्तिक पक्ष में कोई रस नहीं था। उनका मुख्य उद्देश्य लोगों को आत्मा के विषय में सभान बनाना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये वे हमेशा भारपूर्वक कहते थे कि तर्क या कल्पना करने से अभ्यास करना अधिक महत्वपूर्ण है। वे सैद्धान्तिक प्रश्नों को महत्व नहीं देते थे। ऐसे प्रश्न पूछे जाने पर मौन रहते थे या पूछनेवाले को अहं का मूल ढूँढने के लिये कहते थे। कभी कभी वे सहानुभूति के कारण विभिन्न तात्विक प्रश्नों के सविस्तर उत्तर देते थे, लेकिन यदि प्रश्न पूछनेवाला अपनी बात को अनावश्यक रूप से बढ़ाता या बातचीत निष्फल बौद्धिक व्यायाम की ओर मुड़ती, तो वे विषय बदल देते या उसे अभ्यास की ओर ध्यान देने के लिये कहते।

तत्त्वचिन्तनविषयक प्रश्नों में अधिकांश भौतिक विश्व के मूल कारण से संबंधित होते थे, क्योंकि श्री रमण विश्व के विषय में सामान्यतया स्वीकृत धारणाओं से बिल्कुल भिन्न विचार रखनेवाले के रूप में प्रसिद्ध थे। अन्य विषयों की तरह वे अपने विधानों को पूछनेवालों के बौद्धिक स्तर के अनुरूप बनाते थे, फिर भी उनके विचार अधिकांश लोगों के द्वारा स्वीकृत भौतिक अस्तित्व की सत्यता का मूलभूत रूप से खंडन करनेवाले होते थे।

श्री रमण भौतिक विश्व के बारे में तीन भिन्न दृष्टिबिन्दुओं का स्वीकार करके बोलते थे। विभिन्न समयों में वे उन तीनों का स्वीकार करते थे, लेकिन इस विषय में उनकी साधारण टिप्पणियों से यह स्पष्ट होता है कि वे निम्नलिखित में से प्रथम दो मतों को सत्य अथवा उपयोगी मानते थे :-

१- **अजातवाद** (अकारणवाद) : यह प्राचीन हिन्दु सिद्धान्त है जो मानता है कि सृष्टि कभी हुई ही नहीं। इसमें भौतिक विश्व विषय में कारणता का पूर्ण इन्कार है। श्री रमण इसका यह कहकर समर्थन करते थे कि यह ज्ञानियों का स्वानुभव है जिसके अनुसार कोई भी पदार्थ न तो अस्तित्व में आता है, न ही नष्ट होता है, क्योंकि केवल एक अविकारी आत्मा का ही सच्चा अस्तित्व है। इस सिद्धान्त से यह

फलित होता है कि देश और काल, कारण और कार्य – जो कि सृष्टिवाद के तात्विक घटक हैं – केवल अज्ञानियों के मन में होते हैं, और आत्मा का अनुभव इनकी सत्ता के अभाव को प्रकट कर देता है।

यह सिद्धान्त जगत् के सत्य का इन्कार नहीं है, बल्कि उस सृष्टिप्रक्रिया का इन्कार है, जिससे विश्व अस्तित्व में आता है। अपने अनुभव के बल पर श्री रमण कहते थे कि ज्ञानी की दृष्टि में विश्व सत्य है, लेकिन द्रव्य तथा शक्ति की परस्पर प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुए संघात के रूप में नहीं, बल्कि आत्मा में अकारण दिखने वाले दृश्य के रूप में सत्य है। इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते कि चूँकि इस दृश्य का सच्चा स्वरूप अर्थात् अधिष्ठान आत्मा की सत्ता के साथ एकरूप है, वह तात्त्विक एवं आवश्यक रूप से आत्मा के सत्य का एक भाग है। अर्थात् ज्ञानी के लिये जगत् केवल इसलिये सत्य नहीं है कि वह दिखता है, बल्कि इसलिये कि इस दृश्य का सच्चा स्वरूप आत्मा से अभिन्न है।

इसके विरुद्ध, अज्ञानी जगत् की मूलभूत एकात्मता तथा उसके उत्पत्ति स्थान को नहीं जानता, अतः उसका चित्त इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त हुए प्रभावों का गलत अर्थघटन करके, भिन्न भिन्न एवं परस्पर प्रतिक्रिया करनेवाले पदार्थों से बना भ्रामक जगत् रच लेता है। श्री रमण यह स्पष्ट करते कि जगत् के विषय में ऐसी धारणा स्वप्न से अधिक सच्ची नहीं है, क्योंकि इसमें आत्मा के सत्य स्वरूप पर मन के द्वारा रचे गये जगत् का आरोप किया जाता है। वे ज्ञानी तथा अज्ञानी के दृष्टिबिन्दुओं के भेद का यह कहकर निरूपण करते कि मन के द्वारा देखे गये विभिन्न पदार्थों के संघात के रूप में देखा गया जगत् मिथ्या है, जब कि आत्मा में दिखनेवाले दृश्य के रूप में देखा गया जगत् सत्य है।

२- **दृष्टिसृष्टिवाद** : यदि पूछनेवालों को अजातवाद स्वीकार करना असंभव लगता, तो वे उनसे कहते कि जगत्रूप दृश्य अहंविचाररूप द्रष्टा के साथ साथ अस्तित्व में आता है, एवं उसके अदृश्य होने के साथ अदृश्य हो जाता है। यह मत दृष्टिसृष्टिवाद या समकालीन सृष्टिवाद कहा जाता है, जिसके अनुसार अज्ञानी को दिखनेवाला जगत् उसे देखनेवाले मन की सृष्टि है, और उस मन के अभाव में वह नष्ट होता है। मन वस्तुतः अपने लिये एक काल्पनिक जगत् रच लेता है, इस बात को स्वीकार करने तक यह मत सच्चा है, लेकिन आत्मा के दृष्टिकोण के अनुसार एक काल्पनिक द्रष्टा एक काल्पनिक दृश्यरूप जगत् को रचता है, अतः यह वास्तविक सर्जन है ही नहीं; इस तरह इससे अजातवाद का प्रतिषेध नहीं होता। यद्यपि श्री रमण प्रायः यह कहते कि दृष्टिसृष्टिवाद सृष्टि के विषय में अंतिम सत्य नहीं है, फिर भी वे अपने अनुयायियों को इसे एक अस्थायी कार्यकारी मत के रूप में स्वीकार करने के लिये प्रोत्साहित करते थे। इसके समर्थन में वे कहते कि यदि साधक

हमेशा जगत् को मन की काल्पनिक सृष्टि मानकर चलता है, तो जगत् अपना आकर्षण खो देता है, और इससे अहंस्फुरण की विक्षेपरहित अखंडवृत्ति को बनाये रखने में सरलता होती है।

३- **सृष्टिदृष्टिवाद** (क्रमिक सृष्टिवाद) : यह साधारणतया सर्वस्वीकृत मत है। इसकी यह मान्यता है कि जगत् एक मूलभूत सर्जनकर्म से प्रकट हुआ तथा वह कारण-कार्य के नियम से नियंत्रित होनेवाली वास्तविक सत्ता है। इसमें वैज्ञानिकों के बीग बेन्ग – बड़ा धमाका – वाद से बायबल के जेनेसिस के वर्णन तक के सब पाश्चात्य मतों का समावेश होता है। श्री रमण इस वाद का प्रतिपादन तभी करते थे जब प्रश्नकर्ता अजातवाद और दृष्टिसृष्टिवाद को स्वीकारने के अनिच्छुक होते थे। वे प्रायः कहा करते थे कि इन वादों को गंभीरता से नहीं लेना चाहिये, क्योंकि इनकी चर्चा केवल बौद्धिक कुतूहल को शान्त करने के लिये की जाती है।

शब्दार्थ के अनुसार दृष्टिसृष्टिवाद का मतलब है कि जगत् का अस्तित्व उसे जब देखा जाय तभी होता है, जब कि सृष्टिदृष्टि का मतलब है कि किसी के देखने से पूर्व ही जगत् का अस्तित्व होता है। दृष्टिसृष्टिवाद यद्यपि उल्टा लगता है, फिर भी श्री रमण गंभीर साधकों को इससे संतुष्ट रहने का आग्रह करते थे, क्योंकि वह आंशिकरूप से सत्य के अधिक निकट है, और आत्मानुसंधान के मार्ग पर गंभीरतापूर्वक चलनेवाले साधकों के लिये सर्वाधिक लाभप्रद है।

प्र: *सृष्टि किस प्रकार हुई? कुछ लोग कहते हैं कि वह नियति है, दूसरे लोग उसे ईश्वर की लीला कहते हैं। इसमें सत्य क्या है?*

उ: ग्रंथों में विभिन्न वर्णन दिये गये हैं। लेकिन सृष्टि का अस्तित्व है क्या? यदि सृष्टि होती तो वह कैसे हुई इसे समझाना आवश्यक होता। इन सब बातों को शायद हम नहीं जान सकते, लेकिन हम निश्चित रूप से जानते हैं कि हमारा अस्तित्व है। क्यों पहले "मैं" को न जाना जाय, और फिर देखा जाय कि सृष्टि है या नहीं?

प्र: *श्री शंकराचार्य के वेदान्त में जगत की सृष्टि के सिद्धान्त को प्रारंभिक साधकों के लिये स्वीकार किया गया है, लेकिन आगे बढ़े हुए ज्ञानियों के लिये अजातवाद प्रस्थापित किया जाता है। इस विषय में आपकी क्या राय है?*

उ: "गौडपादकारिका" के दूसरे प्रकरण में श्लोक है :-

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता ॥

"प्रलय या सृष्टि नहीं है, न कोई बद्ध है न साधक। न कोई मुमुक्षु है, न ही मुक्त है। यह परमार्थ सत्य है"।

जो आत्मनिष्ठ हो गया है, वह अपने अनुभव से सत्य के इस स्वरूप को जानता है।[२]

प्र: *क्या आत्मा हमारे चारों ओर दिखनेवाले जगत् का कारण नहीं है?*

उ: आत्मा स्वयं विविध नामरूपवाले विश्व के रूप में दिखता है। लेकिन आत्मा इसको उत्पन्न करने, बनाये रखने तथा प्रलय करने का निमित्त कारण नहीं है। ऐसा मत पूछिये कि यह भ्रम – अर्थात् स्वयं आत्मा विश्वरूप में व्यक्त हुआ है इस बात का अज्ञान – क्यों है? बजाय इसके, अन्वेषण कीजिये की यह भ्रम किसे हुआ है? तब यह भ्रम आत्मा को कभी हुआ ही नहीं, यह सत्य प्रकट होगा।[३]

प्र: *लगता है आप अद्वैत वेदान्त के अजातवाद का समर्थन करते हैं।*

उ: मैं केवल अजातवाद का समर्थक नहीं हूँ, बल्कि सभी मतों का समर्थन करता हूँ। सुननेवाले की समझने की शक्ति के अनुरूप एक ही सत्य को विविध रूपों में प्रकट करना पड़ता है। अजातवाद कहता है कि एक सत्य के अलावा और किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है, प्रक्षेपण (सृष्टि) एवं प्रलय नहीं हैं, जन्म-मृत्यु नहीं हैं, साधक-सिद्ध, बंधन-मुक्ति नहीं हैं। केवल अद्वितीय सत्ता का अस्तित्व है। जो लोग इस सत्य को आत्मसात् करने की क्षमता नहीं रखते, और पूछते हैं कि हम हमारे चहुँओर दिखनेवाले इस ठोस विश्व की अवगणना कैसे कर सकते हैं, उन्हें स्वप्न के अनुभव के आधार पर कहा जाता है कि आप जो कुछ देखते हैं, वह द्रष्टा पर निर्भर करता है। द्रष्टा से अलग दृश्य नहीं हो सकता। इसे दृष्टिसृष्टिवाद कहते हैं, अर्थात् मनुष्य प्रथम अपने मन से सृष्टि उत्पन्न करता है, और बाद में स्वयं अपने मन से रची हुई सृष्टि को देखता है। कुछ लोग इसे भी समझ नहीं सकते हैं, और तर्क करते हैं कि स्वप्न का अनुभव क्षणिक है, जब कि जगत् हमेशा रहता है। स्वप्न अनुभव सिर्फ मेरे लिये सत्य था, लेकिन जगत् मेरे तथा अन्य कई लोगों के द्वारा देखा तथा अनुभव किया जाता है। ऐसे जगत् को हम असत् नहीं कह सकते। जो लोग ऐसे तर्क करते हैं, उन्हें सृष्टिदृष्टिवाद बताया जाता है कि ईश्वर ने सबसे पहले अमुक तत्त्व से अमुक पदार्थ बनाया, और तब दूसरा पदार्थ बनाया इत्यादि। इस वर्ग के लोग केवल इसी से संतुष्ट होते हैं। उनका मन किसी अन्य तरीके से संतुष्ट नहीं होता, क्योंकि वे स्वयं से पूछते हैं कि यह सारा भूगोल, खगोल, नकशे, सारे विज्ञान, सितारे, ग्रह-नक्षत्र, एवं उन सबको नियंत्रण में रखनेवाले प्रकृति के कानून तथा इन सबका ज्ञान पूर्णरूप से असत्य कैसे हो सकता है? इनको यही कहना श्रेष्ठ है : "हाँ, यह सब ईश्वर ने बनाया है, इसलिये आप इसे देख रहे हैं"।

प्र: *लेकिन ये सारे वाद सच नहीं हो सकते, एक ही सत्य हो सकता है।*

उ: ये सारे वाद सुननेवाले की बुद्धिशक्ति के अनुरूप बताये जाते हैं। परमार्थ सत्य केवल एक है।[४]

वेदान्त कहता है ब्रह्मांड द्रष्टा के साथ प्रकट होता है, इसका क्रमशः विकास नहीं होता। इसे "युगपत्सृष्टि" – साथ साथ होनेवाली या क्षणिक सृष्टि – कहते हैं। यह स्वप्नसृष्टि जैसी है, जिसमें द्रष्टा अनुभव किये जाने वाले पदार्थों के साथ उत्पन्न होता है। ऐसा कहने पर कुछ लोग संतुष्ट नहीं होते, क्योंकि वे वस्तुसत्तात्मक ज्ञान में गहराई से डूबे हुए हैं। वे समझना चाहते हैं कि अकस्मात् सृष्टि कैसे हो सकती है? कार्य के पूर्व कारण का होना आवश्यक है। संक्षेप में, वे चारों ओर दिखनेवाले जगत् का कारण जानना चाहते हैं। इसलिये श्रुति उनकी इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिये सृष्टिविषयक विभिन्न वाद प्रस्तुत करती है, जिन्हें क्रमसृष्टिवाद कह सकते हैं। लेकिन सच्चा साधक युगपत्सृष्टिवाद से आश्वस्त हो जाता है। (५)

प्रः *सृष्टि का हेतु क्या है?*

उः इस प्रश्न को उठाना इसका हेतु है। इस प्रश्न का उत्तर ढूँढिये, और अंत में सबके परम कारण या आदिबीजरूप आत्मा में रहिये। ऐसी गवेषणा का पर्यवसान आत्मानुसंधान में होगा, और वह तभी समाप्त होगी जब अनात्मा हटा दिया जायगा एवं अपनी पूर्ण शुद्धता और महिमा में आत्मा जान लिया जायगा। (६)

सृष्टिविषयक सब वाद बाहर की ओर विस्तृत होते हैं, उनकी कोई मर्यादा – सीमा – नहीं हो सकती, क्योंकि देश–काल अनंत है। लेकिन वे सब केवल मन में हैं। यदि आप मन को देखें, तो देशकाल से पर होकर आत्मा को जान लेंगे।

सृष्टि को स्वयं के संतोष के लिये वैज्ञानिक अथवा तार्किक ढंग से समझाया जाता है, लेकिन क्या उससे कोई अंतिम समाधान देनेवाला निर्णय हाथ लगता है? ऐसे सब स्पष्टीकरण क्रमसृष्टिवाद कहे जाते हैं। उनसे विरुद्ध दृष्टिसृष्टिवाद या युगपत्सृष्टिवाद है। द्रष्टा के बिना पदार्थ नहीं दिख सकते। द्रष्टा को ढूँढ निकालिये, तो सृष्टि उसमें समाविष्ट दिखेगी। बाहर की ओर देखते हुए निःसीम दृश्य को समझने के सारे यत्न निरर्थक हैं। (७)

प्रः *वेद में सृष्टि के बारे में विरुद्ध वर्णन मिलते हैं। एक जगह आकाश को प्रथम सर्जन कहा गया है, दूसरी जगह प्राण को, तीसरी जगह किसी तीसरी वस्तु को, चौथे में जल को इत्यादि। इनका मेल कैसे बिठाया जाय? क्या इससे वेद के प्रामाण्य को आघात नहीं पहुँचता?*

उः विभिन्न ऋषियों ने विभिन्न समयों में सत्य के विभिन्न पहलूओं को देखा, जिनमें से प्रत्येक एक पहलू पर भार देता है। आप इन विरुद्ध विधानों की चिन्ता क्यों करते हैं? वेद का मुख्य लक्ष्य अविनाशी आत्मा के स्वरूप का उपदेश करना है एवं हमें यह सिखाना है कि हम वही हैं।

प्रः *मैं इस अंश से संतुष्ट हूँ।*

उः तो इतर बातों को अर्थवाद (गौण) मानिये या अज्ञानियों के लिये किये गये विधान मानिये, जो पदार्थों के कारण की शोध करते हैं। (८)

प्र: *मैं सृष्टि का एक भाग हूँ; इस कारण परतंत्र हूँ। स्वतंत्र हुए बिना मैं सृष्टि के प्रश्न का समाधान नहीं कर सकता। फिर भी मैं श्री भगवान् से पूछता हूँ, क्या आपको इस प्रश्न का समाधान मेरे लिये नहीं करना चाहिये?*

उ: हाँ, भगवान् ऐसा कह रहे हैं :- "स्वतंत्र बनिये एवं खुद इस प्रश्न का समाधान कीजिये; यह आपका काम है"। इस समय आप कहाँ हैं, जो यह प्रश्न पूछ रहे हैं? आप जगत् में हैं कि जगत् आप में है? आपको यह अवश्य मानना पड़ेगा क नींद के दौरान आपको जगत् नहीं दिखता, यद्यपि आप तब आपके अस्तित्व का इन्कार नहीं कर सकते हैं। जगने पर आपको जगत् दिखता है, तो वह कहाँ हुआ? स्पष्ट है कि जगत् आपका विचार है। विचार आपका प्रक्षेपण है। "मैं" प्रथम आता है, तब जगत् आता है। जगत "मैं" की रचना है, जो स्वयं आत्मा से प्रकट होता है। जगत् की रचना का प्रश्न इस तरह सुलझ जाता है, यदि आप "मैं" की उत्पत्ति के प्रश्न का समाधान ढूँढ़कर पा लें। इसलिये मैं कहता हूँ कि "मैं" को ढूँढिये। दूसरे, क्या जगत् आपके पास आकर पूछता है कि मेरा अस्तित्व क्यों है? या मुझे कैसे रचा गया? यह प्रश्न आप पूछते हैं। प्रश्न करनेवाले को ही स्वयं के और जगत् के संबंध को स्पष्ट करना चाहिये। उसे यह अवश्य स्वीकार करना चाहिये कि जगत् उसकी अपनी कल्पना है। कौन जगत् की कल्पना करता है? जो कल्पना करता है उस "मैं" को पहले तथा बाद में आत्मा को ढूँढना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि वैज्ञानिक तथा धार्मिक सृष्टिवादों में संवादिता नहीं है। इन वादों की विविधता यह स्पष्ट करती है कि इस प्रकार समाधानों को ढूँढना व्यर्थ है। ये समाधान केवल मानसिक या बौद्धिक हैं, उससे अधिक कुछ नहीं। फिर भी ये सब व्यक्ति के दृष्टिकोण के अनुसार सही हैं। साक्षात्कार की अवस्था में सृष्टि नहीं है। मनुष्य जब सृष्टि देखता है, तब अपने आपको नहीं देखता, और जब आत्मा को देखता है, तब जगत् नहीं दिखता। इसलिये आत्मा को देखिये और जानिये कि सृष्टि हुई ही नहीं। [९]

प्र: *शंकराचार्य का "ब्रह्म सत्यं, जगन् मिथ्या" मुख्य सिद्धान्त है। कुछ लोग कहते हैं जगत् सत्य है। इनमें सत्य कौन-सा है?*

उ: दोनों विधान सही हैं। ये विकास के भिन्न स्तरों का निर्देश करते हैं, एवं भिन्न दृष्टिकोणों से कहे गये हैं। सत्य हमेशा रहता है इस सत्य की व्याख्या से साधक प्रारंभ करता है। तब वह जगत् को परिवर्तनशील, या अनित्य होने के कारण असत्य मानकर उसका निरसन करता है, और अंत में नित्य होने के कारण सत्य आत्मा तक पहुँचता है, जहाँ एकत्व का साम्राज्य है। तब जिसे प्रारंभ में असत्य समझकर त्याग दिया था, वह उस एकत्व का भाग दिखता है। सत्य में प्रतिष्ठित होने के कारण जगत् भी सत्य है। आत्मसाक्षात्कार की अवस्था में केवल सत्ता है, सत्ता के अलावा कुछ नहीं है। [१०]

प्र: *भगवान् कहते हैं कि माया और सत्य एक हैं। ऐसा कैसे हो सकता है?*

उ: मायाविषयक विचारों को समझे बिना ही शंकर की आलोचना की जाती है।

उन्होंने कहा: १. ब्रह्म सत्य है; २. जगत् मिथ्या है; ३. जगत् ब्रह्म है। वे दूसरे विधान पर रुके नहीं। तीसरा विधान पूर्व के दोनों को स्पष्ट करता है। इसका अर्थ यह है कि आत्म रूप से देखा गया जगत् सत्य, तथा आत्मा से अलग स्वतंत्र रूप से देखा गया जगत् मिथ्या है। इस प्रकार माया और सत्य एक समान हैं। [११]

प्र: *तो वस्तुत: जगत् मिथ्या नहीं है?*

उ: आध्यात्मिक साधना के स्तर पर आपको कहना पड़ेगा कि जगत् मिथ्या है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। जब मनुष्य भूल जाता है कि वह ब्रह्म है, जो सत्य, नित्य एवं सर्वत्र व्यापक है, ओर भ्रम से सोचता है कि अनेक शरीरों से पूर्ण विश्व में स्वयं भी एक शरीर ही है, तथा इस भ्रम से परेशान होकर घूमता रहता है, तब उसे यह स्मरण दिलाना पड़ता है कि जगत् मिथ्या भ्रममात्र है, क्योंकि उसकी दृष्टि स्वरूप को भूलकर बाह्य भौतिक जगत् में फँस गई है। अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के लिये वह तब तक अन्तर्मुख नहीं बनेगा जब तक आप उसे न बतायें कि यह सारा बाह्य भौतिक जगत् मिथ्या है। जब वह एक बार अन्तर्मुख होकर अपने आत्मा को जानेगा, तब उसे मालूम होगा कि आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है और संपूर्ण विश्व को ब्रह्मरूप देखेगा। आत्मा के सिवा विश्व नहीं है। जब तक मनुष्य सबके मूलरूप आत्मा को नहीं देखता एवं केवल बाह्य विश्व को ही सत्य एवं नित्य मानता है, आपको उसे यह कहना चाहिये कि यह सारा बाह्य विश्व भ्रममात्र है। आपके पास इसके अलावा कोई चारा नहीं है। कागज का उदाहरण लीजिये। हम सिर्फ लिखावट देखते हैं, कागज नहीं जिसपर लिखा गया है। लिखावट हो या न हो, कागज हमेशा रहता है। जो लिखावट को ही सत्य मानते हैं, उन्हें यह कहना पड़ता है कि वह मिथ्या भ्रम है, क्योंकि वह सच्चे तथा आधारभूत कागज का आवरण करके स्थित है। ज्ञानी कागज तथा लिखावट दोनों को एकरूप देखता है। ऐसा ही ब्रह्म तथा जगत् के विषय में है। [१२]

प्र: *तो आत्मा के रूप में अनुभवगोचर होने पर जगत् सत्य एवं जब अलग नामरूपात्मक दिखता है तब असत्य है?*

उ: जैसे अग्नि धुएँ से ढक जाता है, ऐसे ही जाज्वल्यमान चैतन्य का प्रकाश नामरूपात्मक संघातस्वरूप विश्व से ढक जाता है। जब ईश्वर के अनुग्रह से चित्त शुद्ध होता है, तब जगत् वस्तुत: भ्रामक आकार नहीं है, बल्कि केवल सत्य है यह तथ्य जान लिया जाता है। जिनका चित्त जगत् के तथा जागतिक सब आसक्तियों के त्याग से माया के बुरे प्रभाव से मुक्त है और जिन्होंने स्वयं-प्रकाश परम सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, केवल वही लोग "जगत् सत्य है" इस कथन का सही अर्थ जान सकते हैं। जिनकी दृष्टि दृश्य की ओर से पलट कर ज्ञानमयी हो गई है, उनके लिये आकाशादि पाँच महाभूतों से बना हुआ जगत् सत्य है, क्योंकि सभी पदार्थ चैतन्य रूप हैं, जिसका आधार वह एक परम सत्ता है।

जैसे विविध रंगोंवाले मयूर का अंडा एक होता है, वैसे ही इस विविध नामरूपवाले विचित्र, फिर भी शून्य जगत् की मूल अवस्था एक आनंद है। इस सत्य को आत्मा की

सहज अवस्था में रहकर जानना चाहिये।[१३]

प्रः *मैं कह नहीं सकता कि यह सब मेरे लिये बिल्कुल स्पष्ट है। जगत् देखा जाता है, अनुभव किया जाता है, इन्द्रियों के द्वारा विविध रूपों में जाना जाता है, वह क्या स्वप्न जैसी घटना है, केवल भ्रम है?*

उः यदि आप सत्य को – केवल सत्य को – जानना चाहते हैं, तो जगत् को असत्य मानने के सिवा आपके पास कोई विकल्प नहीं है।

प्रः *ऐसा क्यों?*

उः इसका सीधा-सादा कारण यह है कि यदि आप जगत् सत्य है ऐसा विचार छोड़ते नहीं, तो आपका मन हमेशा उसके पीछे लगा रहेगा, और जब तक आप दिखावे को सत्य मानते हैं, तब तक आप स्वयं सत्य को नहीं जान सकते हैं, यद्यपि जो भी अस्तित्व में है, वह केवल सत्य ही है। यह तथ्य रस्सी और साँप के दृष्टान्त से समझाया जाता है। आपको भ्रम हो सकता है कि रस्सी का टुकड़ा साँप है। जब तक आप रस्सी में साँप की कल्पना किये रहते हैं, तब तक आप रस्सी को रस्सी के रूप में नहीं देख सकते। जो नहीं है, वह साँप आपके लिये सत्य बन जाता है, जब कि रस्सी का अस्तित्व ही मिट जाता है।

प्रः *जगत् अंतिम सत्य नहीं है, ऐसा अस्थायी रूप से स्वीकार करना सरल है, लेकिन वह वस्तुतः असत्य है ऐसा दृढ़ निश्चय होना कठिन है।*

उः वैसे तो स्वप्नजगत् भी, जब तक आप उसे देख रहे होते हैं, तब तक सच्चा लगता है। जब तक स्वप्न अवस्था रहती है, उसमें आप जो भी देखते हैं, और अनुभव करते हैं, सच्चा है।

प्रः *तो यह जगत् स्वप्न से अधिक कुछ नहीं है?*

उः स्वप्न जब तक रहे, तब तक उसे सत्य मानने में क्या गलती है? आप पूर्णतया असंभव घटना स्वप्न में देख रहे हों, उदाहरण के लिये आप किसी मृत व्यक्ति से आनंद से बात करते हों, और शायद संदेह भी हो कि क्या यह तो मर नहीं गया था? लेकिन तब भी किसी तरह आपके मन का स्वप्न दृश्य से पूरा मेल हो जाता है, और वह व्यक्ति स्वप्न-प्रयोजन की दृष्टि से जीवित ही लगता है। अर्थात् स्वप्न, स्वप्न की हैसियत से आपको उसकी सत्यता के बारे में संदेह करने की गुंजाइश नहीं रहने देता। जाग्रत में भी ऐसा ही होता है। जब तक आप जाग्रत अवस्था में रहें, तब तक जिसे आप देखते हैं, उस जगत् की सत्यता के विषय में संदेह करने के लिये आप समर्थ नहीं हैं। जिसने स्वयं जगत् की सृष्टि की है, वह मन उसकी असत्यता का स्वीकार कैसे कर सकता है? जाग्रत तथा स्वप्न के जगत् की तुलना करने का यही हेतु है। दोनों मन की सृष्टि है,और जब तक मन उनमें से किसी एक में लीन रहता है, तब तक वह उसकी असत्यता का स्वीकार करने में अपने आपको असमर्थ पाता है। वह स्वप्नजगत् की सत्यता का इन्कार स्वप्न के दौरान नहीं कर सकता। वैसे ही जब तक वह जाग्रत अवस्था में होता है, तब तक जाग्रत के जगत् की सत्यता का निषेध नहीं कर सकता। इसके विरूद्ध, यदि आप अपने मन को जगत् से

पूर्णतया वापस खींच लें, और भीतर की ओर मोड़ें ओर वहीं रहें, अर्थात् यदि आप इन सब अनुभवों के अधिष्ठानरूप आत्मा के प्रति सदा जागरूक रहें, तो जिस जगत् के विषय में आप इस समय सभान हैं, उसे आप स्वप्न में देखे हुए जगत् जैसा असत्य पायेंगे।

प्र: *हम कई तरह से जगत् को देखते, अनुभव करते और इन्द्रियों से ग्रहण करते हैं। ये सारे संवेदन देखे गये तथा अनुभव किये गये पदार्थों की प्रतिक्रियारूप हैं। वे स्वप्न की तरह मन की सृष्टि नहीं हैं, जो प्रति व्यक्ति ही नहीं, बल्कि उसी व्यक्ति के लिये भी भिन्न है। जगत् की वास्तविक सत्ता सिद्ध करने का यह पर्याप्त प्रमाण नहीं है?*

उ: स्वप्नजगत् की विसंगतियों के विषय में ये सारे तर्क सिर्फ इस समय जब आप जाग्रत में हैं, तभी खड़े होते हैं। जब तक आप स्वप्न में होते हैं, तब तक स्वप्न एक पूर्णतया संगठित इकाई होता है, अर्थात् यदि आपको स्वप्न में प्यास लगती है, तो आपकी वह भ्रामक प्यास, भ्रामक जल को, भ्रामक पीने की क्रिया से शान्त होती है। लेकिन यह सब उस समय आपके लिये सत्य था, भ्रम नहीं, जब तक आप यह नहीं जानते कि वह पूरा स्वप्न ही भ्रम था। जाग्रत के विश्व के विषय में भी ऐसा ही है। जो संवेदनाएँ आपको अभी हो रही हैं, वे एकसूत्रता से मेल बिठाकर आप पर ऐसा प्रभाव डाल रही हैं, कि आपको जगत् सत्य लगता है।

इसके विपरीत यदि विश्व स्वयंभू सत्ता – स्वतंत्रसत्य – होता, अर्थात् अभी आपने जिसे "जगत् की वास्तविक सत्ता" कहा, उससे युक्त होता, तो नींद में आपके समक्ष उपस्थित होने से उसे कौन रोकता है? आप यह तो नहीं कहते कि आपकी नींद के दौरान आपका अस्तित्व नहीं था।

प्र: *लेकिन मैं जब नींद में होता हूँ, तब भी जगत् के अस्तित्व का इन्कार नहीं करता। उसका अस्तित्व पूरे समय में होता है। यदि मेरी नींद के दौरान मैं जगत् नहीं देखता था, तब भी दूसरे लोग जो सोये नहीं थे, वे उसे देख रहे थे।*

उ: आपकी नींद के दौरान आपका अस्तित्व सिद्ध करने के लिये क्या आपको दूसरे लोगों के प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है? इस समय आप उनके प्रमाण को क्यों आवश्यक मानते हैं? आपकी नींद के दौरान उन्होंने जगत् देखा था यह बात दूसरे लोग आपको तभी कह सकते हैं, जब आप जग जाते हैं, आपके स्वयं के अस्तित्व के बारे में बात भिन्न है। जगने पर आप कहते हैं आपको गहरी नींद आयी, इसलिये आप अत्यंत गहरी नींद में भी, उस हद तक, अपने आपके अस्तित्व के विषय में सभान थे, जब कि उस समय आपको जगत् के अस्तित्व का अणुमात्र भी ख्याल नहीं था। इस समय जब आप जागते हैं, तब भी क्या जगत् ऐसा कहता है : "मैं सत्य हूँ" या आप कहते हैं?

प्र: *निश्चित रूप से मैं ऐसा कहता हूँ, लेकिन जगत् के बारे में कहता हूँ।*

उ: ठीक है, वह जगत् जिसे आप सत्य कहते हैं, आपकी हँसी उड़ाता है कि आप अपना सत्य तो जानते नहीं, और जगत् को सत्य सिद्ध करने का यत्न करते हैं।

किसी भी तरह आप जगत् को सत्य सिद्ध करना चाहते हैं। लेकिन सत्य का लक्षण क्या है? सत्य वहीं है जो स्वयंभू, स्वयंप्रकाश, शाश्वत ओर अविकारी हो। क्या जगत् स्वयंभू है? क्या मन की सहायता के बिना जगत् कभी देखा गया था? जब जाग्रत अवस्था होती है, तब मन तथा जगत् होते हैं। इस अनिवार्य सहभाव का क्या अर्थ है? वैज्ञानिक गवेषणा के आधार माने जानेवाले तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों से आप परिचित हैं। क्यों उन स्वीकृत नियमों के प्रकाश में विश्व की सत्यता के प्रश्न का निर्णय आप नहीं करते? आप अपने विषय में कह सकते हैं : "मैं हूँ"। अर्थात् आपका अस्तित्व केवल अस्तित्व नहीं, बल्कि अपने होने के विषय में सभान अस्तित्व है। वस्तुतः यह चैतन्य से अभिन्न अस्तित्व है।

प्र: *जगत् अपने विषय में सभान नहीं, फिर भी उसका अस्तित्व है।*

उ: चेतना हमेशा आत्मचेतना है, अर्थात् यदि आप किसी वस्तु के विषय में सभान हैं, तो वस्तुतः तात्विक रूप से आप अपने विषय में सभान हैं। आत्मभानरहित अस्तित्व व्याघात – विरूद्ध शब्दप्रयोग – है। वह अस्तित्व ही नहीं है, बल्कि केवल आरोपित अस्तित्व है, जबकि सत् या सच्चा अस्तित्व आरोप नहीं, मूल वस्तु है। इस कारण सत्य को सत्-चित् कहा जाता है, केवल सत् या चित् नहीं। जगत् न तो स्वयंभू है, न ही अपने अस्तित्व के विषय में सभान है। ऐसा जगत् सत्य है ऐसा आप कैसे कह सकते हैं?

और जगत् का स्वरूपलक्षण क्या है? नित्य परिवर्तन, निरंतर निःसीम प्रवाह-परतंत्र, आत्मभानरहित, निरंतर परिवर्तनशील जगत् सत्य नहीं हो सकता। (१४)

प्र: *जगत् के नामरूप सत्य हैं क्या?*

उ: आप उन्हें अधिष्ठान से भिन्न नहीं पायेंगे। जब आप नामरूप ग्रहण करने का यत्न करेंगे, तो सत्य ही आपके हाथ लगेगा। इसलिये जो नित्य सत्य है, उसका ज्ञान प्राप्त कीजिये।

प्र: *जाग्रत अवस्था इतनी सत्य क्यों लगती है?*

उ: सिनेमा के परदे पर हम बहुत कुछ देखते हैं, लेकिन वह सत्य नहीं है। वहाँ परदे के अलावा और कुछ सत्य नहीं है। इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी अधिष्ठान के सिवा कुछ भी नहीं है। जाग्रतप्रमा जाग्रत के प्रमाता की प्रमा है, अर्थात् जगत् का ज्ञान जगत् को जाननेवाले का ज्ञान है। दोनों नींद में चले जाते हैं।

प्र: *हम जगत् में इतनी स्थिरता तथा नित्यता कैसे देखते हैं?*

प्र: गलत विचारों के कारण ऐसा दिखता है। जब कोई कहता है कि उसने एक ही नदी में दो बार स्नान किया, तो वह गलत है, क्योंकि जब उसने दूसरी बार स्नान किया, तब नदी वही नहीं थी जिसमें उसने पहली बार स्नान किया था। दीपशिखा की दीप्ति को दो बार देखकर मनुष्य कहता है कि वह उसी एक दीप्ति को देखता है, लेकिन दीप्ति प्रतिक्षण बदलती रहती है। जाग्रत अवस्था ऐसी ही है, उसमें स्थिरता का दिखावा दृष्टिभ्रम है।

प्र: *गलती कहाँ पर है?*

उ: प्रमाता में।

प्र: *प्रमाता कहाँ से आया?*

उ: दृष्टिभ्रम के कारण प्रमाता उत्पन्न होता है। वस्तुत: प्रमाता और उसके भ्रमपूर्ण दर्शन एक साथ उत्पन्न होते हैं, और जब आत्मज्ञान होता है, तो दोनों अदृश्य हो जाते हैं।

प्र: *प्रमाता और उसके भ्रमपूर्ण दर्शन कहाँ से उत्पन्न होते हैं?*

उ: यह प्रश्न कौन पूछता है?

प्र: *मैं पूछता हूँ।*

उ: इस "मैं" को ढूँढ निकालिये और आपके सारे संदेहों का समाधान मिल जायगा। जैसे स्वप्न में भ्रामक ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय उत्पन्न होते हैं, वैसे ही जाग्रत में भी होता है। इन दोनों अवस्थाओं में इस "मैं" को जान लेने पर आप सब कुछ जान लेते हैं, और कुछ भी जानने के लिये शेष नहीं रहता। गहरी नींद में ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेय नहीं होते, उसी प्रकार सच्चे "मैं" के अनुभव में वे नहीं होते। जाग्रत अवस्था में जो घटनाएँ होती दिखती हैं, वे केवल ज्ञाता के लिये होती हैं, और चूँकि यह ज्ञाता असत्य है, वस्तुत: कभी भी कुछ भी घटित नहीं होता। [१५]

प्र: *वह प्रकाश जो अहंवृत्ति को अपनी पहचान एवं जगत् का ज्ञान देता है, अज्ञान है या चैतन्य है?*

उ: वह चित् का प्रतिबिंबित प्रकाश है जो "मैं" को दूसरों से भिन्न दिखाता है। चैतन्य का यह प्रतिबिंबित प्रकाश "मैं" को पदार्थों का सर्जक भी बनाता है, लेकिन प्रतिबिंब के लिये उपयुक्त माध्यम होना चाहिये।

प्र: *वह माध्यम कौन-सा है?*

उ: आत्मसाक्षात्कार होने पर आपको मालूम होगा कि माध्यम और प्रतिबिंब का वस्तुत: अस्तित्व नहीं है, ये दोनों वही एक चैतन्य हैं। जगत् को अपने अस्तित्व के लिये स्थान तथा दिखने के लिये प्रकाश चाहिये। ये दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। इसलिये भौतिक अस्तित्व एवं उसका दर्शन मन के प्रकाश पर निर्भर हैं, जो आत्मा का प्रतिबिंबित प्रकाश है। जैसे चलचित्र सिर्फ अंधकार में तथा प्रतिबिंबित प्रकाश से ही देखे जाते हैं, वैसे जगत् अविद्या के अंधकार में आत्मा के प्रतिबिंबित प्रकाश रूप मन से ही दिखाई देता है। अज्ञान के पूर्ण अंधकार में अर्थात् गहरी निद्रा में, अथवा ज्ञान के पूर्ण प्रकाश में अर्थात् आत्मसाक्षात्कार रूप समाधि में जगत् दिखाई नहीं देता।

पुनर्जन्म

अधिकांश धर्मों ने शरीर की मृत्यु के पश्चात् जीव का क्या होता है, इसके बारे में जटिल सिद्धान्त स्थापित किये हैं। कुछ कहते हैं कि जीव स्वर्ग या नरक में जाता है, और दूसरे कहते हैं कि उसका नये शरीर में पुनर्जन्म होता है।

श्री रमण का उपदेश था कि ये सारे सिद्धान्त वैयक्तिक आत्मा या जीव सत्य है, ऐसी गलत धारणा पर आधारित हैं। एक बार यह भ्रम दूर हो जाय, तो मरणोत्तरगति के सिद्धान्तों का पूरा प्रासाद ढह जाता है। आत्मा की दृष्टि से जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक तथा पुनर्जन्म नहीं हैं।

इस सत्य के फलितार्थ को आत्मसात् करने में असमर्थ लोगों के लिये रियायत के तौर पर श्री रमण कभी कभी पुनर्जन्म का स्वीकार करते थे। ऐसे लोगों के प्रश्नों का उत्तर देते हुए वे कहते कि जो वैयक्तिक जीव को सत्य मानता है, उसका अस्तित्व मृत्यु के पश्चात् रहता है, और कुछ समय के बाद वह नये शरीर एवं जीवन के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है। मन स्वयं को शरीर से एकरूप मानता है इस कारण यह सारी प्रक्रिया जारी रहती है। एक बार मन का स्वयं को मर्यादित समझने का यह भ्रम दूर हो जाय, तो शरीर से तादात्म्य समाप्त हो जाता है और मृत्यु तथा पुनर्जन्म की सारी धारणाएँ अप्रस्तुत हो जाती हैं।

प्र: *पुनर्जन्म सत्य है?*

उ: अज्ञान रहने तक पुनर्जन्म रहता है। वस्तुत: भूत या वर्तमान काल में जन्म है ही नहीं, अत: भविष्य में पुनर्जन्म का सवाल ही नहीं उठता; यह सत्य है।

प्र: *योगी अपने पूर्वजन्मों को जान सकता है?*

उ: आप वर्तमान जीवन को जानते हैं, जो भूतकाल को जानना चाहते हैं? वर्तमान को

ठीक से जानिये, तो और सब समझ में आ जायगा। वर्तमान सीमित ज्ञान से आप इतने दु:खी हैं, तो अधिक ज्ञान के बोझ से आप क्या अधिक दु:खी होना चाहते हैं? (१)

आत्मा के परम आकाश से देखा जाय तो मृगजल समान मिथ्या जगत् में जन्म लेने का भ्रम, अहं को शरीर से एकरूप समझने के अज्ञानजन्य अभिमान के सिवा और कुछ नहीं है। जिसके मन ने आत्मा को भुला दिया है, ऐसा मर्त्य जीव मरने के लिये जन्म लेता है, और जन्म लेने के लिये मरता है। लेकिन जिनके चित्त का लय परम सत्ता में हो गया है, वे जन्म-मृत्यु से पर उसी सर्वोच्च अवस्था में रहते हैं। आत्मा को भूलकर, शरीर को आत्मा मानने की गलती करके, असंख्य जन्मों को धारण करने के पश्चात् अंत में आत्मा को जानकर, आत्मनिष्ठ होकर रहना, संपूर्ण विश्व में भ्रमण करने के स्वप्न से जगने जैसा है। (२)

प्र: *मृत्यु के बाद पुनर्जन्म लेने में मनुष्य को कितना समय लगता है? तुरंत बाद या कुछ समय के पश्चात्?*

उ: आप नहीं जानते कि जन्म के पूर्व आप क्या थे, फिर भी यह जानना चाहते हैं कि मृत्यु के पश्चात् क्या होंगे। वर्तमान में आप क्या हैं, इसे जानते हैं?

जन्म और मृत्यु का संबंध शरीर से है। आप आत्मा का शरीर के साथ तादात्म्य करते हैं। आप मानते हैं कि शरीर का जन्म हुआ था और वह मरेगा भी; शरीर से संबंधित इन घटनाओं का गलती से आत्मा में आरोपण करते हैं। अपनी वास्तविक सत्ता को जानिये, तब ये प्रश्न खड़े नहीं होंगे।

जन्ममृत्यु की चर्चा इसलिये की जाती है कि आप इस विषय का अन्वेषण करके यह जानें कि जन्म-मृत्यु नहीं हैं। वे देह से संबंधित हैं, आत्मा से नहीं। आत्मा को जानकर परेशानी से बचिये। (३)

प्र: *मनुष्य के कर्म अगले जन्म में उसे प्रभावित नहीं करते?*

उ: क्या इस समय आपका जन्म हुआ है? दूसरे जन्मों के बारे में क्यों सोचते हैं? सच यह है कि जन्म-मृत्यु नहीं है। जिसने जन्म लिया है, वह भले ही मृत्यु के बारे में सोचे, और उसका निवारण करे। (४)

प्र: *मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का क्या होता है?*

उ: वर्तमान जीवन में चित्त को पिरोये रहिये, तो भविष्य स्वयं सम्हल जायगा। भविष्य की चिन्ता मत कीजिये। सृष्टि से पहले क्या था इसका तथा सृष्टि कैसे हुई इसका वर्णन धर्मग्रंथों में इसलिये किया गया है कि आप वर्तमान को ठीक से जान लें। चूँकि आप सोचते हैं कि आपका जन्म हुआ है, वे कहते हैं, हाँ, ईश्वर ने आपको बनाया है।

लेकिन नींद में आप ईश्वर या अन्य कुछ देखते हैं? यदि ईश्वर सत्य हो, तो वह नींद में आपके समक्ष प्रकट होकर अपना प्रभाव क्यों नहीं दिखाता? आप हमेशा होते हैं, जो आप नींद में थे, वही आप अब भी हैं। नींद में जैसे थे उससे भिन्न आप नहीं हैं, तो फिर इन दो अवस्थाओं की संवेदना एवं अनुभव भिन्न क्यों हैं?

नींद के दौरान आप अपने जन्म के बारे में प्रश्न पूछते थे? क्या आप ऐसा पूछते थे कि मरने के पश्चात् मैं कहाँ जाऊँगा? अब जाग्रत अवस्था में इन सारे प्रश्नों को क्यों पूछते हैं? जिसने जन्म लिया हो, उसे ही अपने जन्म के विषय में, उसके निवारण के उपाय के विषय में, उसके कारण एवं परिणाम के विषय में सोचने दीजिये। (५)

प्र: *मृत्यु के पश्चात् जीव का क्या होता है?*

उ: जो अभी जीवित है, उसे ऐसा नहीं पूछना चाहिये। मरा हुआ जीव यदि चाहे, तो यह सवाल मुझे पूछ सकता है। देहधारी जीव को तो इस समय वर्तमान प्रश्न का समाधान ढूँढना चाहिये कि वह कौन है। तब इस प्रकार के संदेहों का अंत होगा। (६)

प्र: *अविच्छिन्न रूप से रहनेवाली, वैयक्तिक जीव कही जानेवाली किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है, ऐसा बौद्ध मत क्या सही है? पुनर्जन्म लेने वाले अहंकार की हिन्दु मान्यता से यह मेल खाता है? हिन्दु मान्यता के अनुसार अविच्छिन्न रूप से रहनेवाली, तथा बार बार जन्म लेनेवाली जीव नाम की कोई सत्ता वस्तुत: है अथवा केवल संस्कारों का समूह है?*

उ: सत्य आत्मा अविच्छिन्न रूप से रहने वाली तथा अप्रभावित रहनेवाली है। पुनर्जन्म लेनेवाला अहंकार निम्न स्तर अर्थात् वैचारिक स्तर पर रहता है, एवं आत्मसाक्षात्कार से मनुष्य उससे पर होता है। पुनर्जन्म इस नकली अंकुर जैसे अहंकार का होता है, इस कारण बौद्ध इसका इन्कार करते हैं। वर्तमान अज्ञान अवस्था चेतन (आत्मा) का अचेतन शरीर से तादात्म्य करने के कारण उत्पन्न हुई है। (७)

प्र: *क्या हम अपने कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग नहीं जाते?*

उ: स्वर्ग वर्तमान अस्तित्व जितना ही सत्य है। लेकिन यदि हम कौन हैं इसकी गवेषणा करके आत्मा को जान लें, तो स्वर्ग के विषय में सोचने की क्या आवश्यकता है?

प्र: *मुझे पुनर्जन्म से बचने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये?*

उ: हाँ, यह ढूँढ निकालिये कि, किसका जन्म हुआ है, और कौन वर्तमान अस्तित्व से परेशान हो रहा है? गहरी नींद में आप वर्तमान अस्तित्व एवं पुनर्जन्म के बारे में सोचते हैं क्या? इसलिये ढूँढ निकालिये कि वर्तमान में ये सब प्रश्न कहाँ से उत्पन्न होते हैं, और उसी जगह आपको पूरा समाधान मिल जायगा। आपको तब मालूम होगा कि जन्म, वर्तमान परेशानी और दु:ख नहीं हैं। आत्मा सर्वरूप है, अत: सब कुछ आनंद है। इस समय भी हम जन्मरहित हैं, तो उससे उत्पन्न हुए दु:खों के बारे में चिन्ता क्यों करनी चाहिये? (८)

प्र: *पुनर्जन्म है क्या?*

उ: आप जानते हैं जन्म क्या है?

प्र: *ओह हाँ, मैं जानता हूँ कि इस समय मेरा अस्तित्व है, लेकिन जानना चाहता हूँ कि भविष्य में भी रहूँगा या नहीं?*

उ: भूत... वर्तमान... भविष्य... ?

प्र: *हाँ, आज कल का – भूतकाल का – परिणाम है, और आनेवाला कल – भविष्य –, आज का – वर्तमान – का परिणाम होगा। क्या यह सच है?*

उ: भूतकाल या भविष्यकाल नहीं हैं, केवल वर्तमान है। जब आपने अनुभव किया तब कल वर्तमान था और आनेवाला कल भी वर्तमान होगा जब आप उसका अनुभव करेंगे। इसलिये अनुभव केवल वर्तमान में होता है, और अनुभव से पर कुछ नहीं है।

प्र: *तो भूत ओर भविष्य सिर्फ कल्पना है?*

उ: हाँ, वर्तमान भी केवल कल्पना है, क्योंकि समय का ख्याल पूर्णतया मानसिक है। देश भी इसी प्रकार मानसिक है। जन्म और पुनर्जन्म देश-काल में होते हैं, अत: कल्पना से भिन्न नहीं हो सकते। (९)

प्र: *तृष्णा – जीवन की तथा पुनर्जन्म की लालसा – का कारण क्या है?*

उ: सच्चा पुनर्जन्म अहंकार की मृत्यु के पश्चात् आत्मरूप में जन्म है। क्राइस्ट के वधस्तंभपर मृत्यु का यही तात्पर्य है। जब तक शरीर से तादात्म्य है, तब तक यह या दूसरा शरीर हमेशा उत्पन्न होता रहेगा। यह सिलसिला तब तक चलता रहता है, जब तक देहभाव अपने मूल-आत्मा में लीन नहीं हो जाता। आकाश की ओर फेंका गया पत्थर जब तक अपने मूलस्थान – पृथ्वी – को प्राप्त नहीं करता, तब तक निरंतर गतिशील रहता है। सरदर्द तब तक रहता है, जब तक सरदर्द के पूर्व की अवस्था पुन: प्राप्त नहीं होती। पूर्ण सत् रूप जीवन में जीने की तृष्णा का होना स्वाभाविक है। यद्यपि चैतन्य स्वभाव से अविनाशी है, फिर भी नश्वर देहरूप अपने साधन के साथ गलत तादात्म्य करने के कारण उसे अपने नाश का मिथ्या भय लगता है। इस गलत तादात्म्य के कारण वह शरीर को बनाये रखने का प्रयत्न करता है, जिसके परिणाम स्वरूप जन्मों का क्रम चलता रहता है। लेकिन ये शरीर कितने ही दीर्घजीवी हों, उन्हें अंत का सामना करना ही पड़ता है, और सद्वस्तुरूप आत्मा के समक्ष अपने अस्तित्व का अधिकार छोड़ना ही पड़ता है।

प्र: *हाँ, एच. पी. ब्लावस्की अपने ग्रंथ "वोइस ऑफ सायलन्स" में कहती हैं : "यदि जीवन चाहते हो, तो जीवन का त्याग करो"।*

उ: गलत तादात्म्य का त्याग कीजिये। और याद रखिये : शरीर बिना आत्मा के नहीं रह सकता, जबकि आत्मा बिना शरीर के रह सकता है। वस्तुत: वह हमेशा अशरीर ही है।

प्र: *मेरे मित्र के मन में अभी अभी संदेह उत्पन्न हुआ है। उसने सुना है कि मनुष्य किसी अगले जीवन में पशुजन्म ले सकता है, जो थियोसोफी के सिद्धान्त से विरूद्ध बात है।*

उ: जो पुनर्जन्म लेता है, उसे यह प्रश्न पूछने दीजिये। पहले यह ढूँढ निकालिये कि किसका जन्म होता है, और वस्तुत: जन्म-मरण होते हैं क्या? तब आप जानेंगे कि जन्म अहंकार का होता है जो चित्त का भ्रममात्र है। (१०)

प्र: *मनुष्य के लिये निम्नस्तर के पशुशरीर में जन्म लेना संभव है?*

उ: हाँ, यह संभव है। धर्मग्रंथों में दी गई राजर्षि जड़ भरत की कथा से स्पष्ट है कि उनका मृगरूप में पुनर्जन्म हुआ था।

प्र: *पशुशरीर में भी जीव आध्यात्मिक विकास कर सकता है?*

उ: यद्यपि यह अत्यंत विरल है, फिर भी असंभव नहीं है।[११] मनुष्यजन्म आवश्यक रूप से सर्वश्रेष्ठ है ऐसी मान्यता सच्ची नहीं है, और यह भी सच नहीं है कि मनुष्यजन्म में ही साक्षात्कार हो सकता है। पशु भी आत्मसाक्षात्कार कर सकता है।[१२]

प्र: *थियोसोफी मानती है कि मृत्यु और पुनर्जन्म के बीच में पचास से दस हजार सालों तक का अन्तर हो सकता है। ऐसा क्यों?*

उ: चेतना की विभिन्न अवस्थाओं को नापने के पैमानों में कोई संबंध नहीं है। ऐसे सारे नाप अनुमान पर आधारित हैं। यह सच है कि कुछ लोग अधिक और कुछ कम समय लेते हैं। लेकिन यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिये कि कोई भी जीव आता या जाता नहीं है, उसके चित्त के आने-जाने से वह आता जाता दिखता है। जिस स्तर पर चित्त कार्य करता है, उसके अनुरूप अपने लिये शरीर बना लेता है। भौतिक जगत् में उसका शरीर भौतिक होता है, और स्वप्नजगत् में स्वप्न शरीर होता है जो स्वप्न की वर्षा से भीग जाता है और स्वप्न के रोग से रूग्ण हो जाता है। भौतिक शरीर की मृत्यु के पश्चात् कुछ समय के लिये चित्त निष्क्रिय रहता है, जैसा कि गहरी नींद में होता है। तब वह अशरीर एवं विश्वातीत होता है। लेकिन थोड़े ही समय में वह फिर से एक नये सूक्ष्म जगत् में तथा शरीर में सक्रिय हो जाता है, और उस अवस्था में तब तक रहता है, जब तक उसे भौतिक शरीर प्राप्त नहीं होता, जिसे पुनर्जन्म कहते हैं। लेकिन जिनका चित्त पहले ही निष्क्रिय हो चुका है, ऐसे आत्मनिष्ठ ज्ञानी पर मृत्यु का कोई असर नहीं होता। ज्ञानी के चित्त का अस्तित्व समाप्त हो गया होता है, और वह कभी भी फिर से जन्ममृत्यु का कारण बनने के लिये उत्पन्न नहीं होता। उसके लिये भ्रमों की श्रृंखला हमेशा के लिये टूट चुकी होती है।

इससे यह अब स्पष्ट हो जाना चाहिये कि वस्तुत: जन्म या मृत्यु नहीं है। चित्त इस भ्रमपूर्ण प्रक्रिया की सत्यता को उत्पन्न करता है एवं तब तक बनाये रखता है जब तक वह आत्मा के ज्ञान से नष्ट नहीं हो जाता।[१३]

प्र: *मृत्यु व्यक्ति की वैयक्तिकता का विसर्जन क्यों नहीं कर देता, जिससे पुनर्जन्म न हो, जैसे समुद्र में लुप्त हुई नदियाँ अपना वैयक्तिक अस्तित्व खो देती हैं?*

उ: लेकिन समुद्र का पानी भाप बनकर ऊपर उठता है और बादल बनकर पर्वतों पर फिर से गिरकर, नदी बनकर पुन: बहने लगता है, और फिर से समुद्र में मिलता है। इसी प्रकार नींद के दौरान वैयक्तिक जीव अपना अलग व्यक्तित्व खो देता है, फिर भी अपने संस्कारों के कारण पुन: वैयक्तिक रूप में प्रकट हो जाता है। मृत्यु के पश्चात् भी ऐसा ही होता है। संस्कारयुक्त व्यक्ति की वैयक्तिकता का लोप मृत्यु से नहीं होता।

प्र: *ऐसा कैसे हो सकता है?*

उ: निरीक्षण कीजिये कि डालियाँ काट देने पर भी वृक्ष कैसे फिर से विकसित होता है। वृक्ष के मूल जब तक सुरक्षित होते हैं, वह विकसित होता रहता है, वैसे ही मृत्यु के समय हृदय में जो लीन हुए हैं, किन्तु नष्ट नहीं हुए हैं, ऐसे संस्कार योग्य समय आने पर पुनर्जन्म के कारण बनते हैं। ऐसे जीवों का पुनर्जन्म होता है।

प्र: *हृदय में लीन हुए सूक्ष्म संस्कारों से असंख्य जीव एवं उनके साथ संबद्ध विशाल विश्व कैसे अंकुरित हो सकते हैं?*

उ: एक अत्यंत छोटे वटवृक्ष के बीज से बड़ा बरगद का पेड़ अंकुरित होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म संस्कारों से जीवों के साथ नाम-रूपात्मक संपूर्ण विश्व अंकुरित – प्रकट – होता है। (१४)

प्र: *जीव एक शरीर से दूसरे शरीर में कैसे जाता है?*

उ: मनुष्य का मरण निकट होता है, तब श्वास कठिनाई से चलता है, जिसका अर्थ है कि वह देहभाव खो चुका है। तुरंत चित्त दूसरे शरीर का आश्रय करता है और दो शरीरों के बीच में आने-जाने लगता है, जिससे नये शरीर में आसक्ति दृढ़ हो। बीच में कभी कभी श्वास बड़े जोर से चलती है, अर्थात् चित्त मरणासन्न शरीर में वापस आ गया है। इस समय के दौरान चित्त स्वप्न जैसी अवस्था में होता है। (१५)

प्र: *मृत्यु तथा पुनर्जन्म के बीच समय का अंतर कितना होता है?*

उ: वह कम या अधिक हो सकता है। लेकिन ज्ञानी की अवस्था में ऐसे परिवर्तन नहीं होते, वह व्यापक सत्ता में लीन हो जाता है।

कुछ लोग कहते हैं कि जो जीव मृत्यु के बाद प्रकाशमार्ग से जाते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता, और अंधकार मार्ग से जानेवालों का – सूक्ष्मशरीर से कर्मफल भोगने के बाद – पुनर्जन्म होता है।

कुछ कहते हैं कि पाप-पुण्य समान होने पर तुरंत यहाँ पुनर्जन्म होता है। पुण्य अधिक हो तो सूक्ष्मशरीर स्वर्ग में जाता है, तब यहाँ पुनर्जन्म लेता है। यदि पाप अधिक हो तो नरक में जाता है, तब यहाँ जन्म लेता हैं।

योगभ्रष्ट जीवों की भी ऐसी ही गति होती है। शास्त्रों में इन सब बातों का वर्णन है। लेकिन वस्तुत: जन्म या मृत्यु नहीं है। मनुष्य जैसा है वैसा ही रहता है। केवल यही सत्य है। (१६)

प्र: *मुझे यह सब अव्यवस्थित लगता है। आखिर जन्म तथा पुनर्जन्म दोनों असत्य हैं?*

उ: यदि जन्म हो, तो न केवल पुनर्जन्म बल्कि अनेक जन्मों की परंपरा होनी चाहिये। आपने यह जन्म क्यों और कैसे लिया? उसी प्रकार आगे के जन्म होंगे। लेकिन यदि आप तलाश करें कि जन्म किसका होता है, और क्या जन्ममरण आपके या आपसे भिन्न किसी और के होते हैं, तब आपको पता चलेगा कि सत्य क्या है, और सत्य सारे कर्मों को जला

देता है। इस प्रकार आप सब जन्मों से मुक्त होते हैं। धर्मग्रंथों में स्पष्ट वर्णन मिलता है कि जैसे अग्नि की छोटी चिनगारी बारूद के पहाड़ को क्षण में भस्म कर देती है, ऐसे ही अनेक जन्मों का कारण बन सकनेवाले सब संचित कर्म ज्ञानाग्नि से नष्ट हो जाते हैं। संपूर्ण विश्व का एवं मनुष्य बुद्धि को चमत्कृत कर देनेवाले कई अवर्णनीय वैज्ञानिक अनुसंधानों का कारण अहंकार है, यदि इसका आत्मानुसंधान से विलय कर दिया जाय तो यह सब ढह जायगा और केवल सत्य अर्थात् आत्मा शेष रहेगा। [१७]

प्र: *आपका मतलब है कि मेरा कभी भी जन्म ही नहीं हुआ?*

उ: हाँ, इस समय आप सोचते हैं कि आप शरीर हैं, इस कारण स्वयं को उसके जन्म और मृत्यु से गलती से जोड़ते हैं। लेकिन आप शरीर नहीं हैं, अत: आपके जन्ममृत्यु नहीं होते।

प्र: *तो आप पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानते?*

उ: नहीं। आप पुनर्जन्म मानते हैं, मैं आपकी इस गलत मान्यता को आपसे छुड़ाना चाहता हूँ। निरीक्षण कीजिये कि किसे यह प्रश्न सताता है। जब तक प्रश्न करनेवाले का पता नहीं चलता, ऐसे प्रश्नों का अंतिम समाधान कभी भी नहीं मिल सकता। [१८]

ईश्वर का स्वरूप

प्रथम दृष्टि से श्री रमण के ईश्वरविषयक विधान विरोधाभासी लगते हैं : एक प्रसंग में वे कहेंगे कि ईश्वर कभी भी कुछ भी नहीं करता; दूसरे प्रसंग में कहेंगे उसकी इच्छा के बिना कुछ नहीं होता। कभी कभी वे कहते कि ईश्वर मन का ख्यालमात्र है, तो कभी कभी कहते कि सिर्फ ईश्वर का ही सच्चा अस्तित्व है। उनके ये विरोधाभासी विधान मुख्य रूप से पूछनेवालों के विभिन्न बौद्धिक स्तरों को प्रतिबिंबित करते हैं। जो लोग वैयक्तिक देवों की पूजा करने वाले थे, उनको मनुष्याकार ईश्वर की बात कही जाती और बताया जाता कि ईश्वर ने विश्व का सर्जन किया है, वही अपनी दिव्य शक्ति से उसका पालन करता है और सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, और उसकी इच्छाविरुद्ध कुछ भी नहीं होता। दूसरी ओर, जो लोग इस मान्यता के प्रति आकृष्ट नहीं होते थे, उनको वे कहते कि ईश्वर तथा उसकी शक्ति के बारे में ये सारे विचार सिर्फ मन की कल्पनाएँ हैं, जो प्रत्येक में स्वाभाविक रूप से विद्यमान ईश्वरानुभूति का आवरण करते हैं।

उनके उपदेश के सर्वोच्च स्तर पर ईश्वर और आत्मा उस सर्वव्यापक सत्य के पर्याय हैं, जिसे आत्मसाक्षात्कार से जाना जाता है। इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार ईश्वरसाक्षात्कार है। यह ईश्वर का अनुभव नहीं है, बल्कि मनुष्य स्वयं ईश्वर है, ऐसा ज्ञान है। इस अंतिम भूमिका की दृष्टि से श्री रमण के ईश्वरविषयक विधानों को निम्नलिखित तीन तरीकों से संक्षेप में प्रस्तुत किया जा सकता है :-

१. वह सर्वव्यापक एवं निराकार है, वह शुद्ध सत्ता एवं शुद्ध चैतन्य है।

२. उसमें, उसकी शक्ति से विश्व प्रकट होता है, लेकिन वह उसका स्रष्टा नहीं है, क्योंकि ईश्वर कभी भी सक्रिय नहीं होता, केवल होता है। उसमें न इच्छा है न संकल्प।

३. हम ईश्वर से एकरूप नहीं हैं, ऐसा भ्रम व्यक्तित्व है। जब यह भ्रम दूर होता है, तब एक ईश्वर शेष रहता है।

निम्नस्तर से वे हिन्दुधर्म में वैयक्तिक परमात्मा कहे जानेवाले ईश्वर के विषय में बात करते। वे कहते कि जब तक मनुष्य स्वयं को व्यक्ति मानता है, तब तक एक सत्य के रूप में वैयक्तिक ईश्वर का अस्तित्व होता है। जब तक व्यक्तित्व रहता है, तब तक विश्व के विविध कार्यों का संचालन-नियंत्रण – करनेवाला ईश्वर है; लेकिन व्यक्तित्व के अभाव की अवस्था में ईश्वर का व्यक्तित्व भी समाप्त हो जाता है।

हिन्दुधर्म में ईश्वर के अलावा अनेक देव हैं, जो नॉर्स (नोर्वेजियन) और ग्रीक संस्कृति के देवों तथा दानवों के समान हैं। ऐसे देव आज भी आम हिन्दू समाज में लोकप्रिय हैं, और उनकी सत्यता सर्वस्वीकृत है। श्री रमण कई लोगों को यह कह कर आश्चर्य में डालते कि ऐसे देव उनमें श्रद्धा रखनेवालों के समान सत्य हैं। वे कहते कि आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् इन देवों का ईश्वर जैसा ही हाल होता है, लेकिन इससे पूर्व वे इनको विश्व के विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होना स्वीकार करते थे, जो तंत्र को सुचारुरूप से चलानेवाले अग्रताक्रम में रहकर कार्य करनेवाले अधिकारियों जैसे होते हैं।

प्र: *ईश्वर को व्यक्त और अव्यक्त कहा गया है। व्यक्तरूप में उसकी सत्ता के एक अंश में विश्व का समावेश होता है। यदि यह बात सच हो तो विश्व के एक भागरूप हमें उसे उसके व्यक्तरूप में जानना सरल होना चाहिये।*

उ: ईश्वर तथा विश्व के स्वरूप का निर्णय करने से पहले आपको अपना सच्चा स्वरूप जानना चाहिये।

प्र: *क्या मुझे जानने से ईश्वर का ज्ञान हो जायगा?*

उ: हाँ, ईश्वर आपमें है।

प्र: *मुझे अपने आपको अर्थात् ईश्वर को जानने के मार्ग में बाधा क्या है?*

उ: आपका भटकता मन तथा विकृत आचरण।

प्र: *क्या ईश्वर पुरुष है?*

उ: हाँ, वह हमेशा प्रथम पुरुष "मैं" के रूप में आपके सम्मुख खड़ा है। चूँकि आप जगत् की वस्तुओं को अग्रता देते हैं, ईश्वर पृष्ठभूमि में चला गया सा दिखता है। यदि आप सब कुछ छोड़कर, सिर्फ उसे ही ढूँढे, तो केवल वही आत्मा के रूप में शेष रहेगा। (1)

प्र: *ईश्वर आत्मा से अलग है?*

उ: आत्मा ईश्वर है। "मैं हूँ" ईश्वर है। यह प्रश्न इस कारण उत्पन्न हुआ है कि आप अहंकाररूप जीव को दृढ़ता से पकड़े हुए हैं। यदि आप आपके सच्चे आत्मा में स्थिरता

से अवस्थित हों, तो यह प्रश्न खड़ा नहीं होगा, क्योंकि सच्चा आत्मा कुछ नहीं पूछेगा, पूछ नहीं सकता। यदि ईश्वर आत्मा से अलग होता तो वह अनात्मरूप होता, जो असंगत बात है। (२) जिसका अभाव हो ऐसा लगता है, सिर्फ उस ईश्वर का ही वास्तविक अस्तित्व है, जबकि व्यक्ति दिखता है, लेकिन उसका हमेशा अभाव है। ज्ञानी कहते हैं कि जिस अवस्था में मनुष्य इस प्रकार अपने अस्तित्व का अभाव स्पष्ट देखता है, वह सर्वोच्च महिमायुक्त परम ज्ञान है। (३) इस समय आप सोचते हैं कि आप एक व्यक्ति हैं, आपके बाहर विश्व है, और विश्व से पर ईश्वर है। इस प्रकार भेद का विचार है, जो अवश्य जाना चाहिये, क्योंकि ईश्वर आपसे तथा विश्व से भिन्न नहीं है। गीता में भी कहा है : "हे गुडाकेश, मैं सब प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा हूँ। सब भूतों का आदि, मध्य तथा अंत भी मैं ही हूँ" (भगवद्गीता, १०.२०) इस प्रकार ईश्वर सिर्फ सबके हृदय में ही नहीं है, बल्कि वह सबका आधार, मूलकारण, निवासस्थान तथा अंत भी है। सभी प्राणी उसी से उत्पन्न होते हैं, उसमें निवास करते हैं, और आखिर उसी में समा जाते हैं। इस प्रकार वह भिन्न नहीं है।

प्र: *"मेरे एक अंश में संपूर्ण जगत् है", गीता की इस पंक्ति को हम कैसे समझें?*

उ: इसका ऐसा अर्थ नहीं कि ईश्वर से एक अंश अलग होकर जगत् बन जाता है। उसकी शक्ति कार्य करती है। इस कार्य के एक भाग के परिणामस्वरूप जगत् व्यक्त होता है। इसी प्रकार पुरुषसूक्त का विधान है "सब प्राणी पुरुष के एक पाद में समाविष्ट हैं"। इसका अर्थ यह नहीं कि ब्रह्म में विभाग हैं।

प्र: *मैं यह ठीक समझता हूँ; ब्रह्म निश्चित रूप से अविभाज्य है।*

उ: सत्य यह है कि ब्रह्म सब कुछ है और अविभाज्य भी है। वह नित्य अनुभवगोचर है, लेकिन मनुष्य इस बात को जानता नहीं है। मनुष्य को उसे अवश्य जानना चाहिये। ज्ञान का अर्थ है उन अवरोधों को हटाना जो आत्मा ब्रह्म है इस सनातन सत्य के प्रकाश का आवरण करते हैं। आपका अलग व्यक्ति होने का विचार सब अवरोधों का सामूहिक रूप है। (४)

प्र: *आत्मा और ईश्वर एक ही हैं?*

उ: आत्मा का ज्ञान सबको है, लेकिन वह स्पष्ट नहीं है। आप हमेशा होते हैं। यह नित्य सत्ता आत्मा है। "मैं हूँ" ईश्वर का नाम है। ईश्वर की सब व्याख्याओं में बायबल, एक्सोडस-३ की व्याख्या "आई-एम-धेट-आई-एम" – "मैं हूँ वह मैं हूँ" – श्रेष्ठ है। दूसरे भी "अहं ब्रह्मास्मि", "ब्रह्मैवाहम्", "सोहम्", जैसे विधान हैं, लेकिन इनमें से कोई भी "यहोवाह" नाम के जैसा सीधा-स्पष्ट नहीं है, जिसका अर्थ "मैं हूँ" होता है। पूर्ण सत्ता वह है जो "है"। वह आत्मा है, वह ईश्वर है। आत्मा को जानने पर ईश्वर जान लिया जाता है। वस्तुतः ईश्वर आत्मा से भिन्न नहीं है। (५)

प्र: *ईश्वर के कई नामों में सार्थक नाम कौन-सा है?*

उ: ईश्वर के कई हजार नामों में "अहम्" अथवा "अहमस्मि" जितना कोई भी नाम अन्वर्थ, उचित और सुंदर नहीं है, क्योंकि वह निर्विचार हृदय में इसी रूप में रहता है। ईश्वर के प्रसिद्ध असंख्य नामों में केवल "अहम्-अहम्" नाम अहंकार नष्ट होने पर आत्मलक्षी पुरुषों के हृदयावकाश में मौन, परावाणी के रूप में विजेता की तरह गूँजता है। यदि कोई निरंतर अहम्-स्फुरण के प्रति लक्ष रखकर "अहम्-अहम्" नाम पर ध्यान करता है, तो ऐसा ध्यान उसे विचार के जन्मस्थान में ले जाकर वहाँ लीन कर देता है, तथा शरीर से जुड़ा हुआ उसका अहंकार नष्ट हो जाता है। (६)

प्र: *ईश्वर और जगत् का क्या संबंध है? वह जगत् का स्रष्टा, पालयिता है क्या?*

उ: सब प्रकार के चेतन, अचेतन पदार्थ सूर्य की उपस्थिति मात्र से सक्रिय होते हैं, जो आकाश में बिना किसी संकल्प के उदित होता है। इसी प्रकार सब कर्म, बिना किसी इच्छा या संकल्प के, ईश्वर द्वारा होते हैं। सूर्य की विद्यमानतामात्र से सूर्यकान्त मणि आग उगलता है, कमल खिलते हैं, नील कमल बंद होते हैं, और सब प्रकार के प्राणी अपना अपना कर्म करके निश्चेष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार चुंबक की मात्र संनिधि से लोह शलाका गतिशील होती है एवं चंद्र के उदयमात्र से चंद्रकान्तमणि से जल प्रवाहित होने लगता है, नीलकमल खिलते हैं तथा दिन के कमल बंद होते हैं, उसी प्रकार असंख्य ब्रह्मांडों का व्यवस्थित संचालन केवल ईश्वर की संनिधि से सम्पन्न होता है। पूर्णतया निस्संकल्प ईश्वर की संनिधि में जीवित प्राणी अपने अपने कर्मानुसार विभिन्न मार्गो पर चलते हुए विविध प्रकार के कर्म करते हैं। अंत में कर्म की निष्फलता का अनुभव करके पुन: आत्मा की ओर मुड़ते हैं और मुक्ति प्राप्त करते हैं। जैसे जगत् का कर्मकलाप सूर्य को प्रभावित नहीं करता एवं पृथ्वी, जल, तेज और वायु के गुणधर्म निरवयव, अनंत आकाश को प्रभावित नहीं करते, ऐसे ही प्राणियों के कर्मों का मन से पर स्थित ईश्वर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। (७)

प्र: *सृष्टिरूप सीमित व्यक्त संसार शोक एवं अनिष्टों से भरा हुआ क्यों है?*

उ: ईश्वरेच्छा के कारण।

प्र: *ईश्वर क्यों ऐसी इच्छा करता है?*

उ: यह प्रश्न गहन तथा असमाधेय है। उस शक्ति पर किसी भी हेतु का आरोपण नहीं किया जा सकता। उस एक, अनंत, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर के विषय में किसी इच्छा या लक्ष्यप्राप्तिरूप प्रयोजन का विधान नहीं किया जा सकता। अपनी संनिधि में होनेवाले कार्यों से वह हमेशा अस्पृष्ट रहता है। सूर्य एवं जगत् के कार्यों की तुलना कीजिये। वह एक जब अनेक बनता है, तो इसके पीछे किसी जिम्मेवारी या हेतु का आरोपण करना सर्वथा निरर्थक है। (८)

प्र: *क्या सब कुछ ईश्वरेच्छा से होता है?*

उ: सर्वशक्तिमान ईश्वर के नियमों के विरूद्ध कोई भी, कुछ भी नहीं कर सकता।

इसलिये दुष्ट, मार्गभ्रष्ट, भ्रान्त मन के सारे उपद्रवों का त्याग करके ईश्वर के चरणों में मौन रहना श्रेष्ठ मार्ग है। [९]

प्र: *पुण्यपाप के अच्छे बुरे फल देनेवाला ईश्वर नाम का भिन्न, विशेष पुरुष है?*

उ: हाँ।

प्र: *वह कैसा है?*

उ: ईश्वर का भी नश्वर शरीरमनयुक्त व्यक्तित्व है, लेकिन साथ ही उसमें आन्तरिक मुक्ति एवं शरीरमन से पर चैतन्यरूप होने की दृष्टि भी है। विश्व का सर्वोच्च स्रष्टा पुरुष विशेष ईश्वर है। लेकिन यह बात उन लोगों की सापेक्ष दृष्टि में सच है, जो वैयक्तिक जीवभाव के अस्तित्व को सत्य मानते हैं, एवं जिन्होंने अभी परम सत्य का साक्षात्कार नहीं किया है। परमार्थ सत्य के दृष्टिकोण से ज्ञानी एक, अपौरुषेय, निराकार आत्मतत्त्व से भिन्न अन्य किसी के वास्तविक अस्तित्व का स्वीकार नहीं कर सकता।

ईश्वर का भी भौतिक शरीर होता है, आकार और नाम भी होता है, लेकिन वह इस भौतिक शरीर जैसा ठोस नहीं होता। भक्त के द्वारा अपनी भावनानुसार रचे हुए उसके रूप का दर्शन किया जा सकता है। ईश्वर के अनेक नामरूप होते हैं, तथा प्रत्येक धर्म में भिन्न भिन्न होते हैं। उसका और हमारा तत्त्व – एक, अद्वितीय, निराकार सत्तारूप आत्मा – एक समान है। अत: जिन रूपों में वह व्यक्त – प्रकट – होता है, वे कृत्रिम दिखावा मात्र होते हैं। विश्व के सब जीवों तथा पदार्थों में ईश्वर व्याप्त है। सब जीवों एवं पदार्थों की समष्टि ईश्वर है। वह एक ऐसी शक्ति है जिसका छोटा-सा अंश संपूर्ण विश्व के रूप में प्रकट हुआ है, और शेषभाग अव्यक्तरूप में सुरक्षित रहता है। यह अव्यक्त सुरक्षित भाग एवं भौतिक विश्वरूप में अभिव्यक्त भाग दोनों मिलकर ईश्वर का पूर्ण स्वरूप बनता है। [१०]

प्र: *तो अन्ततोगत्वा ईश्वर असत्य है?*

उ: ईश्वरविषयक हमारे ख्याल से उसका अस्तित्व प्रमाणित होता है। पहले हमें वह किसका खयाल है, यह जानना चाहिये। खयाल हमेशा करनेवाले के अनुसार ही होता है। ढूँढ निकालिये कि ईश्वर का खयाल करनेवाले आप कौन हैं, और सारे प्रश्नों का समाधान अपने आप हो जायगा। [११]

ईश्वर, परमात्मा, स्रष्टा, परमपुरुष सबसे आखिर में लुप्त होनेवाला असत्य आकार है। केवल निराकार पूर्ण सत्ता ही सत्य है। इसलिये न केवल विश्व, न केवल अहंकार, बल्कि परमपुरुष परमात्मा भी असत्य है। हमें पूर्ण को ही प्राप्त करना चाहिये, उससे कम किसी को नहीं। [१२]

प्र: *आप कहते हैं कि सर्वोच्च ईश्वर भी केवल एक खयाल है। उसका यह अर्थ नहीं कि ईश्वर है ही नहीं?*

उ: नहीं, ईश्वर अवश्य है। [१३]

प्र: *वह किसी विशेष स्थान में या विशेष आकार में होता है?*

उ: यदि वैयक्तिक जीव एक आकार है, तो उसका मूल-आत्मा जो ईश्वर है, साकार दिखेगा। यदि मनुष्य स्वयं निराकार हो, तो जैसे अन्य पदार्थों का ज्ञान नहीं होगा, यह कैसे कहा जा सकता है कि ईश्वर साकार है? दीर्घकाल तक किये गये ध्यान से, भक्त जिस किसी रूप का निरंतर चिन्तन करता है, वह स्वरूप ईश्वर धारण करता है। इस प्रकार यद्यपि वह अनेक नामरूप धारण करता है, ईश्वर वस्तुतः निराकार चैतन्य ही है।

जहाँ तक ईश्वर के निवासस्थान का सवाल है, वह हृदय के अलावा अन्य किसी स्थान में निवास नहीं करता। अहंकार के कारण उत्पन्न हुए भ्रम से, अर्थात् "मैं देह हूँ" इस विचार से, ईश्वर का साम्राज्य कहीं और मान लिया जाता है। निश्चित मानिये कि हृदय ईश्वर का साम्राज्य है।

जानना चाहिये कि आप वह पूर्ण प्रकाश हैं, जो ईश्वर के साम्राज्य का अस्तित्व संभव बनाता है, और उसे अत्यंत आश्चर्यमय स्वर्ग के रूप में प्रकाशित करता है। इस सत्य को जानना ज्ञान है। इसलिये ईश्वर का साम्राज्य आपके भीतर है। तुरीयातीतरूप वह अनंत आकाश जो अकस्मात् परिपक्व साधक के हृदय में, पूर्ण चित्तलय होने पर, नये, और पहले न जाने गये अनुभव के रूप में प्रकाशित हो उठता है, वही शिवलोक – ईश्वर का साम्राज्य है जो आत्मप्रकाश से जगमगाता है। [१४]

प्र: *कहा जाता है कि जीव सीमित दृष्टि तथा ज्ञान जैसे माया के दोषों के वशीभूत है, जबकि ईश्वर की दृष्टि तथा ज्ञान अनंत-सर्वव्यापक हैं। यह भी कहा जाता है कि यदि जीव अपनी मर्यादित दृष्टि एवं ज्ञान का त्याग करे तो वह ईश्वर के साथ एकरूप हो जाता है। ईश्वर को भी अपने सर्वज्ञता इत्यादि विशेष लक्षणों का त्याग करना चाहिये, क्योंकि ये भी भ्रम हैं; हैं कि नहीं?*

उ: अच्छा, तो आपका यह संदेह है? पहले आप अपनी सीमित दृष्टि एवं ज्ञान का त्याग कीजिये, तब ईश्वर की सर्वज्ञता का विचार करने के लिये पर्याप्त समय रहेगा। आप ईश्वर की चिन्ता क्यों करते हैं? वह अपनी चिन्ता स्वयं करेगा। क्या उसमें हमारे जितना भी सामर्थ्य नहीं है? हमें क्यों चिन्ता करनी चाहिये कि ईश्वर सर्वव्यापक दृष्टि और ज्ञानवाला है कि नहीं? यदि हम अपनी चिन्ता करें, तो वह बहुत बड़ी बात होगी। [१५]

प्र: *लेकिन क्या ईश्वर सब कुछ जानता है?*

उ: वेद कहते हैं कि ईश्वर उन लोगों के लिये सर्वज्ञ है, जो अज्ञान के कारण स्वयं को अल्पज्ञ मानते हैं। लेकिन यदि कोई उसे वह वस्तुतः जैसा है, वैसा जाने, तो स्पष्ट होगा कि ईश्वर कुछ नहीं जानता, क्योंकि उसका स्वरूप नित्य, सत्य और पूर्ण है, जिससे अलग जानने योग्य कुछ नहीं है। [१६]

प्र: *विभिन्न धर्म अनेक देव, स्वर्ग, नरक इत्यादि की बात क्यों करते हैं?*

उः लोगों को ऐसा समझाने के लिये कि ये सब इस जगत् जैसे ही हैं, और केवल आत्मा ही सत्य है। साधकों के दृष्टिबिन्दु अनुसार धर्म हुआ करते हैं। [१७]

प्रः *विष्णु, शिव इत्यादि का अस्तित्व है?*

उः हाँ, केवल मानवीय जीवों का अस्तित्व हो ऐसा नहीं है। [१८]

प्रः *और उनके कैलाश, वैकुंठ इत्यादि पवित्र निवासस्थान सत्य हैं?*

उः उतने सत्य जितने आप इस शरीर में है।

प्रः *उनका मेरे शरीर जैसा भौतिक अस्तित्व है कि सिर्फ शशश्रृंग की तरह कल्पना है?*

उः उनका अस्तित्व है।

प्रः *यदि है तो कहाँ है?*

उः जिन्होंने उनको देखा है, वे कहते हैं कि वे कहीं पर हैं। इसलिये हमें उनकी बात माननी चाहिये।

प्रः *वे कहाँ हैं?*

उः आपके भीतर।

प्रः *तो यह केवल एक विचार है, जिसे मैं उत्पन्न कर सकता हूँ, तथा उसका नियंत्रण कर सकता हूँ।*

उः सब कुछ इसी तरह है।

प्रः *लेकिन मैं तो शुद्ध कल्पना कर सकता हूँ जैसे शशश्रृंग, या आंशिक सत्य जैसे मृगजल, जबकि कुछ तथ्य भी होते हैं, जो मेरी कल्पना से स्वतंत्र हैं। ईश्वर और विष्णु का अस्तित्व इस प्रकार का है?*

उः हाँ।

प्रः *क्या ईश्वर का भी प्रलय होता है?*

उः क्यों? यदि मनुष्य भी आत्मा को जानकर प्रलय से पर होकर मुक्त होता है, तो ईश्वर क्यों नहीं, जो अपरिमित ज्ञान और सामर्थ्यवाला है? [१९]

प्रः *इस तरह देव और पिशाच इत्यादि भी होते हैं?*

उः हाँ। [२०]

प्रः *आत्मा की अपेक्षा से इन देवों की क्या स्थिति है?*

उः शिव, गणपति तथा अन्य ब्रह्मादि देवों का अस्तित्व मनुष्य के दृष्टिकोण से है, अर्थात् यदि आप अपने वैयक्तिक आत्मभाव को सत्य मानते हैं तो उनका भी अस्तित्व है। जैसे सरकार चलाने के लिये उच्च अधिकारी होते हैं, उसी प्रकार स्रष्टा ईश्वर के भी अधिकारी होते हैं। लेकिन आत्मा के दृष्टिकोण से ये सब देव भ्रमजन्य हैं और उनको भी एक पूर्ण सत्य में अवश्य लुप्त होना पड़ता है। [२१]

प्रः *जब भी मैं नामरूपवाले ईश्वर की उपासना करता हूँ, मुझे लगता है कि कहीं मैं गलती तो नहीं कर रहा, क्योंकि यह तो अनंत को सान्त बनाना या निराकार को आकार*

देना हुआ। साथ साथ ऐसा भी लगता है कि मैं निराकार ईश्वर की उपासना में एकनिष्ठ नहीं हूँ।

उ: जब तक नाम से पुकारे जाने पर आप जवाब देते हैं, तब तक नामरूपवाले ईश्वर की उपासना करने में क्या हानि है? साकार या निराकार ईश्वर की तब तक उपासना कीजिये जब तक आप कौन हैं यह जान लें। (२२)

प्र: *पुरुषाकार ईश्वर में विश्वास करना मेरे लिये मुश्किल है। हकीकत में मुझे यह असंभव लगता है। लेकिन मैं अपौरुषेय ईश्वर में विश्वास कर सकता हूँ जो एक दिव्य शक्ति है और जगत् का मार्गदर्शन करती है। यह मेरे लिये, मेरे वैद्यकीय व्यवसाय में भी सहायक बात होती, यदि मेरा ऐसा विश्वास बढ़े। क्या मैं जान सकता हूँ, इसे कैसे बढ़ाया जाय?*

उ: विश्वास अज्ञात वस्तुओं में होता है, लेकिन आत्मा नित्यज्ञात, एवं स्वयंसिद्ध है। सबसे बड़ा अभिमानी मनुष्य भी अपने अस्तित्व का इन्कार नहीं कर सकता, अर्थात् आत्मा का निषेध नहीं कर सकता। अंतिम सत्य को आप मनपसंद नाम से पुकारिये और कहिये कि मुझे उसमें प्रेम और विश्वास है, लेकिन ऐसा कौन है, जिसे अपने अस्तित्व में विश्वास न हो और अपने प्रति प्रेम न हो? इसका कारण यह है कि श्रद्धा और प्रेम हमारा सच्चा स्वभाव है। (२३)

प्र: *क्या मुझे ईश्वरविषयक कोई विचार नहीं करना चाहिये?*

उ: हृदय में जब तक दूसरे विचार हों, तब तक ईश्वरविषयक विचार करना चाहिये। अन्य विचारों के साथ उस ईश्वरविषयक विचार का भी लोप हो जाय, तब उसे अचिन्त्य चिन्तन – ईश्वर-विषयक सत्य विचार – कहा जाता है। (२४)

दुःख और नैतिकता

ईश्वरवाद में अन्तर्निहित स्वाभाविक विरोधाभासों ने पाश्चात्य ईश्वरवादियों एवं तत्वचिन्तकों के चित्त को सदियों से उलझा रक्खा है। उदाहरण के तौर पर ईश्वर यदि पूर्ण है तो जगत् में बुराई क्यों है? सर्वशक्तिमान् ईश्वर दुःख क्यों रहने देता है, जब वह एक ही इशारे से उसे नष्ट कर सकता है? श्री रमण ऐसे कूटप्रश्नों को यह कहकर टाल देते कि जगत्, ईश्वर तथा दुःख भोगनेवाले जीव चित्त की काल्पनिक सृष्टि है। "सभी धर्म प्रारंभ में जीव, जगत् और ईश्वर, इन तीन तत्त्वों की स्थापना करते हैं। एक तत्त्व इन तीन रूपों में दिखता है अथवा ये तीन हमेशा तीन ही रहते हैं, ऐसा तब तक ही कहा जा सकता है, जब तक अहंकार का अस्तित्व रहता है। निरहंकार अवस्था सर्वोत्तम निष्ठा है।" [१]

दुःख को बुरे कर्मों का फल अथवा ईश्वरेच्छा कहने के बजाय श्री रमण हम भिन्न व्यक्ति हैं जो परस्पर एवं जगत् के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते रहते हैं, ऐसी गलत मान्यता को उसका कारण बताते थे। वे कहते कि बुरे कर्म दुःख का कारण नहीं है, लेकिन वे उसे बढ़ाते है इसलिये उनसे बचना चाहिये। चित्त भेदभ्रम उत्पन्न करता है और स्वयं चित्त ही अपने काल्पनिक सर्जनों से दुःखी होता है। इस प्रकार दुःख भेद के आधार पर सोचनेवाले मन की उपज है, अतः मनोनाश होने पर दुःख का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

कुछ मुलाकाती इस विधान की सत्यता को वैयक्तिक स्तर पर स्वीकार करते थे, परंतु दुनिया में पाये जानेवाले सारे दुःखों को सिर्फ मनुष्य के मन की उपज मानना उनके लिये मुश्किल था। श्री रमण अपनी इस बात पर दृढ़ थे एवं हर बार यही कहते थे कि यदि मनुष्य आत्मसाक्षात्कार कर ले, तो उसे मालूम होगा कि न केवल वैयक्तिक बल्कि समष्टि के दुःखों का भी वास्तविक अस्तित्व नहीं है।

इस विचार को उसकी तार्किक परिणति तक ले जाकर, श्री रमण प्रायः कहते कि दूसरों के दुःखों को दूर करने का सही और असरकारक उपाय आत्म-साक्षात्कार है।

इसका यह अर्थ नहीं कि श्री रमण अपने अनुयायियों को अन्य के दुःखों की अवगणना करने के लिये प्रोत्साहित करते थे। अधिक व्यावहारिक स्तर पर वे कहते कि आत्मसाक्षात्कार के पूर्व मनुष्य को चाहिये कि वह दूसरों के दुःखों की सत्यता का स्वीकार करे तथा जहाँ भी दुःख दिखे वहाँ उसे दूर करने के उपाय करे। लेकिन साथ साथ वे यह स्पष्ट कर देते कि इस प्रकार अन्य के दुःख दूर करने के उपायरूप कर्म आध्यात्मिक दृष्टि से तभी लाभदायक सिद्ध होंगे, जब उनको "मुझसे कम भाग्यशाली लोगों की सहायता की जा रही है" तथा "मैं इन कर्मों का कर्ता हूँ" ऐसे विचारों से मुक्त रहकर किया जाय।

आम तौर पर जगत् में मनुष्य को क्या करना या क्या न करना चाहिये इस प्रश्न का श्री रमण की दृष्टि में विशेष महत्व नहीं था। वे कहते कि अच्छे-बुरे का परंपरागत ख्याल मन से किये गये मूल्यांकन पर आधारित होता है, इसलिये मनोनाश होने पर सही एवं गलत का विचार समाप्त हो जाता है। इस कारण वे नैतिकता के परंपरा से प्राप्त सिद्धान्तों की बात विशेष रूप से नहीं करते थे, और जब उनके विषय में बोलने का आग्रह किया जाता तो यह कह कर टाल देते कि आत्मा को खोज निकालना "सही कर्म" है।

प्र: *आपके विचार में जगत् के दुःखों का कारण क्या है? हमें स्थिति बदलने के लिये वैयक्तिक या सामूहिक रूप से क्या करना चाहिये?*

उ: सच्चे आत्मा को जानिये, बस यही करना आवश्यक है। [२]

प्र: *मर्यादाओं से पूर्ण इस जीवन में मैं आत्मा का आनंद प्राप्त कर सकता हूँ?*

उ: आत्मा का अखंड आनंद हमेशा आपके साथ है, अत: यदि आप सन्निष्ठा से उसका अन्वेषण करें, तो वह अवश्य आपको प्राप्त होगा। आपके दु:खों का कारण आपसे बाह्य जीवन में नहीं है, वह आपमें अहंकार के रूप में मौजूद है। आप अपने ऊपर स्वयं मर्यादाओं का आरोप करते हैं, और तब उनसे पर होने के निष्फल यत्न करते हैं। सारे दुःख अहंकार के कारण उत्पन्न होते हैं, उसके साथ आपकी सब परेशानियाँ आती हैं। वस्तुत: दुःख का कारण आपमें है, उसका बाह्य जीवन की घटनाओं पर आरोप करने से आपको क्या लाभ है? तथा आपसे भिन्न बाह्य पदार्थों से आपको क्या सुख मिलनेवाला है? यदि कभी मिल भी जाय, तो कितनी देर रहनेवाला है?

यदि आप अहंकार का इन्कार करें ओर अवगणना करके उसे जला दें, तो आप मुक्त हो जायेंगे। लेकिन यदि आप उसका स्वीकार करेंगे, तो वह आप पर मर्यादाएँ ला देगा, और उनसे पर होने के मिथ्या संघर्ष में आपको डाल देगा। आप वस्तुत: जो हैं वह अर्थात्

आत्मा ही बने रहना, उस अखंड आनंद को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है, जो हमेशा आपका है। [३]

प्र: *यदि वस्तुतः बंधन या मोक्ष नहीं है, तो इस सुखदुःख के सच्चे अनुभव का कारण क्या है?*

उ: ये सुखदुःख तब सच्चे लगते हैं, जब मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप से च्युत होता है। इनका सच्चा अस्तित्व नहीं है। [४]

प्र: *जगत् का सर्जन सुखदुःख के अनुभव के लिये किया गया है?*

उ: सर्जन अच्छा या बुरा नहीं है। वह जैसा है वैसा है। लेकिन मनुष्य का मन उसपर सब प्रकार के अर्थों का आरोप करता है, क्योंकि वह पदार्थों को अपनी संकुचित दृष्टि से देखता है और अपने ही स्वार्थ के अनुरूप उनको ढालना या बदलना चाहता है। स्त्री केवल अपने आपमें स्त्री है, लेकिन एक मनुष्य उसे माँ, दूसरा बहन, तीसरा ताऊ इत्यादि कहता है। मनुष्य स्त्री से राग, साँप का तिरस्कार और रास्ते के पासवाले पत्थरों की एवं ऊगे हुए घास की उपेक्षा करता है। ये मूल्यांकन जगत् में सारे दुःखों का कारण हैं। सृष्टि पीपल के पेड़ जैसी है। पक्षी उसके फल खाने के लिये या उसकी शाखाओं में आश्रय पाने के लिये आते हैं, मनुष्य उसकी छाया में शीतलता प्राप्त करते हैं, लेकिन कुछ लोग उसपर रस्सी बाँधकर जान दे देते हैं। फिर भी वृक्ष अपना शान्त जीवन जीना जारी रखता है। वह अपने विभिन्न उपयोगों के प्रति उदासीन एवं अनजान रहता है। यह तो मनुष्य का मन है जो अपनी परेशानियाँ खुद उत्पन्न करता है और तब सहायता के लिये चिल्लाता है। क्या ईश्वर पक्षपाती है जो एक मनुष्य को शान्ति और दूसरे को शोक देता है? सृष्टि में सबके लिये स्थान है। लेकिन मनुष्य अच्छे, स्वस्थ एवं सुंदर पदार्थों को देखकर भी अनदेखा कर देता है, और उस भूखे आदमी की तरह फरियाद करता रहता है जो स्वादिष्ट भोजन के पास बैठकर हाथ पसारकर खाने के बजाय विलाप करता रहता है। यह किसका दोष है, ईश्वर का या मनुष्य का? [५]

प्र: *यदि ईश्वर सब कुछ है, तो मनुष्य अपने कर्मों से क्यों दुःखी होता है? जिनके कारण वह दुःखी होता है, क्या वे कर्म ईश्वर प्रेरित नहीं हैं?*

उ: जो स्वयं को कर्ता मानता है, वह दुःखी होता है।

प्र: *लेकिन कर्म ईश्वरप्रेरित हैं, और मनुष्य तो निमित्तमात्र है।*

उ: दुःखी होने पर ही मनुष्य इस तर्क का आश्रय लेता है, सुख के अनुभव के समय नहीं। यदि यह निश्चय हमेशा बना रहे, तो दुःख नहीं होगा।

प्र: *दुःखों का अंत कब होगा?*

उ: व्यक्तित्व लुप्त होने पर दुःख मिट जायगा। यदि अच्छे-बुरे सब कर्म उसी के हैं, तो आप क्यों सोचते हैं कि सुखदुःखभोग सिर्फ आपका ही है। जो अच्छा या बुरा करता है वह सुख या दुःख भोगता है। इस बात को यहीं छोड़ दीजिये और अपने आप पर दुःख का आरोप मत कीजिये। [६]

प्रः *आप कैसे कहते हैं कि दुःख का अस्तित्व नहीं है? मैं तो सर्वत्र दुःख ही दुःख देखता हूँ।*

उः अपना ही सत्य सबके हृदयरूप में प्रकाशित हो रहा है और वह स्वयं विशुद्ध आनंद का सागर है। अतः आकाश की भ्रामक नीलता की तरह वस्तुतः दुःख का अस्तित्व नहीं है, बल्कि कल्पनामात्र है। अपना सत्य ज्ञानरूप सूर्य है, वह भ्रम के अंधकार से अस्पृष्ट रहता है, तथा हमेशा सुखरूप से प्रकाशित होता है। इस कारण दुःख भ्रम के अलावा कुछ नहीं है, जो मिथ्या व्यक्तित्व के विचार से उत्पन्न होता है। वस्तुतः किसी ने दुःख का ऐसे मिथ्या भ्रम के अलावा अन्य किसी रूप में कभी भी अनुभव नहीं किया है। यदि मनुष्य सुखरूप अपने आत्मा का विवेक करे तो उसके जीवन में जरा भी दुःख नहीं रहेगा। मनुष्य दुःखी इस कारण होता है कि वह जो कभी भी आत्मा नहीं है, ऐसे शरीर को "मैं" मानता है। इस भ्रम से सभी दुःख उत्पन्न होते हैं। [७]

प्रः *मुझे शरीर तथा मन दोनों में दुःख का अनुभव होता है। जन्म दिन से आज तक कभी भी मुझे सुख नहीं मिला। मैंने सुना है कि मेरी माता भी मुझे गर्भ में धारण करने के समय से दुःखी रही थी। मैं क्यों इस प्रकार दुःख का अनुभव कर रहा हूँ? जीवन में मैंने कोई पाप नहीं किया। क्या यह मेरे पूर्वजन्मों के पापों का फल है?*

उः आप कहते हैं कि आपके शरीर और मन दुःख का अनुभव करते हैं, लेकिन वे प्रश्न पूछते हैं? प्रश्न पूछनेवाला कौन है? क्या वह शरीर मन से पर नहीं है? आप कहते हैं कि शरीर इस जीवन में दुःख का अनुभव करता है, और जानना चाहते हैं कि क्या इसका कारण पूर्वजीवन नहीं है। यदि ऐसा हो, तो उस जीवन का कारण उसके पूर्व का जीवन होना चाहिये और उसका उसके पूर्व का, इस प्रकार इस क्रम का कहीं अंत नहीं है। बीज तथा अंकुर की तरह इस कारणकार्यपरंपरा का कहीं अंत नहीं हो सकता। यह अवश्य कहना पड़ेगा कि सब जीवनों का प्रथम कारण अज्ञान है, जो वर्तमान जीवन में भी विद्यमान है, और इस प्रश्न को पूछ रहा है। उस अज्ञान का ज्ञान से निवारण अवश्य करना चाहिये।

यदि आप प्रश्न पूछें कि यह दुःख क्यों और किसे है? तो आपको पता चलेगा कि "मैं" शरीर तथा मन से भिन्न है तथा यह आत्मा केवल शाश्वत सत्ता है, और वही शाश्वत आनंद है; यह ज्ञान है। [८]

प्रः *यद्यपि सुखी होने के लिये मुझे किसी वस्तु का अभाव नहीं है, फिर भी मुझे असंख्य चिन्ताएँ सताती हैं और कभी भी शान्ति नहीं मिलती।*

उः क्या ये चिन्ताएँ आपको गहरी नींद में भी सताती हैं?

प्रः *नहीं, नींद में नहीं सतातीं।*

उः क्या आप वर्तमान में वही व्यक्ति हैं, या निश्चिन्त सोनेवाले से भिन्न हैं?

प्रः *हाँ, मैं वही व्यक्ति हूँ।*

उ: तो निश्चित मानिये कि ये चिन्ताएँ आपकी नहीं हैं। यदि आप वे आपकी हैं, ऐसी कल्पना करें, तो यह आपका दोष है। (९)

प्र: *जब हम शोकातुर होकर आपको पत्र से या मानसिक प्रार्थना से फरियाद करते हैं, तो क्या आपको मेरा शिशु इस तरह दुःखी हो रहा है, ऐसा समभाव नहीं होता?*

उ: यदि कोई इस प्रकार अनुभव करे, तो वह ज्ञानी नहीं है। (१०)

प्र: *हम जगत् में दुःख देखते हैं। एक मनुष्य भूखा है, यह एक भौतिक सत्य है, और उसके लिये बिल्कुल सच्चा है। क्या हम इसे स्वप्न कहकर उसके दुःख से अप्रभावित रहेंगे?*

उ: ज्ञान अर्थात् सत्य के दृष्टिकोण के अनुसार जिस दुःख की आप बात करते हैं, वह अवश्य स्वप्न है, क्योंकि स्वयं विश्व एक स्वप्न है, जिसका छोटा-सा भाग यह दुःख है। स्वप्न में आपको भूख लगती है, और दूसरे भूख से पीड़ित लोग भी दिखते हैं। आप स्वयं खाते हैं और अन्य भूख से पीड़ित लोगों को करुणा से खिलाते हैं। जब तक स्वप्न रहता है, भूख की पीड़ा बिल्कुल सच्ची लगती है, जैसे इस समय आपको जगत् में दिखनेवाली पीड़ा सच्ची लगती है। लेकिन जब आप जगते हैं, तब मालूम पड़ता है कि स्वप्न में देखी गई पीड़ा सच्ची नहीं थी। खूब खाकर आप सोयें हों, फिर भी स्वप्न में आपको लगता है कि दिनभर सूर्य की गरमी में श्रम करके आप थक गये हैं और आपको भूख लगी है और खाना चाहते हैं। तब आप जग जाते हैं तो पता चलता है कि आपका पेट भरा हुआ है और आप शय्या में हिले भी नहीं हैं। लेकिन ऐसा कहने का यह मतलब नहीं है कि जब तक आप स्वप्न में हों, तब भी आपको दिखनेवाले दुःख मिथ्या हैं ऐसा मानकर व्यवहार करना चाहिये। स्वप्न की भूख को स्वप्न के अन्न से मिटाना आवश्यक है। स्वप्न में दिखनेवाले भूखे लोगों को स्वप्न का भोजन देना जरूरी है। स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं का मिश्रण कभी भी नहीं करना चाहिये। जब तक आप ज्ञान की अवस्था प्राप्त नहीं करते, और इस प्रकार माया की निद्रा से जगते नहीं, आपको अवश्य समाजसेवा करनी चाहिये और जहाँ भी दुःख दिखे उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। साथ साथ यह भी कहा जाता है कि ऐसी सेवा भी निरहंकार होकर करनी चाहिये, अर्थात् "मैं कर्ता हूँ" ऐसा अभिमान छोड़कर तथा "मैं ईश्वर का निमित्त-मात्र हूँ" ऐसा सोचकर करनी चाहिये। मनुष्य को ऐसा भी नहीं सोचना चाहिये कि "मैं मुझसे निम्न स्तर के मनुष्य की सहायता कर रहा हूँ। उसे सहायता की आवश्यकता है, और मैं सहायता करने की स्थिति में हूँ, अतः मैं ऊँचा हूँ और वह नीचा है"। आपको उस मनुष्य में निवास करनेवाले ईश्वर की पूजा करने की भावना से ही उसकी सहायता करनी चाहिये। ऐसी सारी सेवा अपने आत्मा की ही सेवा है, किसी अन्य की नहीं। आप किसी दूसरे की नहीं, बल्कि अपनी ही सहायता करते हैं।

प्र: *जो लोग निरंतर ध्यान नहीं कर सकते, उनके लिये दूसरों के हित के कार्य में लगे रहना क्या पर्याप्त नहीं हैं?*

उः हाँ, यह पर्याप्त है। अन्य के हित का विचार उनके हृदय में रहे यह पर्याप्त है। भलाई, ईश्वर, प्रेम सब समान हैं। यदि मनुष्य इनमें से किसी एक के विषय में निरंतर सोचता रहे तो यह पर्याप्त है। ध्यान के सब प्रकार दूसरे सब विचारों को दूर रखने के हेतु से अपनाये जाते हैं। (१२)

प्रः *तो आखिर दुःख मिथ्या है ऐसा जानकर भी मनुष्य को चाहिये कि वह उसे कम करने का प्रयत्न करता रहे?*

उः भूत या भविष्यकाल में कभी भी ऐसी स्थिति नहीं होती जब सभी लोग समानरूप से सुखी, सम्पन्न, ज्ञानी तथा स्वस्थ हों। हकीकत में, इन शब्दों का – उनसे विरोधी भावों के अस्तित्व के सिवा – कोई अर्थ नहीं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि आप आपसे अधिक दुःखी या कम सुखी किसी से मिलें, तो करुणा से उसके दुःख को हर संभव उपाय से दूर करने का प्रयत्न आपको नहीं करना चाहिये। इसके विरूद्ध, आपको सबसे प्रेम करना चाहिये और सबको सहायता करनी चाहिये, क्योंकि सिर्फ इस प्रकार आप स्वयं की सहायता कर सकते हैं। जब आप अपने साथी मनुष्य या प्राणी के दुःख को कम करने का प्रयत्न करते हैं, तब आपके ऐसे प्रयत्न सफल हों, या न हों, आप स्वयं आध्यात्मिक दृष्टि से अवश्य विकसित हो रहे होते हैं, विशेषतया जब आप निःस्वार्थ भाव से अर्थात् निरहंकार भाव से – "मैं यह कर रहा हूँ", ऐसे भाव से नहीं बल्कि "ईश्वर मुझे ऐसी सेवा का निमित्त बना रहा है, वह कर्ता है, मैं साधन हूँ", ऐसे भाव से – सेवा कर रहे होते हैं। (१३)

यदि कोई यह सत्य जानता है कि वह जो कुछ दूसरों को देता है, वह वस्तुतः स्वयं को ही देता है, तो कौन दूसरों को देने का अच्छा कार्य करके सद्‌गुणी नहीं बनेगा? चूँकि प्रत्येक प्राणी अपनी आत्मा है, कोई भी, किसी के भी प्रति, जो कुछ भी करता है, वह केवल अपने आप के प्रति किया जा रहा होता है। (१४)

प्रः *दुनिया में दुर्भिक्ष, सांसर्गिक रोग तथा व्यापक विनाश करनेवाली विपत्तियाँ इत्यादि भयंकर घटनाएँ होती हैं, इनका कारण क्या है?*

उः यह सब किसे दिखाई देता है?

प्रः *ऐसा नहीं चलेगा। मैं सर्वत्र दुःख देख रहा हूँ।*

उः गहरी नींद में आप जगत् तथा उसकी विपत्तियों के बारे में सभान नहीं होते, लेकिन अब जाग्रत अवस्था में सभान हैं। उस अवस्था में रहिये जिसमें आप इनसे व्यथित नहीं होते। अर्थात् जब आप जगत् के विषय में सभान नहीं होते हैं, तो आपको उसकी विपत्तियाँ से पीड़ा नहीं होगी। जब आप नींद की तरह आत्मनिष्ठ रहेंगे तो जगत् और उसके दुःख का आप पर कोई असर नहीं होगा। इसलिये अंदर दृष्टि कीजिये, और आत्मा को देखिये, तब जगत् और उसके दुःखों का अंत होगा।

प्रः *लेकिन यह तो स्वार्थ हुआ।*

उ: जगत् बाहर नहीं है। चूँकि आप स्वयं को गलती से शरीर के साथ एकरूप मानते हैं, आप जगत् को बाहर देखते हैं, और उसका दुःख भी आपको दिखता है, लेकिन वे सत्य नहीं है। सत्य का अन्वेषण कीजिये और इस असत्य संवेदना से मुक्त हो जाइये।

प्र: *बड़े बड़े समाजसेवक और महान् लोग भी जगत् के दुःखों के प्रश्न का हल नहीं पा रहे हैं।*

उ: उनके असामर्थ्य का कारण अहं केन्द्रितता है, यदि वे आत्मकेन्द्री होते तो स्थिति भिन्न होती।

प्र: *संत, महात्मा सहायता क्यों नहीं करते?*

उ: आपने कैसे जाना कि वे सहायता नहीं करते। सार्वजनिक प्रवचन, शारीरिक कर्म, भौतिक सामग्री की सहायता – ये सब महात्मा के मौन की तुलना में कम असरकारक हैं। वे दूसरों से कहीं अधिक अच्छे कार्य करते हैं।

प्र: *जगत् की स्थिति सुधारने के लिये हमें क्या करना चाहिये?*

उ: यदि आप दुःखमुक्त रहें तो कहीं भी दुःख नहीं रहेगा। वर्तमान परेशानी का कारण जगत् को बाहर देखना एवं वहाँ दुःख है ऐसा सोचना है। जगत् और उसका दुःख दोनों आपके भीतर हैं। यदि आप अन्तर्दृष्टि करें तो दुःख नहीं रहेगा।

प्र: *ईश्वर पूर्ण है। उसने जगत् को अपूर्ण क्यों बनाया? कार्य में कारण के गुण आते हैं, लेकिन यहाँ ऐसा नहीं है।*

उ: इस प्रश्न को कौन पूछता है?

प्र: *मैं एक मनुष्य।*

उ: क्या आप ईश्वर से अलग हैं जो यह प्रश्न पूछते हैं? जब तक आप स्वयं को देह मानते हैं, आपको जगत् बाहर दिखता है, और अपूर्णता भी दिखती है। वस्तुतः ईश्वर और उसका कार्य पूर्ण हैं, लेकिन गलत तादात्म्य के कारण आप उसे अपूर्ण मानते हैं।

प्र: *आत्मा क्यों इस दुःखपूर्ण जगत् रूप में प्रकट हुआ?*

उ: इसलिये कि आप उसे ढूँढें। आपकी आँखें स्वयं को देख नहीं सकतीं। उनके सामने दर्पण रखिये, तो वे स्वयं को देख सकती हैं। सृष्टि के विषय में भी ऐसा है। अपने आत्मा को पहले देखिये, तब जगत् को आत्मरूप देखिये।

प्र: *इसका यह अर्थ हुआ कि मुझे हमेशा भीतर देखना चाहिये।*

उ: हाँ।

प्र: *क्या मुझे जगत् की ओर कभी भी नहीं देखना चाहिये?*

उ: आपको जगत् की ओर आँखें बंद रखने के लिये नहीं कहा जा रहा है। पहले आपको अपना आत्मा देखना चाहिये और बाद में जगत् को आत्मरूप देखना चाहिये। यदि आप स्वयं को देह मानते हैं, तो जगत् बाहर दिखता है, लेकिन यदि आप आत्मा हैं तो जगत् ब्रह्मरूप दिखेगा। [१५]

प्रः *विश्व में शान्ति की स्थापना करने का श्रेष्ठ मार्ग कौन-सा है?*

उः विश्व क्या है? शान्ति क्या है? और कार्यकर कौन है? आपकी निद्रा के दौरान विश्व नहीं होता, और जाग्रत में वह आपके मन का प्रक्षेपण है। इसलिये विश्व विचारमात्र है, और कुछ नहीं। शान्ति उपद्रवों का अभाव है। व्यक्ति में विचारों से उपद्रव उत्पन्न होते हैं, और व्यक्ति शुद्ध चैतन्य से प्रकट होनेवाले अहंकार से भिन्न नहीं है। शान्ति की स्थापना का अर्थ विचाररहित शुद्ध चैतन्य रूप रहना है। यदि मनुष्य स्वयं शान्ति में रहता है, तो सर्वत्र केवल शान्ति है।

प्रः *दूसरे को गलती से बचाने के लिये मनुष्य को जो स्वयं गलत समझता है उसे करने की आवश्यकता पड़े, तो उसे वह करना चाहिये?*

उः सही और गलत क्या है? इनका कोई स्थिर धोरण नहीं है, जिसके आधार पर यह निश्चित किया जा सके कि एक वस्तु अच्छी तथा दूसरी बुरी है। व्यक्ति के स्वभाव एवं परिस्थिति अनुसार मान्यताएँ बदलती रहती हैं, जो केवल विचार हैं, और कुछ नहीं। इनकी फिकर करने के बजाय विचारों से मुक्त हो जाइये। यदि आप हमेशा सही मार्ग पर चलोगे, तो विश्व में सही अर्थात् धर्म ही रहेगा। (१६)

प्रः *सही आचरण मुक्ति प्राप्त करने के लिये पर्याप्त नहीं है?*

उः किससे मुक्ति? मुक्ति कौन चाहता है? और सही आचरण कौन-सा है? आचरण क्या है, और सही क्या है? सही और गलत का निर्णय कौन करेगा? अपने पूर्व संस्कारों के कारण मनुष्य किसी चीज को सही मानता है। सत्य को जानने के पश्चात् ही सही और गलत का ठीक निर्णय किया जा सकता है। मुक्ति कौन चाहता है, उसे ढूँढ निकालना सही मार्ग है। इस "कौन" अर्थात् अहंकार का उसके मूल तक अन्वेषण करना सबके लिये सही आचरण है।

प्रः *नित्यकर्म – सत्कर्म – मुक्ति नहीं दे सकते? कुछ धर्मग्रंथ कहते हैं कि दे सकते हैं।*

उः ग्रंथों में ऐसा कहा गया है और ये कर्म अच्छे हैं एवं क्रमशः ध्येय तक ले जाते हैं इसका कोई इन्कार नहीं करता। अच्छा आचरण या सत्कर्म चित्त को शुद्ध करता है, शुद्ध चित्त में ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसे मोक्ष कहते हैं। तो इस प्रकार क्रमशः ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये अर्थात् अहंकार की उसके जन्मस्थान तक तलाश अवश्य करनी चाहिये। लेकिन जो लोग इस सीधे मार्ग को पसंद नहीं करते, उनको हमें ऐसा कहना पड़ता है कि सत्कर्म से चित्तशुद्धि होती है, चित्तशुद्धि से ज्ञान या सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है जो मुक्ति देता है। (१७)

प्रः *हेतु का क्या मूल्य है? कर्म के पीछे रहे हेतु महत्व के हैं या नहीं?*

उः जो भी प्रेम-भक्ति से, धार्मिक शुद्धिपूर्वक और शान्त चित्त से किया जाता है, वह सत्कर्म है। जो भी ईच्छारूप दोषवाला है और चित्त को अशान्ति से भर देता है वह कर्म बुरा है। अच्छा कर्म भी – यह सोचकर कि परिणाम का अच्छा होना पर्याप्त है – बुरे

साधनों से मत करो, क्योंकि यदि साधन अशुद्ध है तो अच्छा कर्म भी परिणाम में बुरा बन जायगा। इसलिये कर्म के साधन भी शुद्ध होने चाहिये। (१८)

प्रः *शंकराचार्य कहते हैं कि हम सब मुक्त हैं, बद्ध नहीं, और हम जहाँ से उत्पन्न हुए हैं वहीं अर्थात् ईश्वर में ही अग्नि में चिनगारी की तरह वापस चले जायेंगे। तो हमें सब प्रकार के पाप क्यों नहीं करने चाहिये?*

उः यह सत्य है कि हम सब बद्ध नहीं अर्थात् सच्चे आत्मा को बंधन नहीं होता। यह भी सत्य है कि क्रमशः हम सब मूल में वापस समा जायेंगे। लेकिन तब तक आप जिन्हें पाप कहते हैं, उनको करेंगे, तो ऐसे पापों के परिणाम आपको भुगतने पड़ेंगे। आप उनसे बच नहीं सकते। यदि कोई आपको मारता है, तो क्या आप ऐसा कहेंगे : "मैं मुक्त हूँ, मैं इसकी मार से बद्ध नहीं हूँ और मुझे इससे कोई पीड़ा नहीं होती, भले ही वह मुझे मारना जारी रक्खे"। यदि आप इस प्रकार अनुभव करते हों, तो आप कुछ भी कर सकते हैं। मुख से केवल यह कहने का क्या अर्थ है कि मैं मुक्त हूँ। (१९)

प्रः *कहा जाता है कि संपूर्ण विश्व ईश्वर की चैतन्यशक्ति की लीला है और सब कुछ ब्रह्मरूप है। तो हमें ऐसा क्यों कहा जाता है कि बुरी आदतें और बुरे कर्म छोड़ने चाहिये?*

उः मान लीजिये कि मनुष्य के शरीर में घाव हो गया। ऐसा सोचकर कि यह तो शरीर का छोटा-सा भाग है, यदि उसकी अवगणना की जाय, तो वह पूरे शरीर को पीड़ा से अस्वस्थ करेगा। यदि उसे साधारण चिकित्सा से मिटाया नहीं जा सकता तो अवश्य डॉक्टर को बुलाकर रूग्ण भाग को शल्यचिकित्सा से निकाल देना चाहिये। यदि रोगग्रस्त भाग को काटकर दूर न किया जाय, तो वह सड़कर बढ़ता जायगा। आपरेशन के पश्चात् भी यदि उसपर पट्टी न बाँधी जाय तो मवाद बनना शुरू हो जायगा। आचरण के विषय में भी ऐसा ही है। बुरी आदतें और बुरे कर्म या आचरण शरीर के जख्म जैसे हैं। प्रत्येक रोग की उचित चिकित्सा करनी चाहिये। (२०)

प्रः *तो मनुष्य को परंपरागत आचरण के नियमों का पालन करना चाहिये?*

उः अनुशासन के नियम कुछ सीमा तक सहायक हैं, अतः उनका स्वीकार करना चाहिये। लेकिन यदि वे सत्यप्राप्ति के अभ्यासरूप आत्मानुसंधान में अवरोध बनें, तो उनको अपर्याप्त मानकर तुरंत छोड़ देना चाहिये। (२१)

प्रकरण २१

कर्म, नियति और स्वतंत्र इच्छाशक्ति

पूर्व के कई धर्मों में कर्मसिद्धान्त समान है। अपने प्रसिद्ध स्वरूप में वह कहता है कि कर्म के विश्वव्यापी नियमानुसार सबको अपने कर्मों का परिणाम अवश्य भोगना पड़ता है। कर्ता के लिये अच्छे कर्म सुख तथा बुरे कर्म दुःख में अनिवार्यरूप से परिणत होते हैं। यह सिद्धान्त ऐसा भी कहता है कि कर्मफल का भोग वर्तमान जीवन में ही हो यह आवश्यक नहीं है। उनको भविष्य के जन्मों में भी भोगा जा सकता है। इस कारण कर्म के कई विभाग किये जाते हैं। निम्नलिखित वर्गीकरण का श्री रमण अक्सर उपयोग करते थे और हिन्दु धर्म के कई संप्रदायों में वह समान है :-

१. **संचित कर्म** : पूर्व जन्मों में किये गये कर्मों का ऋणरूप समूह।

२. **प्रारब्ध कर्म** : संचित कर्मों का वह भाग जिसे वर्तमाज जीवन में अवश्य भुगतना पड़ता है। चूँकि कर्मनियम मनुष्य की चेष्टाओं में – क्रियाओं में – अनिवार्यता सूचित करता है, प्रारब्ध को नियति भी कहा जाता है।

३. **आगामी कर्म** : वर्तमान जीवन में किये जा रहे नये कर्म, जिनको भविष्य के जीवन में ले जाया जाता है।

श्री रमण कर्मनियम की प्रामाणिकता का स्वीकार करते थे, लेकिन साथ साथ कहते थे कि यह नियम तब तक अमल में रहता है, जब तक मनुष्य स्वयं को आत्मा से – ईश्वर से – भिन्न मानता है। वे कहते कि अज्ञानदशा में सब जीवों को पूर्व-निर्धारित क्रियाओं एवं अनुभवों की श्रेणी से गुजरना पड़ता है जो पूर्वकर्मों का तथा विचारों का परिणाम होते हैं। वे प्रायः ऐसा भी कहते थे कि व्यक्ति के जीवन की प्रत्येक क्रिया एवं अनुभव उसके जन्म के समय निश्चित हो जाते हैं, और उसे जो स्वतंत्रता प्राप्त है, वह केवल इतनी कि वह अन्तर्मुख होकर अकर्ता-अभोक्ता आत्मा के ज्ञान को प्राप्त करके मुक्त हो जाय। एकबार मनुष्य आत्मा का अनुभव कर ले, तो कर्मफल भोगनेवाला कोई नहीं रहेगा, और इस कारण कर्मनियम का पूरा सिद्धान्त व्यर्थ बन जायगा।

श्री रमण कर्मनियम को ईश्वरेच्छा का प्रकट स्वरूप मानते थे। वे कहते कि आत्मसाक्षात्कार के पूर्व ईश्वर प्रत्येक जीव की नियति का नियंत्रण – संचालन – करता है। यह ईश्वराज्ञा है कि प्रत्येक जीव को अपने कर्मों के फल अवश्य भुगतने हैं, और वही प्रत्येक के जीवन के दौरान किये जानेवाले कर्मों के क्रम का निश्चय करता है। शरीर की क्रियाओं के साथ जब तक तादात्म्य किया जाता है, तब तक कोई भी ईश्वर के अधिकारक्षेत्र से बच नहीं सकता।

प्रः *कहा जाता है कि प्रारब्धकर्म शरीर के अंत तक रहते हैं। क्या कोई शरीर के रहते ही उनके प्रभाव से बच सकता है?*

उः हाँ, कर्म का आश्रयभूत कर्ता – अहंकार – जो आत्मा तथा शरीर के बीच में उत्पन्न हो गया है, वह अपने उद्गमस्थान में लुप्त होकर अपना अलग अस्तित्व मिटा दे, तो उसके आधार पर ही रहनेवाले कर्म कैसे रह सकते हैं? (१)

प्रः *कहा जाता है कि प्रारब्धकर्म पूर्वजन्मों में इकट्ठे किये गये संचितकर्मों का छोटा-सा भाग है। क्या यह सच है?*

उः मनुष्य ने अपने पूर्वजन्मों में कई कर्म किये हो सकते हैं। इनमें से कुछ कर्मों को इस जीवन के लिये चुना जाता है, जिनका फल उसे वर्तमान जन्म में भुगतना पड़ता है। यह प्रक्रिया स्लाइड शो जैसी है, जिसमें प्रक्षेपण करनेवाला कुछ स्लाइडों का एक प्रदर्शन के लिये चयन करता है, और शेष को दूसरे प्रदर्शन के लिये सुरक्षित रखता है। ये सारे संचित कर्म आत्मज्ञान से नष्ट किये जा सकते हैं। विभिन्न कर्म स्लाइडें हैं, क्योंकि ये कर्म भूतकाल के अनुभवों का परिणाम है, और मन प्रक्षेपकयंत्र है, जिसका नाश कर देने पर आगे के प्रतिबिम्ब नहीं पड़ेंगे अर्थात् आगामी जन्म-मरण नहीं होंगे। (२)

प्रः *प्रक्षेपण करनेवाला कौन है? किस व्यवस्था के अनुसार वह संचित कर्मों का छोटा-सा भाग पसंद करता है, और निश्चित करता है कि इन प्रारब्धकर्मों का फल भोगना पड़ेगा।*

उः वैयक्तिक जीवों को अपने कर्म भोगने पड़ते हैं, लेकिन ईश्वर इस हेतु का श्रेष्ठ तरीके से पूरे होने की व्यवस्था करता है, वह उनमें कुछ जोड़ता या कम नहीं करता। मनुष्य के चित्त का अर्धचेतन भाग अच्छे बुरे कर्मों का भंडार या संग्रहस्थान है। इस भंडार में से ईश्वर तत्काल के लिये प्रत्येक जीव का आध्यात्मिक विकास संपादित हो सके ऐसे श्रेष्ठ तरीके से कुछ कर्मों को पसंद करता है, चाहे वे सुखद हों या दुःखद। इस प्रकार यहाँ मनस्विता का कोई स्थान नहीं है। (३)

प्र: *"उपदेशसार" में आपने कहा है कि कर्ता की आज्ञा से कर्म आपना फल देते हैं। क्या इसका यह अर्थ है कि हमें कर्मफल सिर्फ इस लिये भुगतना पड़ता है कि ऐसी ईश्वर की इच्छा है?*

उ: इस श्लोक में कर्ता का अर्थ ईश्वर है। वह प्रत्येक जीव को उसके कर्मानुसार फल देता है। इसका यह अर्थ है कि वह व्यक्त ब्रह्म है। सच्चा ब्रह्म अव्यक्त एवं निष्पन्द है। व्यक्त ब्रह्म ही ईश्वर कहा जाता है। वह प्रत्येक को उसके कर्म के अनुसार फल देता है, इसका ऐसा अर्थ है कि ईश्वर केवल मध्यस्थ है, जो श्रम के अनुसार पारिश्रमिक देता है, बस इतना ही। ईश्वर की शक्ति के सिवा कर्म हो ही नहीं सकता, इस कारण कर्म को जड़ कहा गया है। [४]

प्र: *वर्तमान अनुभव अतीत कर्मों का फल है। यदि हम पहले की हुई गलती जान सकें तो उसे सुधार सकते हैं।*

उ: यदि एक गलती को सुधारा जाय, तो भी पूर्व जन्मों के असंख्य संचित कर्म शेष रहते हैं, जो आपको अनेक जन्म दे सकते हैं। इसलिये यह पद्धति ठीक नहीं है। आप जितना ही किसी पौधे की अनिच्छित शाखाओं को काटते जायेंगे, उतना ही वह अधिक शक्ति से बढ़ता चला जायगा। आप आपके कर्मों में जितना ही सुधार करें, वे अधिकाधिक संचित होते जाते हैं। कर्मों के मूल को ढूँढकर उसे काट दीजिये। [५]

प्र: *क्या कर्मसिद्धान्त का ऐसा अर्थ है कि विश्व क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है? यदि ऐसा है तो यह क्रिया-प्रतिक्रिया किसकी है?*

उ: साक्षात्कार होने तक कर्म अर्थात् क्रिया-प्रतिक्रिया रहते हैं। आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् न कर्म रहेगा न विश्व। [६]

प्र: *यदि मैं शरीर नहीं हूँ तो मैं अपने भले-बुरे कर्मों के लिये जिम्मेवार क्यों हूँ?*

उ: यदि आप शरीर नहीं हैं और आपको "मैं कर्ता नहीं हूँ" ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाय, तो आपके अच्छे बुरे कर्मों का असर आपपर नहीं पड़ेगा। शरीर जिन कर्मों को करता है, उनको आप "मैं यह करता हूँ, मैंने वह किया", ऐसा क्यों सोचते और कहते हैं? जब तक आप इस प्रकार अपने आपका शरीर से तादात्म्य करते हैं, तब तक आपपर आपके कर्मों का प्रभाव पड़ता है, अर्थात् जब तक आप आपको शरीर के साथ एकरूप मानते हैं, तब तक आप अच्छे बुरे कर्मों का संचय करते रहते हैं।

प्र: *लेकिन चूँकि मैं शरीर नहीं हूँ, वस्तुत: मैं अच्छे बुरे कर्मों के परिणामों के लिये जिम्मेवार नहीं हूँ।*

उ: यदि आप जिम्मेवार नहीं हैं, तो इसकी चिन्ता क्यों करते हैं? [७]

प्र: *कुछ ग्रंथों में कहा गया है कि मनुष्य का पुरुषार्थ सारे सामर्थ्यों का उत्पत्तिस्थान है, और इससे वह कर्म से पर हो सकता है। अन्य ग्रंथों में लिखा है कि यह सब ईश्वर के अनुग्रह पर निर्भर है। इस प्रकार यह स्पष्ट नहीं है कि इसमें सत्य क्या है।*

उ: हाँ, तत्त्वचिन्तन की कुछ प्रणालियाँ ऐसा कहती हैं कि पूर्वजन्मों के कर्मों से स्वतंत्र कोई ईश्वर नहीं है। वर्तमान में शास्त्र के अनुसार किये गये कर्म पुरुषार्थ कहे जाते हैं। पूर्व के और वर्तमान के इन कर्मों में दो भेड़ियों की तरह युद्ध होता है, और जो कमजोर होता है, वह नष्ट हो जाता है। इसलिये मनुष्य को प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिये, ऐसा ये लोग कहते हैं। यदि आप इनसे पूछें कि कर्म का मूल क्या है? तो वे कहेंगे कि ऐसा प्रश्न नहीं पूछना चाहिये, क्योंकि वह बीज और अंकुर की प्रथमता के प्रश्न की तरह असमाधेय, सनातन प्रश्न है।

इस प्रकार की चर्चाएँ केवल तर्क हैं, जो कभी भी अंतिम सत्य तक नहीं पहुँच सकते। इसलिये मैं कहता हूँ कि पहले ढूँढ निकालिये कि आप कौन हैं? यदि मनुष्य पूछे : "मैं कौन हूँ, तथा यह 'संसारदोष' मुझे कैसे प्राप्त हुआ?" तो "मैं" लुप्त होगा और उसकी जगह आत्मा प्रकट होगा। यदि मनुष्य यह आत्मानुसंधान योग्य पद्धति से करता है, तो "संसारदोष" निवृत्त होगा और शान्ति प्राप्त होगी। प्राप्त होगी कहना भी ठीक नहीं है, आत्मा जैसा है वैसा ही रहता है। (८)

"कर्ता, जो कर्म का आरंभ करता है, वह 'मैं' कौन हूँ", इस प्रकार अन्वेषण करके अपने आप का सत्य जाने यह कर्म का तत्त्व है। जब तक कर्म करनेवाले अहंकार को आत्मानुसंधान द्वारा नष्ट नहीं किया जाता, परम आनंद की पूर्ण शान्ति, जो कर्मयोग का फल है, प्राप्त नहीं हो सकती। (६)

प्र: *लोग अपने बुरे कर्मों के फल को जप, तप इत्यादि से नष्ट कर सकते हैं, या उन्हें उनका परिणाम अवश्य भुगतना पड़ेगा?*

उ: यदि "मैं जप करता हूँ" ऐसा भाव न हो तो उसके बुरे कर्मों का लेप उसे नहीं होगा। यदि "मैं जप करता हूँ" ऐसा ख्याल मौजूद हो, तो बुरे कर्मों का परिणाम भी रहेगा।

प्र: *क्या पुण्य पाप को नष्ट नहीं करता?*

उ: जब तक "मैं कर्ता हूँ" ऐसा भाव रहता है, तब तक मनुष्य को अपने कर्मों का परिणाम अवश्य भुगतना पड़ता है, चाहे वे अच्छे हों या बुरे। एक कर्म को दूसरा कर्म कैसे काट सकता है? जब "मैं कर्ता हूँ" ऐसा ख्याल नष्ट होता है, तब मनुष्य को कुछ भी प्रभावित नहीं करता। लेकिन मनुष्य जब तक आत्मसाक्षात्कार नहीं कर लेता, "मैं कर्ता हूँ" ऐसा विचार कभी भी नष्ट नहीं हो सकता। और जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, उसे जप की या तप की क्या आवश्यकता है? प्रारब्धबल से जीवन चलता रहता है, लेकिन आत्मज्ञानी किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता।

प्रारब्ध कर्म तीन प्रकार का है : इच्छा, अनिच्छा, और परेच्छा। आत्मज्ञानी के लिये इच्छाप्रारब्ध नहीं है, लेंकिन शेष दो अनिच्छा और परेच्छा रहते हैं। ज्ञानी सब कुछ सिर्फ दूसरों के लिये करता है। यदि उसे दूसरों के हित के लिये कुछ कार्य करने होते हैं, तो वह करता है, परंतु इनके भी परिणामों से अस्पृष्ट रहता है। ज्ञानी पुरुष से जो भी कर्म होते हैं,

इनसे उसे पुण्य या पाप लगता नहीं। लेकिन वे दुनिया में जिन्हें सबके द्वारा स्वीकृत योग्य कर्म माने जाते हैं, उन्हीं को करते हैं, दूसरा कुछ नहीं करते। (१०)

जो लोग इस सत्य को जानते हैं कि इस जीवन में उन्हें जो सुख या दुःख अनुभव करना है, वह उनके प्रारब्ध के अनुसार पूर्वनिश्चित ही है, वे उन्हें क्या अनुभव करना पड़ेगा इस प्रकार की चिन्ता से व्यथित या भयभीत नहीं होते। जानना चाहिये कि मनुष्य को जो भी अनुभव करना है, वह उसे चाहे या न चाहे, उसपर अवश्य लादा जायगा। (११)

प्र: *ज्ञानी के लिये अब कोई कर्म नहीं है, अर्थात् वह अपने कर्मों से बँधा हुआ नहीं है, फिर वह क्यों अपने शरीर में रहता है?*

उ: कौन यह प्रश्न पूछता है, ज्ञानी या अज्ञानी? ज्ञानी क्या करता है, और क्यों करता है, इसकी चिन्ता आप क्यों करते हैं? स्वयं को सम्हालिये, अपनी तलाश कीजिये। इस समय आप मानते हैं कि आप एक शरीर हैं, इस कारण सोचते हैं कि ज्ञानी को भी शरीर है। क्या ज्ञानी ऐसा कहता है कि उसका एक शरीर है? आपको वह शरीरवाला दिख सकता है, एवं उस शरीर से दूसरों की तरह कर्म करता हुआ भी दिख सकता है, लेकिन वह स्वयं जानता है कि वह अशरीर है। जली हुई रस्सी, रस्सी जैसी दिखती है, लेकिन वह किसी चीज को बाँधने का काम नहीं कर सकती। ज्ञानी की स्थिति इस प्रकार की है। वह अन्य मनुष्यों जैसा दिखता है, लेकिन वह केवल बाहरी दिखावा है। जब तक मनुष्य अपने आपका शरीर से तादात्म्य करता है, ये बातें समझना मुश्किल है। इस कारण ऐसे प्रश्नों के उत्तर में कभी कभी कहा जाता है कि ज्ञानी का शरीर प्रारब्धवेग के रहने तक रहता है, और प्रारब्धक्षय होने पर नष्ट हो जाता है। इसके लिये धनुष से छूटे बाण का उदाहरण दिया जाता है, जो लक्ष्यभेद होने तक गति में रहता है। लेकिन सत्य यह है कि ज्ञानी प्रारब्धसहित सब कर्मों से पर है; वह शरीर एवं उसके कर्मों से बँधा नहीं है। (१२)

उन महात्माओं के लिये प्रारब्ध का अणुमात्र भी शेष नहीं रहता, जो निरंतर अहमस्मि रूप से प्रकाशित हो रहे, एवं विशाल भौतिक आकाश से भी पर, अतएव सर्वव्यापक और अनंत चिदाकाश में सावधान होकर निवास करते हैं। "स्वर्ग का अनुभव प्राप्त करनेवाले यतियों के लिये नियति का अस्तित्व नहीं हैं", इस प्राचीन उक्ति का यही अर्थ है। (१३)

प्र: *किसी योजना अथवा प्रयत्न के बिना ही कोई चीज मुझे मिले, तो उसका उपभोग करने से बुरे परिणाम का सामना तो नहीं करना पड़ेगा?*

उ: ऐसा नहीं है। प्रत्येक कर्म का परिणाम अवश्य होता है। यदि कोई वस्तु प्रारब्धवशात् आपको मिले तो आप असहाय हैं। यदि आप इस प्रकार आई हुई चीज का पूर्ण अनासक्त भाव से, और यह पुनः मुझे मिले या अधिक मिले ऐसी इच्छा किये बिना स्वीकार करें, तो वह पुनर्जन्म देकर आपका नुकसान नहीं करेगी। इसके विरुद्ध, यदि आप बड़ी आसक्ति से उसका उपभोग करें और स्वाभाविक रूप से अधिक की इच्छा रक्खें, तो वह निश्चित रूप से आपके अधिक जन्मों का कारण बनेगी। (१४)

प्र: *ज्योतिष शास्त्रानुसार ग्रहों के प्रभाव को ध्यान में रखकर आगामी घटनाओं के बारे में भविष्यकथन किया जाता है, क्या वह सत्य होता है?*

उ: जब तक आपमें अहंभाव विद्यमान होता है, वह सब सत्य है। अहंकार नष्ट होने पर असत्य है।

प्र: *क्या इसका मतलब यह है कि निरहंकार महात्माओं के लिये ज्योतिषशास्त्र असत्य है?*

उ: कौन शेष रहता है जो कहे कि वह सत्य नहीं है? दर्शन तभी होता है जब द्रष्टा हो। निरहंकार पुरुष देखते हुए दिखें तब भी वस्तुत: देखते नहीं होते। (१५)

नियति पूर्वकर्मों का परिणाम है, और उसका संबंध शरीर से है। शरीर अपनी अनुकूलता के अनुसार कर्म करे, उससे आपका क्या संबंध है? आप उस तरफ ध्यान क्यों देते हैं? यदि कोई घटना घटती है तो वह मनुष्य के पूर्वकर्मों का, ईश्वरेच्छा का एवं अन्य कारणों का परिणाम है। (१६)

प्र: *वर्तमान पूर्वकर्म का परिणाम माना जाता है। क्या हम वर्तमान में अपनी स्वतंत्र इच्छाशक्ति से पूर्वकर्म से पर हो सकते हैं?*

उ: देखिये कि वर्तमान क्या है। यदि आप ऐसा करेंगे तो आपको मालूम होगा कि वर्तमान से क्या प्रभावित होता है तथा भूत एवं भविष्य किसके लिये हैं। साथ साथ आप यह भी जान लेंगे कि नित्यविद्यमान तथा नित्यमुक्त, तथा भूत-भविष्य से एवं पूर्वकर्म के प्रभाव से अस्पृष्ट क्या है। (१७)

प्र: *क्या स्वतंत्र इच्छाशक्ति का अस्तित्व है?*

उ: वह किसकी है? जब तक कर्तृत्वबुद्धि हे, तब तक भोग तथा वैयक्तिक इच्छाशक्ति का ख्याल रहता है। लेकिन यदि विचार के अभ्यास से कर्तृत्वबुद्धि नष्ट हो जाय, तब ईश्वरेच्छा कार्य करती है, और घटनाक्रम का नियंत्रण करती है। आत्मज्ञान से नियति जीत ली जाती है। ज्ञान नियति एवं स्वतंत्र इच्छाशक्ति से पर है। (१८)

प्र: *मैं समझ सकता हूँ कि मनुष्य के जीवन के जन्म, देश, राष्ट्रियता, परिवार, व्यवसाय, विवाह, मृत्यु इत्यादि प्रमुख घटनाएँ उसके पूर्वकर्म से निर्धारित होती हैं। लेकिन क्या जीवन की छोटी छोटी बातें भी नियति से निर्धारित होती हैं? उदाहरण के लिये मैं मेरे हाथ में रहे हुए इस पंखे को जमीन पर रखता हूँ। क्या ऐसा हो सकता है कि इस विशेष दिवस पर, इस विशेष समय में, इस पंखे को, इस तरह जमीन पर रक्खूँगा, इत्यादि बातें भी पूर्वनिर्धारित थीं?*

उ: निश्चित रूप से। शरीर जो भी करता है, जो भी अनुभव उसे होते हैं, वह सब उसके अस्तित्व में आने के समय ही निश्चित हो गया होता है।

प्र: *तो मनुष्य की स्वतंत्रता एवं उसके कर्मों की जिम्मेवारी का क्या होता है?*

उ: मनुष्य को सिर्फ एक स्वतंत्रता प्राप्त है कि वह अन्तर्मुख बनकर आत्मज्ञान प्राप्त

करे, जो उसे अपने आपको शरीर से एकरूप न समझने के लिये समर्थ बनायेगा। प्रारब्ध से निर्धारित कर्म शरीर करेगा, लेकिन मनुष्य अपने आपका शरीर से तादात्म्य करके उसके कर्मफल में आसक्त होकर बद्ध होने के लिये अथवा अनासक्त रहकर – शरीर के कर्मों का साक्षीमात्र रहकर – स्वयं को मुक्त अनुभव करने के लिये स्वतंत्र है। [१९]

प्र: *तो स्वतंत्र इच्छाशक्ति केवल कल्पना है?*

उ: स्वतंत्र इच्छाशक्ति का क्षेत्र व्यक्तित्व तक सीमित है। जब तक व्यक्तित्व मौजूद है, स्वतंत्र इच्छा भी रहेगी। सब धर्मग्रंथ इस तथ्य पर आधारित हैं, और वे स्वतंत्र इच्छाशक्ति को सही दिशा में मोड़ने की सलाह देते हैं। तलाश कीजिये कि स्वतंत्र इच्छाशक्ति तथा नियति किसके लिये हैं। अन्वेषण कीजिये कि वे कहाँ से पैदा होती हैं, और उनके मूल उद्गमस्थान को प्राप्त करके वहीं रहिये। यदि आप इतना करें, तो आप उन दोनों से पर हो जायेंगे। [२०]

इन प्रश्नों की चर्चा का केवल यही हेतु है। ये प्रश्न किसे होते हैं? तलाश कीजिये और शान्ति में रहिये।

प्र: *यदि नियति द्वारा निर्धारित घटनाएँ अवश्य होनेवाली हों, तो प्रार्थना और साधनारूप प्रयत्न का कोई स्थान है या हमें आलसी बनकर बैठे रहना चाहिये?*

उ: नियति पर विजय प्राप्त करके उससे स्वतंत्र होने के केवल दो मार्ग हैं : एक, नियति किसके लिये है इसका अन्वेषण करके जानना चाहिये कि उससे सिर्फ अहंकार बँधा हुआ है, आत्मा नहीं, और अहंकार का अस्तित्व नहीं है। दो, ईश्वर के समक्ष पूर्ण आत्मसमर्पण द्वारा अहंकार का नाश कीजिये और स्वयं को असहाय जानकर निरंतर कहते रहिये : "हे नाथ, मैं नहीं, तू ही है", और इस तरह "मैं" तथा "मेरा" का ख्याल छोड़कर, ईश्वर जो भी उसे ठीक लगे वह आपके साथ करे, उसे फरियाद किये बिना स्वीकार कीजिये। भक्त ईश्वर से यह या वह माँगता रहे तो यह पूर्ण शरणागति नहीं मानी जाती है। सच्चा आत्मसमर्पण ईश्वर के प्रति सिर्फ ईश्वर के लिये प्रेम है, मोक्ष के लिये भी नहीं। दूसरे शब्दों में अहंकार का संपूर्ण उन्मूलन ही नियति को जीतने के लिये आवश्यक हैं, यह उन्मूलन चाहे आप आत्मानुसंधान से करें, चाहे भक्तिमार्ग से करें। [२१]

ॐ श्रीरमणार्पणमस्तु